यूरोप का इतिहास

यूरोप का इतिहास

पुनर्जागरण से क्रान्ति तक

डा० लालबहादुर वर्मा
प्रवक्ता : इतिहास विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय

मैकमिलन

दो शब्द

इतिहास क्या है ? इसे हम क्यों पढ़ते-पढ़ाते हैं ? उसकी क्या उपयोगिता है ? वर्तमान का इतिहास क्रम में क्या स्थान है ? इन प्रश्नों पर विचार करना, न केवल इतिहास के विद्यार्थी, बल्कि सभी चिंतनशील व्यक्तियों के लिए अनिवार्य है । इन प्रश्नों का सही उत्तर ढूंढ़ लेना न आवश्यक है, न सम्भव । पर कम से कम इतिहास के विद्यार्थी के मन में यह प्रश्न उठे, यह आवश्यक है, नहीं तो इतिहास पढ़ने का कोई मतलब नहीं ।

बराबर अपने को और औरों को भी सर पकड़ते देखा है कि शिक्षा का स्तर गिर रहा है । विद्यार्थी कुछ समझते नहीं—हिन्दी में पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं, आदि । पर विद्यार्थी, शिक्षक और शिक्षा-प्रणाली, समाज और युग-धारा से अलग-थलग तो नहीं हैं । वह तो तैयारी कर रहा है जीवन को समझने की, जिम्मेदारियां झेलने की । उसे शिक्षक कहां तक तैयार करता है ? शिक्षक अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह कहाँ तक कर रहा है ? इतिहास का शिक्षक यह मानने को तैयार नहीं कि इतिहास में केवल गड़े मुर्दे उखाड़े जाते हैं और फिर भी आज की ज्यादातर इतिहास पुस्तकें किसी कब्रगाह की सैर के लिए प्रस्तुत गाइड से अधिक नहीं प्रतीत होतीं । केवल नाम और तिथियां और सारे नामों और तिथियों को जोड़ते प्रशस्ति या निन्दा के कुछ शब्द ।

विशेषकर यूरोप का इतिहास पढ़ाना और समझाना -- जब कि यूरोप का साधारण भौगोलिक ज्ञान तक न हो- एक दुष्कर कार्य है । फिर हम उसे पढ़ाएँ ही क्यों ? इसलिए कि वह अनिवार्य है । आज सामाजिक और राज-नैतिक जीवन में जो कुछ हो रहा है, आज की जो विचारधाराएँ हैं, आज का मनुष्य दुनिया में कहीं भी जो कुछ जीने-जानने की कोशिश कर रहा है, उसे पंद्रहवीं शताब्दी के बाद का यूरोप कहीं न कहीं जरूर छूता है । भारत का विद्यार्थी अपने इतिहास को भी भली प्रकार तब तक नहीं समझ सकता जब तक उसे यूरोप के इतिहास का ज्ञान न हो ।

यूरोप के इतिहास पर एक मौलिक पुस्तक लिखने की अभी हममें क्षमता नहीं पर एक अच्छी पाठ्य पुस्तक लिखने का साहस हमने किया है। आधुनिक यूरोप का प्रारम्भ अर्थात् यूरोप का पुनर्जागरण मानव मात्र के लिए एक नये युग का आरम्भ था। जैसे घर में सबसे पहले जगा हुआ व्यक्ति, घर के अन्य व्यक्तियों के जागने का इन्तजार करता है या सबको जगाता है, क्योंकि जब तक सब जाग न जाएँ घर की दिनचर्या नहीं शुरू होती, वैसे ही जब तक मानव मात्र न जाग जाए नये युग का क्रम अधूरा है। इसीलिए दुनिया में हर जगह हर व्यक्ति को, विशेषकर इतिहास के विद्यार्थी के लिए, आधुनिक यूरोप के उन प्रारम्भिक तीन शताब्दियों का इतिहास जानना ही चाहिए जब मध्य युग के अन्त में मानव ने करवट ली थी और जागकर नये युग के निर्माण का, अपने को समाज में नई प्रतिष्ठा दिलाने का, कार्य शुरू किया था।

परीक्षा की दृष्टि से विद्यार्थी प्रश्नों के उत्तर पा जायें और इतिहास में उसकी रुचि बढ़े, इतिहास को वह सहज भाव से स्वीकारे, न कि एक बोझ ढोए · यही एक उपयोगी पाठ्य पुस्तक का लक्ष्य होना· चाहिए। नाम और तिथियों या ज्यादा से ज्यादा घटनाओं तक ही हम सीमित न रह जायें, उनका महत्त्व, उनका अर्थ समझें यही हमारा प्रयत्न रहेगा। हम पाठ्य पुस्तक लिखने को एक शोध-ग्रन्थ लिखने से कम महत्त्वपूर्ण और कठिन कार्य नहीं समझते। इसलिए इस प्रयत्न में पूरी सफलता मिलेगी, ऐसा दुस्साहस हम नहीं करते। पर हिन्दी में रोचक और विश्लेषणात्मक ढंग से पाठ्य पुस्तक लिखने की चेष्टा की गई है। प्रयत्न की सफलता केवल इस बात पर निर्भर नहीं होगी कि पुस्तक खूब बिके बल्कि इस पर भी कि यह इतिहास के विद्यार्थियों और पाठकों को झकझोरे, प्रश्न करने और सोचने पर मजबूर करे।

—लालबहादुर वर्मा

गोरखपुर विश्वविद्यालय,

गोरखपुर

विषयानुक्रम

पहला अध्याय
यूरोप : आधुनिकता के दरवाजे पर 1
दूसरा अध्याय
पुनर्जागरण 7
तीसरा अध्याय
धार्मिक उथल-पुथल 20
चौथा अध्याय
तीस वर्षीय युद्ध : धार्मिक कलह का अन्त 42
पाँचवाँ अध्याय
स्पेन का उत्थान और पतन 56
छठा अध्याय
फ्रांस का उत्कर्ष 82
सातवाँ अध्याय
सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड और स्वीडन 128
आठवाँ अध्याय
प्रबुद्ध निरंकुशता 145
नवाँ अध्याय
रूस का उत्कर्ष 165
दसवाँ अध्याय
फ्रांस क्रान्ति के कगार पर 181

पहला अध्याय

यूरोप : आधुनिकता के दरवाजे पर

आधुनिक काल का प्रारम्भ पुनर्जागरण से मानने का आधार इतिहास के अध्ययन की सुविधामात्र है। इतिहास को प्राचीन, मध्ययुग और आधुनिक काल में बाँटने के लिए किसी तिथि को सीमा बनाना बड़ा त्रुटिपूर्ण है। इतिहास-क्रम में किसी एक घटना का बहुत बड़ा महत्त्व नहीं होता। काल की दृष्टि से विभिन्न देश एक निश्चित समय में उन्नति के विभिन्न स्तरों पर पाए जाते हैं। इसी तरह एक ही देश में विभिन्न वर्गों का अलग-अलग ढंग से अलग-अलग विकास होता है। इसीलिए किसी एक वर्ग की स्थिति या किसी एक क्षेत्र की उपलब्धियों को आधार मानकर साधारणीकरण किया जाय तो सही नतीजे नहीं निकल सकते।

कुछ उदाहरणों से बात स्पष्ट हो सकती है। आज हम आधुनिक युग में रह रहे हैं। लेकिन सबसे उन्नत देश अमेरिका के मुकाबले में अफ्रीका के उपनिवेश अंगोला और मोजाम्बिक रखे जा सकते हैं क्या? एक ही देश को लें तो अमेरिका का रेड इण्डियन न्यूयार्क के लोगों के मुकाबले में कहाँ टिकेगा? भारत को ही लें तो दिल्ली वालों और बस्तर के आदिवासियों को एक साथ कैसे रखा जा सकेगा? इतिहास पर नजर डालें तब भी यही समस्या उठ खड़ी होगी। जिस समय सिन्धु घाटी की सभ्यता उन्नति के शिखर पर थी, बाद के आर्य विजेता खानाबदोश जिंदगी बिताते थे। जिस समय यूनान में सुकरात और अफलातून की दुन्दुभि बज रही थी यूरोप के अधिकांश क्षेत्रों के लोग सभ्यता की न्यूनतम शर्तों को भी पूरा नहीं करते थे। यूनान और रोम की सभ्यताओं का अन्त करने वाले लोग बर्बर कहे जाते हैं। ऐसे में आधुनिकता को काल-क्रम से जोड़ना कहाँ तक उपयुक्त होगा?

अधिकांशत: हर देश और काल में प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक स्थितियाँ एक साथ विद्यमान रहती हैं। जैसे बस्तर के गाँव, गंगा-जमुना के मैदान के गाँव और नई दिल्ली के मुहल्ले तीन युगों का प्रतिनिधित्व करते

हैं। ये तीन स्थितियाँ दिल्ली में ही एक साथ मिल सकती हैं। यह यदि सच है तो इतिहास का कालानुसार विभाजन एकदम दोषपूर्ण है। इतिहास के क्रम को यदि समझना ही है तो सारी मानवता के संदर्भ में हमें विकास-क्रम को समझना पड़ेगा कि कैसे भौतिक जगत् में उपकरणों और उत्पादन के विकास के साथ-साथ समाज में अन्तर्निहित संघर्षों के सहारे मनुष्य निरन्तर प्रगति करता रहा है। इस प्रगति का स्वरूप सार्वभौमिक और सर्वव्यापी नहीं रहा है इसलिए एकसाथ ही प्रगति के भिन्न चरण दिखाई पड़ जाते हैं। लेकिन इस दृष्टि से यूरोप का अध्ययन करने पर निर्धारित पाठ्यक्रम से बंधे हुए विद्यार्थी के साथ न्याय नहीं हो सकेगा। इसलिए सावधानीपूर्वक दोषपूर्ण विभाजन के सहारे ही हमें यूरोप का अध्ययन करना पड़ेगा।

पुनर्जागरण के बाद आधुनिक काल के प्रारम्भ होने की बात से यह स्पष्ट होता है कि उसके पहले यूरोप अन्धकार में था—उसकी शक्तियाँ सो गई थीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में कई कारणों से यूरोप जागा और चूँकि पहले भी यूनान और रोम की सभ्यता के समय यूरोप को जागा हुआ मानते हैं, अतः इस जागरण को पुनर्जागरण कहा गया। यह सर्वथा सत्य नहीं है। लेकिन इसके लिए हमें पुनर्जागरण के पहले के यूरोप का संक्षेप में सर्वेक्षण करना होगा। इससे न केवल भ्रामक स्थापनाओं का अन्त होगा, स्वयं पुनर्जागरण और आधुनिक काल को समझने में आसानी होगी।

प्राचीन काल के यूरोप की जब याद की जाती है तो जो बातें उभर कर सामने आती हैं, वे हैं यूनान की विविध उपलब्धियाँ—सुकरात और सिकन्दर के नामों के सहारे; जूलियस सीजर, क्लियोपैट्रा, सिसरो और नीरो का रोम जिसने सारे दक्षिणी यूरोप, उत्तरी अफ्रीका और मध्यपूर्व पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। और अन्त में जेरूसलम में जन्मे ईसाई धर्म का यूरोप में पहुँच कर स्थायी और व्यापक हो जाना। इसके बाद बर्बर जातियों के हमले हुए और यूरोप पर अन्धकार छा गया। केवल नगरों और राज्यों का ही नहीं चेतना का भी ह्रास हुआ। पाँचवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक के काल को यूरोप का मध्ययुग मानते हैं। वास्तविकता यह है कि इस समय भी अजेय मानव-शक्ति निरन्तर कार्यरत रही।

अपनी सादगी, मानव-सेवा और लगन के साथ ईसा मसीह के शिष्य सन्त पीटर ने जिस चर्च की स्थापना की थी, वह रोमन सम्राट के अनुयायी हो जाने के कारण सारे यूरोप में मान्य हो गया। चर्च का एक अत्यन्त जटिल लेकिन कारगर संगठन बना और यूरोप ईसा का राज्य (Christendom) कहलाने लगा। इस धार्मिक साम्राज्य की, जो राजनैतिक रूप से बहुत से राज्यों में बँटा हुआ था, राजधानी रोम थी जहाँ सन्तों के सन्त पीटर का

उत्तराधिकारी सारे चर्च के एकछत्र शासक के रूप में रहता था। ईसाई धर्म एकदम एकान्तिक हो चला था और सारे दरवाजे बन्द किये जा चुके थे। पोप के बाद कार्डिनल, आर्च बिशप, बिशप और ऐसे ही अनेक अधिकारी गाँव-गाँव फैले हुए थे। व्यक्ति पैदा होते ही चर्च की शरण में चला जाता था जहाँ से मृत्यु के बाद भी मुक्त नहीं होता था, क्योंकि जीता था चर्च निर्धारित संस्कारों में बंध कर और मुक्ति पा सकता था चर्च निर्धारित सत्कर्मों के सहारे। पोप के मरने के बाद कार्डिनल लोग अपने में से ही एक को पोप चुन लेते थे और जीवन भर उसे धरती पर 'ईश्वर की छाया' कहते थे। इसलिए वह निर्विकार और अन्तिम निर्णायक के रूप में प्रतिष्ठित था। पोप की शक्ति अपार थी। धर्म ही नहीं राजनीति में भी उसकी इच्छा के विरुद्ध सम्राट् तक नहीं जा सकते थे। जाने पर अन्त में उन्हें घुटने टेकने पड़ते थे। पद और सत्ता बढ़ने के साथ ही चर्च में बुराइयाँ घुसने लगीं। सारा तन्त्र भ्रष्ट हो गया। वैचारिक स्वतन्त्रता और संवाद के अभाव में मान्य बातों से अलग बात कहने वाले को मौत तक की सजा दे दी जाती थी। पूर्वी यूरोप में इसी चर्च का एक थोड़ा सा बदला हुआ रूप Greek Orthodox Church के रूप में जाना जाता था। इसका केन्द्र कुस्तुन-तुनिया था।

ऐसा होने पर भी मठों में अनेक सन्त व्यक्तिगत रूप से मानवता को समर्पित होकर सेवारत थे या फिर मनन अध्ययन में लगे रहते थे। यह सच है कि अधिकतर पादरी और भिक्षु यथार्थ से कटकर अपनी ही दुनिया में खोये रहते थे लेकिन उनका चिन्तन ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

राजनैतिक दृष्टि से रोमन साम्राज्य की याद में एक पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) की स्थापना हुई थी। शार्लमन द्वारा स्थापित यह साम्राज्य सारे मध्य यूरोप विशेषकर जर्मनभाषी क्षेत्र पर व्याप्त था। धीरे-धीरे इसका भी पतन हो रहा था। फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक वोल्तेयर ने इस पर व्यंग्य किया था : यह न पवित्र है, न रोमन, न साम्राज्य (Neither Holy, nor Roman, nor Empire) जो सर्वथा सच था।

होली रोमन साम्राज्य के अलावा पश्चिम में अन्य राज्य भी विकसित हो रहे थे। अभी राष्ट्र का स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ था, फिर भी एक विचारधारा, जिसका बाद में इटली में प्रख्यात लेखक मेकियावेली ने अपनी पुस्तक 'The Prince' में विश्लेषण किया, पनप रही थी कि शासक में एक क्षेत्र विशेष के लोग अपनी सारी आकांक्षाओं को प्रतिष्ठित कर दें। इस भावना से ही राष्ट्रीय शासक का जन्म हुआ। इंग्लैण्ड में दो परिवारों के युद्ध (War of Roses) के बाद ट्यूडर वंश की स्थापना हुई थी। उस

समय स्कॉटलैण्ड और इंग्लैण्ड अलग-अलग राज्य थे। स्कॉटलैण्ड की अपनी भाषा थी और वहाँ स्टूअर्ट वंश का राज्य था। इंग्लिश चैनेल, भूमध्यसागर पिरेनीज, आल्प्स पर्वत और राइन नदी से घिरे भूभाग के अधिकांश पर फ्रांस का कब्जा था, जहाँ 'कापे' वंश का राज्य था। पिरेनीज के दक्षिण में पुर्तगाल का राज्य था जिसे उसके नाविक शासक (Henry, The Navigator) के कारण ख्याति मिल रही थी। उस समय के अधिकांश नाविक यात्रियों को हेनरी ने प्रेरणा और सहायता दी थी। पुर्तगाल के पूर्व में दो राज्य थे कास्तील और अरागान। यहाँ के शासकों, इसाबेल और फर्डिनेण्ड का विवाह हो जाने पर दोनों के मिल जाने से शक्तिशाली राज्य स्पेन का जन्म हुआ। उत्तर में स्केण्डेनेविया प्रायद्वीप में नार्वे, स्वीडन और डेनमार्क के राज्य थे जो यूरोपीय परम्पराओं से जुड़े होने पर भी कुछ अर्थों में अलग थलग थे। उत्तर पूर्व में मस्कोवी की रियासत को केन्द्र बनाकर रूस के महान राज्य की नींव रखी जा रही थी। पूर्वी यूरोप में बाइजेण्टाइन साम्राज्य था जो पूरब के कई साम्राज्यों का हर तरह से उत्तराधिकारी था। इसीलिए उसकी राजधानी कुस्तुनतुनिया यूरोप के किसी भी नगर से अधिक महत्त्वपूर्ण और सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न थी। दक्षिण-पूर्व में तुर्कों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। वे साम्राज्य की राजधानी वियेना तक पर घेरा डालने में समर्थ हो गए थे। अन्त में 1453 में अन्तिम गढ़ कुस्तुनतुनिया का भी पतन हो गया और इतिहास का एक नया दौर शुरू हो गया।

राज्य तो इतने थे लेकिन वास्तविक सत्ता सामन्तों के हाथ में होती थी। राजाओं के पास प्रायः संगठित सेना (Permanent Standing Army) नहीं होती थी और युद्ध के समय वे मित्र सामन्तों पर आश्रित होते थे। इसलिए शक्ति का केन्द्र राजधानी नहीं, सामन्तों की गढ़ी होती थी। ये सामन्त अपनी रियासत के वास्तविक प्रभु थे, नाम का प्रभुत्व भले ही राजा का हो। सामन्ती व्यवस्था उत्पादन के सीमित साधनों, कृषि की प्रधानता और किसानों एवं अर्धदासों (Serfs) के श्रम पर ऐश करते सामन्तों के कारण जानी जाती है। कृषि की प्रधानता, स्थानीय सुरक्षा और यातायात के साधनों की कमी के कारण राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से सामन्तों के क्षेत्र एक पूर्ण इकाई के रूप में विकसित हो रहे थे। इसके परिणामस्वरूप एक सामन्ती मनोवृत्ति भी विकसित हो रही थी।

लेकिन जब बारूद का आविष्कार हुआ और उसे युद्ध में निर्णायक पाया गया तो सामन्त की गढ़ी अजेय नहीं रह गई। उसकी शक्ति ध्वस्त हो गई। ईसाई धर्म के जन्म-स्थल को मुसलमानों के चंगुल से छुड़ाने के लिए जब पश्चिमी यूरोप के शासकों और सामन्तों ने जेहाद (Crusades) किये तो

दूरदराज के लोगों के सम्पर्क में आने से सीमित और संकुचित मनोवृत्ति भी बदलने लगी। उत्पादन के साधन बढ़ने, यातायात का विस्तार और व्यावसायिक कार्यों के बढ़ जाने से नगरों का विकास होने लगा। इन सब का मिला-जुला असर यह हुआ कि सामन्तवाद कमजोर होने लगा।

इस बीच सांस्कृतिक गतिविधि रुकी नहीं थी। इस दिशा में, सीमित क्षेत्र में ही सही, निरन्तर कुछ न कुछ हो रहा था। यह समझा जाता है कि यूनान की, साहित्य, दर्शन या यूँ कहें कि जीवन के हर क्षेत्र में हुई उपलब्धियाँ विस्मृति के गर्त्त में दब गई थीं और पुनर्जागरण में उनका पुनरुद्धार हुआ। यह सच नहीं है। यूनान का पतन होने से पहले ही अरबों ने यूनान की सारी विद्या अपने पास संजो ली थी। उसे उन्होंने पूरब, विशेषकर भारत की विद्याओं से समन्वित करके और धनी बनाया था और मध्यपूर्व से स्पेन तक फैले अपने राज्य में सुरक्षित रखा था। उनके द्वारा स्पेन में स्थापित सारागोसा विश्वविद्यालय के अरब और यहूदी विद्वान् प्राचीन विद्याओं में पारंगत थे। इसलिए यह तो कह सकते हैं कि यूरोप में प्राचीन उपलब्धियों से लोग अनभिज्ञ हो चले थे, लेकिन वे विस्मृति में खो गई थीं, यह कहना गलत होगा। यूरोप में तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में महत्त्वपूर्ण विश्वविद्यालय खोले गये जिनमें सारबान (पेरिस), ऑक्सफोर्ड, केम्ब्रिज और लीपजिग आज भी अग्रगण्य हैं। लेकिन ये विश्वविद्यालय धर्म के प्रभाव से आक्रान्त थे। इसीलिए यहाँ उतना विकास नहीं दिखाई पड़ता जितना कि चौदहवीं शताब्दी के अरब विचारक इब्नखल्दून की पुस्तक 'मुकद्दमा' में दिखाई पड़ता है। यदि हम ईसाई विचारक टॉमस एक्विनास और खल्दून की तुलना करें तो यूरोप का पिछड़ापन स्पष्ट हो जायगा। फिर भी हम किसी तरह यह नहीं कह सकते कि यूरोप का मध्ययुग एक अन्धकारपूर्ण काल था।

कला के क्षेत्र में भी कुछ उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं। पुनर्जागरण के बाद जिस शैली का विकास हुआ उसके उदाहरण आज भी हमें आकर्षित करते हैं। लेकिन तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में आकाश की ऊँचाइयों को नापते खूबसूरत मेहराबों में वृक्षों द्वारा बनाए गए प्राकृतिक मेहराबों का अनुकरण करते और अपनी दीवारों पर बाइबिल की कथाओं और ईसाई सन्त परम्पराओं को मूर्त्त किये गोथिक शैली के विशाल गिरजाघर किसी भी तरह कम सुन्दर कलाकृति नहीं हैं। पेरिस, रैंस और कोलोन के गिरजाघर मध्ययुग की कला चेतना के साक्षी हैं।

इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि मध्ययुग में भी यूरोप का व्यक्ति क्रियाशील था, उसकी चेतना विभिन्न क्षेत्रों में अभिव्यक्ति पाती थी। हाँ, यह जरूर सच है कि धर्म और सामन्तवाद से समाज इतना

आक्रान्त था कि व्यक्ति अपने को पूरी तरह मुक्त नहीं पाता था। चर्च और राज्य, पोप और शासक की मिलीभगत से साधारण जनता का खूब शोषण होता था और एक प्रकार की सामाजिक घुटन बढ़ रही थी। रचनात्मक शक्तियों की अभिव्यक्ति के मार्ग में अवरोध उत्पन्न किये जाते थे। समाज असहिष्णुता, अन्धविश्वास, चमत्कार में आस्था रखता था और जड़ता का शिकार था। जिज्ञासा, चेतना, संघर्ष अपवाद थे, नियम नहीं। पुनर्जागरण ने बस इतना किया कि अपवादों का विस्तार किया। अधिक से अधिक लोग जिज्ञासु, चेतनशील और संघर्षरत होने लगे। इस प्रकार बन्धनों के कटने का, मुक्ति का, दौर शुरू हुआ जो अब तक जारी है।

दूसरा अध्याय

पुनर्जागरण

साधारणतया आधुनिक युग का प्रारम्भ यूरोप के पुनर्जागरण से माना जाता है। यह सच है कि पन्द्रहवीं शताब्दी से यूरोप में जिस नई धारा का प्रवाह शुरू हुआ, विशेषकर साहित्य और कला के क्षेत्र में, उस पर प्राचीन यूनान और रोम की सभ्यताओं के पुनःप्रतिष्ठा और पुनर्मूल्यांकन का बहुत असर था। फिर भी बहुत सारी बातें बिल्कुल नई थीं, जिनका प्राचीन यूरोप से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। पुनर्जागरण काल में पीछे मुड़ कर देखने से, अतीत से प्रेरणा लेने की प्रवृत्ति होती है। इसलिए प्रायः पुनर्जागरण से प्रतिक्रियावादी शक्तियों को बल मिलता है। लेकिन यूरोप में जो कुछ हुआ वह प्रगति की ओर इतना उन्मुख था कि उसे पूरी तरह प्राचीन यूनान और रोम से जोड़ देने से न्याय नहीं होगा।

पुनर्जागरण का अर्थ

यदि हम व्यक्ति के संदर्भ से बात शुरू करें तो समाज के पुनर्जागरण को समझने में आसानी होगी। एक व्यक्ति प्रतिदिन सुबह जब जागता है तो उसके सामने एक कार्यक्रम होता है, उस नये दिन की दिनचर्या होती है और वह आने वाले क्षणों के लिए अपने को तैयार करता है। उसकी इस तैयारी पर उसके बीते हुए दिनों का, जब कि वह कार्यरत था और बीती हुई रातों का जब कि वह नींद का शिकार था, असर पड़ता है। इस प्रकार हर दिन जब वह फिर से जागता है तो अतीत और भविष्य के बीच की यात्रा तय करता है।

समाज के संदर्भ में बात थोड़ी जटिल हो जाती है। कोई समाज किसी काल विशेष में जाग्रत होता है, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसकी उल्लेखनीय उपलब्धियाँ होती हैं और फिर किन्हीं कारणों से वह समाज अन्धकार-ग्रस्त हो जाता है। कुछ शताब्दियों बाद परिस्थितियाँ अनुकूल होने लगती हैं, चेतना

लौटती है, विचारों और कलाओं के क्षेत्र में फिर से जीवन लौटता दिखाई पड़ने लगता है और इतिहासकार उसे पुनर्जागरण की संज्ञा दे देता है।

यूरोप के इतिहास में पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसा पूर्व के यूनान के छोटे-छोटे राज्यों में मानव-सभ्यता का अभूतपूर्व विकास हुआ। धीरे-धीरे **सुकरात, अफलातून (प्लेटो), अरस्तू, यूरीपिडीज, पाइथागोरस, हेरादोतस** और इनके जैसे अनेक दार्शनिकों और विचारकों ने मानव-ज्ञान के विभिन्न आयाम प्रस्तुत किये। एथेन्स में एक ऐसी नागर सभ्यता पनपी जिसकी विराटता उसके विशाल भवनों और मूर्तियों में भी दिखाई पड़ती थी। फिर धीरे-धीरे इस सभ्यता का पतन हुआ और रोमन साम्राज्य के विस्तार के साथ एक नया केन्द्र रोम में स्थापित हुआ। इस साम्राज्य के कानूनों, व्यवस्थाओं और भवनों में भी यूरोप के आदमी ने उन्नति की, कई मंजिलें तय कीं। ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी आते-आते इस सभ्यता का भी पतन शुरू हो गया और बर्बर जातियों के आक्रमण के दबाव में यहाँ की उपलब्धियाँ छिन्न-भिन्न हो गईं। यूरोप पर अन्धकार छाने लगा। ऐसा नहीं था कि वहाँ का समाज निष्क्रिय हो गया हो। विचारों के क्षेत्र में ईसाई भिक्षु और अन्य विद्वान् कुछ न कुछ करते ही रहे लेकिन पहले अरबों फिर तुर्कों के बढ़ते प्रभुत्व ने उन्हें आतंकित और अन्तर्मुखी बना दिया।

तेरहवीं शताब्दी के बाद जैसे भोर की हवा चली। यूरोप ने अंगड़ाई ली। इटली के नगरों में यूनान और रोम की उपलब्धियों की याद ताजा होने लगी। बढ़ते व्यापार ने नगरों का विस्तार किया था। इन नगरों में एक महत्त्वाकांक्षी और अपेक्षतया उदार नया मध्यम वर्ग जन्म ले रहा था जो मध्ययुग की रूढ़ियों के बोझ से मुक्ति चाहता था। यहाँ कुछ नया हो सकता था, पुराने को नया रूप देना सम्भव था। इसलिए विचारों, साहित्य और कला के क्षेत्र में यूनान और रोम से प्रेरणा लेकर मनुष्य ने एक ऐसे समाज की रचना शुरू की जिसमें यथास्थिति के प्रति मोह न हो, जहाँ मनुष्य अपने बन्धनों को काट सके, जहाँ धर्म केन्द्रित समाज (Theocentric Society) के स्थान पर मानव केन्द्रित समाज (Authropocentric Society) बन सके, जिसमें व्यक्ति और उसकी समस्त सम्भावनाओं को उचित स्थान मिल सके। इसी प्राचीन यूरोप की प्रेरणा के आधार पर नये यूरोप के निर्माण के प्रारम्भ को पुनर्जागरण कहते हैं

परिस्थितियाँ

जिस यूरोप में पुनर्जागरण सम्भव हुआ अर्थात् मध्ययुगीन यूरोप, वहाँ का समाज रूढ़ि-ग्रस्त था। सामन्तवादी समाज में चर्च का प्रभाव जन-जन

के व्यक्तिगत जीवन तक पर छाया हुआ था। समाज के महत्त्वपूर्ण स्थान थे सामन्त की किलानुमा हवेली, गिरजाघर और भिक्षुओं के रहने का स्थान मोनास्ट्री (मठ)। साधारण आदमी का जीवन धार्मिक दबाव, आर्थिक शोषण और सामाजिक विषमता के कारण एक बोझ था जिसे बिना कुछ समझे वह ढोता रहता था। ऐसे समाज में पुनर्जागरण किन परिस्थितियों में सम्भव हुआ ? या स्थूल भाषा में कहें तो पुनर्जागरण के क्या कारण थे ?

जागना कई कारणों से होता है। कोई तो स्वत: एक निश्चित नींद पूरी कर लेने के बाद जाग जाता है। कोई बिना पानी डाले, घड़ी की आवाज़ सुने, डाँट-फटकार खाये या बिना शोर-शराबे के उठता ही नहीं। यह भी कह सकते हैं कि कोई तो पूरी तरह कभी नहीं सोता और बस समय पर नींद की चादर हटा देता है और फिर चैतन्य हो जाता है और कोई जागता दिखाई पड़ने पर भी इतना शिथिल और निष्क्रिय होता है कि वास्तव में सोता ही रहता है। वह जब दरअसल सोता है तो आसानी से नहीं जागता।

समाज में भी कुछ इसी तरह की बात होती है। कहीं-कहीं तो कोई समाज एकदम से पतन के गर्त में कभी नहीं जाता और कुछ शताब्दियों के बाद वहाँ की सांस्कृतिक धारा फिर से प्रवहमान हो जाती है जैसे भारतीय और यूरोपीय समाज। यूरोप में पाँचवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच (मध्यकाल) में भी संकुचित क्षेत्र में ही सही सांस्कृतिक गतिविधि बन्द नहीं थी। लेकिन तेरहवीं शताब्दी के बाद ऐसी परिस्थितियां पैदा हुईं जिन्होंने मनुष्य को चैतन्य बनाने में मदद की।

सब से पहले तो व्यापार और खोये हुए ईसाइयों के पवित्र नगर जेरूसलम पर फिर से कब्जा करने के लिए यूरोप के लोगों ने बड़ी-बड़ी यात्राएँ और हमले—'क्रूसेड्स'—शुरू किये। इन यात्राओं ने उनकी संकीर्णता को झकझोर दिया। नये-नये तरह के लोगों के सम्पर्क में आकर यूरोप के लोगों ने 'नये' से घबड़ाना छोड़ दिया। सामन्ती व्यवस्था अपने ही बोझ एवं कृषि और उद्योग के नये प्रयोगों के दबाव में टटने लगी। पुराने व्यावसायिक गिल्ड के स्थान पर ऐसी संस्थाएँ बनने लगीं जो अपेक्षतया उदार और प्रगतिशील थीं। ये नये संगठन कुछ विशिष्ट लोगों के एकाधिकार का विरोध तक करने लगे। नगरों में अपने श्रम से धन कमाने वाले लोगों ने बने बनाये नियमों, कानूनों का उल्लंघन करना शुरू कर दिया। नगरों के नये धनिक वर्ग ने उदार विचारों को प्रश्रय देना शुरू किया।

इसी बीच पश्चिमी यूरोप पर लैटिन भाषा का एकछत्र प्रभुत्व टूटने लगा। लोकभाषाएँ समृद्ध होने लगीं और इस तरह लोक-मानस का विकास शुरू हुआ। जैसे हिन्दुस्तान में संस्कृत जब जनभाषा नहीं रह गई तो कुछ

दिनों के लिए विचार और साहित्य के क्षेत्र में गतिरोध पैदा हो गया। फिर स्थानीय भाषाओं के विकास के साथ-साथ नई चेतना लौटी और बंगला से मलयालम तक और बाद में हिन्दी में भारत की जनता को नई अभिव्यक्ति मिली। इस प्रकार यूरोप में आम आदमी लैटिन में बोल-लिख नहीं सकता था। धीरे-धीरे इटालियन, फ्रेंच, अंग्रेजी और जर्मन भाषाओं का विकास हुआ और लोगों को अपनी बात कहने का मौका मिला।

सब से पहले इटली के कवि दान्ते ने, जो पहले के कवियों की तरह पादरी नहीं एक साधारण गृहस्थ था, कविता में भाषा-शैली और विषय के संदर्भ में नई दिशा दी। उसने यूनान के **अरस्तू** और रोम के **वर्जिल** की प्रशंसा की। **पेट्रार्क** ने भी **सिसरो, सीजर** और **वर्जिल** जैसी रोमन विभूतियों को नये ढंग से प्रस्तुत किया। शिक्षा में रुचि बढ़ने लगी और पढ़े-लिखे लोगों का दायरा बढ़ने लगा। विद्या की नई परिभाषा की गई और उसे 'नई विद्या' (New Learning) कहा जाने लगा। नगरों के धनिक उन शिक्षकों और विद्वानों को प्रश्रय देने लगे जो प्राचीन यूनान की सभ्यता को मानव इतिहास की सब से बड़ी उपलब्धि समझते थे।

इसी बीच एक और महत्त्वपूर्ण घटना घटी। पूर्वी यूरोप में स्थित बाइ-जेण्टाइन साम्राज्य की राजधानी, **कुस्तुनतुनिया**, विद्वानों और प्राचीन विद्या के जानकार लोगों का गढ़ था। चौदहवीं शताब्दी से ही तुर्कों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और वे यूरोप पर बराबर हमला करने लगे थे। 1453 ई० में कुस्तुनतुनिया का पतन हो गया और तुर्कों की बाढ़ आ गई पूर्वी यूरोप और बाल्कन प्रायद्वीप में। ईसाई विद्वान् घर-बार छोड़ कर भागे और अपनी मूल्यवान पुस्तकें भी अपने साथ लेते गये। उन्हें इटली के नगरों में एक अनु-कूल वातावरण मिला और उनके सम्पर्क और ज्ञान से इन नगरों में नई स्फूर्ति आ गई। यह विश्वास दृढ़तर होता गया कि प्राचीन विद्या अधिक मानववादी थी। फलतः नई विद्या को मानववाद (Humanism) से जोड़ा गया और मानव तथा उसके परिवेश को नई दृष्टि से देखा जाने लगा। सिसरो और पेट्रार्क के बीच की शताब्दियों को निकृष्ट करार दिया गया। 'मध्ययुग' पिछड़े-पन का पर्यायवाची बन गया। इस का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि उस युग की स्थापत्य कला, जिसने मेहराबदार भवनों के निर्माण की शैली स्थापित की थी, उसे गोथिक अर्थात् जंगली कहा जाने लगा।

इस नई मानववादी विचारधारा के विचारकों ने विभिन्न देशों में इस नई विचारधारा का प्रचार किया पर उनमें सर्वोच्च स्थान प्राप्त है रॉटरडम के डच लेखक **एरासमस** को। एरासमस, पेट्रार्क से भी अधिक, 'यूरोप का विद्वान्' के नाम से जाना जाता है। वह ईसाई होते हुए भी ईसाई धर्म की

कमजोरियों, विशेषकर पादरियों के आचरण-व्यवहार पर प्रहार करता था। अपनी पुस्तक 'मूर्खता की प्रशंसा' (Praise of Folly) में उसने भिक्षुओं और धर्मशास्त्र के ज्ञाताओं की हँसी उड़ाई और इस तरह उसने रूढ़िग्रस्त समाज के बन्धन ढीले करने में प्रशंसनीय भूमिका निभाई।

इसी बीच भूमध्यसागर के पूर्वी क्षेत्रों पर तुर्कों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। एशिया और यूरोप के बीच प्राचीन काल से यही एक रास्ता था। चीन, जावा, सुमात्रा और भारतवर्ष के जहाज लालसागर तक आते थे और दूसरी ओर यूरोप के जहाज सिकन्दर द्वारा बसाये गये अलेकजेण्ड्रिया बन्दरगाह तक आते थे। बीच के रेगिस्तानी स्वेज प्रदेश में, जहाँ अब विश्वविख्यात स्वेज नहर है, ऊँटों के काफिलों पर सामान एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँचाया जाता था। पूरब की चीजें, विशेषकर मसाले, यूरोप के घरों के लिए अनिवार्य आवश्यकता बन चुके थे। अब जब कि यह रास्ता बन्द हो चुका था नये मार्गों की तलाश शुरू हुई और वास्कोडिगामा सारे अफ्रीका का चक्कर लगाता हुआ एक नये रास्ते से भारत पहुँच ही गया। दूसरी ओर दुनिया को गोल समझ कर पश्चिम की ओर से भारत पहुँचने के चक्कर में कोलम्बस एक ऐसी दुनिया में पहुँच गया जिसका तब तक यूरोप वालों को पता तक न था। इन नये टापुओं को इण्डीज कहा गया और पास के विशाल महाद्वीप को अमेरिका। इस तरह भौगोलिक खोज का एक ऐसा दौर शुरू हुआ जिसने मानव-ज्ञान को बहुत विस्तार दिया। संकुचित दृष्टिकोण नये-नये अनुभवों के टकराव से टूटने लगे।

इसी दिशा में वैज्ञानिक आविष्कारों ने भी मदद की। मानव-सभ्यता को लिपियों के आविष्कार ने क्रान्तिकारी दिशा दी थी। जब विचारों को लिपि-बद्ध करने का प्रसार हुआ तो कपड़ा, चमड़ा, भोजपत्र जैसी अनेक चीजों पर छपाई शुरू हुई। चीन, दमिश्क और यूनान जैसे देशों में अपनी-अपनी तरह कागज भी ढूँढा जा चुका था। परन्तु इन पर छपाई बहुत मुश्किल और महंगा काम था। यह ठीक से नहीं कहा जा सकता कि किसने सब से पहले ऐसे टाइप का आविष्कार किया जो बार-बार इस्तेमाल किया जा सके। बहरहाल यह निश्चित है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में जर्मनी में **जॉन गटेनबर्ग** नामक व्यक्ति ऐसी टाइप मशीन का इस्तेमाल करने लगा था जो आधुनिक प्रेस की पूर्ववर्ती कही जा सकती है। छपाई के इस नये तरीके का क्रान्तिकारी परिणाम हुआ। पुस्तकें सस्ती और सुलभ हो गईं। ज्ञान पर से विशिष्ट लोगों का एकाधिकार समाप्त हो गया। 'पुस्तकों में ऐसा लिखा है' कह कर अब जनता को बरगलाया नहीं जा सकता था क्योंकि जनता अब स्वयं जरूरत पड़ने पर पढ़ सकती थी कि क्या लिखा है। पुस्तकों के प्रसार ने लोगों

में आत्मविश्वास भरा, क्षेत्रीय भाषाओं के विकास को बल मिला। अन्ध-विश्वास और रूढ़ियां कमजोर पड़ने लगीं।

यह तो प्रारम्भ मात्र था। पन्द्रहवीं शताब्दी तक यह समझा जाता था कि पृथ्वी ब्रह्माण्ड का केन्द्र है और सारे नक्षत्र, सूरज, चाँद, सितारे, पृथ्वी का चक्कर लगाते हैं। मानव के अहम् को धरती की इस केन्द्रीय स्थिति से बड़ा बल मिलता था। यूनान में **टालेमी** द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त अडिग था और इसका विरोध वही कर सकता था जिसे न ईश्वर प्यारा हो न अपनी जान। पोलैण्ड के वैज्ञानिक **कोपरनिकस** ने इस सिद्धान्त पर प्रहार किया। अपनी पुस्तक 'नक्षत्रों की गति' (On the Revolutions of the Celestial Bodies) में गणित के माध्यम से कोपरनिकस ने यह सिद्ध किया कि सौर मण्डल का केन्द्र पृथ्वी नहीं सूरज है। जान पर खेलकर उसने यह जोखिम उठाया था लेकिन बाद के आविष्कारों ने जब यह बात सिद्ध कर दी तो स्वनिर्मित अहम् का किला ढह गया। आदमी को अपनी औकात का पता चल गया और वहीं से शुरू हुई उसकी वैज्ञानिक विजय-यात्रा।

इस प्रकार अनेक परिस्थितियों के मिले-जुले प्रभाव में पुनर्जागरण सम्भव हुआ। ऐसे कारण तेरहवीं शताब्दी के यूरोप में ही मौजूद थे जिनके बढ़ते रहने से पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में नये सांस्कृतिक, राज-नैतिक और आर्थिक जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई और हजारों साल तक केवल साँस लेता या कभी-कभी चौंकता सा प्रतीत होता यूरोप का समाज करवटें लेकर उठ बैठा। उसे लगा सदियों बाद वह फिर से जागा है

पुनर्जागरण का स्वरूप

यूरोप का पुनर्जागरण जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग रूपों में प्रकट हुआ। पुनर्जागरण की प्रक्रिया सदियों तक चलती रही और उसके बीच से जिस आधुनिक यूरोप का जन्म हुआ वह मध्ययुगीन यूरोप से हर तरह से भिन्न था।

परिवर्तन विचारों के क्षेत्र से शुरू होता है। नई विद्या ने जो ज्योति जलाई थी उसके मानववादी प्रकाश में अन्धकार छँटने लगा। एरासमस के क्रम में अंग्रेज विद्वान् **टामस मोर** ने 'यूटोपिया' नामक ग्रन्थ में एक नये समाज की कल्पना की जो तत्कालीन यथार्थ के स्थान पर एक आदर्श स्थापित कर सके। कोपरनिकस के सिद्धान्त को **केपलर** ने गणित और **गैलिलियो** ने अपनी दूरबीन से अकाट्य साबित कर दिया। विचारों की पुष्टि के लिए प्रयोग का महत्त्व बढ़ने लगा। गणित की अभूतपूर्व सफलताओं ने भौतिकशास्त्र को बल दिया। बाद में **न्यूटन** ने गुरुत्वाकर्षण और गति के सिद्धान्तों के आधार पर

भौतिक जगत् की समझदारी को एक नया आयाम दिया। कुल मिला कर मनुष्य के अन्धविश्वास ढहने लगे और तर्क-पद्धति का विकास होने लगा। मनुष्य ने आस्था के स्थान पर विवेक से कार्य लेना शुरू किया। सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में भी **मेकियावेली से लार्ड बेकन** तक अध्ययन के नये तरीके ढूँढ़ने में व्यस्त हो गये। दर्शन का स्वरूप बदल गया। ऐसा प्रतीत होता है जैसे मनुष्य ने केवल परम्परा के आधार पर किसी सच्चाई को मानने से इन्कार कर दिया हो। वह प्रश्न करने लगा क्योंकि अब वह जिज्ञासु था और वैज्ञानिक आविष्कारों ने उसकी अन्धास्था को डगमगा दिया था। संक्षेप में कह सकते हैं कि सोलहवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते वैज्ञानिक युग प्रारम्भ हो चुका था।

साहित्य : ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव के बाद से धीरे-धीरे यूरोप पर चर्च का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि साहित्य और कला के क्षेत्र में भी धर्म की प्रधानता बढ़ी हुई थी।

साहित्य अधिकतर भिक्षुओं और पादरियों द्वारा लैटिन भाषा में लिखा जाता था। जाहिर था कि उसमें न तो साधारण जनता का कोई जिक्र होता था, न ही जनता उसे समझ सकती थी। पुनर्जागरण के साथ ही राष्ट्रीय भाषाओं का विकास शुरू हुआ। विषय और विधाओं की दृष्टि से बहुत परिवर्तन हुए। अब आदमी की बात उसी की भाषा में ऐसे कही जाने लगी कि वह समझे भी। इसी का फल हुआ कि इटालियन में **दान्ते** की परम्परा **मेकियावेली** तक, फ्रेंच में **फोंतेन** की **मोलिए, रासीन** और **कॉरनइ** तक और अंग्रेजी में **चॉसर** की शुरुआत **शेक्सपियर** तक पहुँची।

स्थापत्य : इटली के नगरों और चर्च में अपार धन इकट्ठा हो रहा था। धन की अभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यमों में से एक है—भवन-निर्माण। भवनों का जब निर्माण शुरू हुआ तो यूनान और रोम के पुराने खण्डहरों की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ और एक क्लासिकल शैली का प्रारम्भ हुआ जो पुनर्जागरण शैली भी कहलाती है। **राफेल, माइकेल एन्जेलो** और **पालादियो** जैसे कलाकारों के नेतृत्व में जिस सन्त पीटर गिरजाघर का रोम में निर्माण हुआ उसके स्तम्भों और गुम्बज की भव्यता और पूरे भवन की योजना के 'विजन' और विस्तार आज भी चकित कर देते हैं। पोप और धनिकों द्वारा इकट्ठा किये गये अपार धन का निर्माण कार्य में भी उपयोग होने से स्थापत्य की बहुत उन्नति हुई। राजाओं और सामन्तों ने भी अपने महल बनवाये जिनके कुछ बेमिसाल उदाहरण फ्रांस के लुआर प्रदेश में आज भी सुरक्षित हैं। ये 'शातो', गढ़ जैसे महल, अपनी सजावट के बावजूद कहीं फूहड़ नहीं लगते।

इस प्रकार पुनर्जागरणकालीन स्थापत्य-कला की विशेषता है प्राचीन प्रेरणाओं का नवीनीकरण। इसीलिए इस काल की किसी इमारत को किसी प्राचीन इमारत की अनुकृति नहीं कह सकते यद्यपि उसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

मूर्तिकला : स्थापत्य और मूर्तिकलाओं का विकास प्रायः समवेत रूप से हुआ है। चाहे भारत के मन्दिर हों या यूरोप के महल दोनों कलाएँ घुली-मिली दिखाई पड़ती हैं। इस काल में **लोरेन्जो गिबेर्तो**, **दोनातेल्लो** और **माइकेल एन्जेलो** जैसे महान् मूर्तिकार थे। इन्होंने केवल ईसा या मरियम की नहीं बल्कि समकालीन प्रमुख व्यक्तियों की भी मूर्तियां बनाईं। इन मूर्तियों में एन्जेलो द्वारा निर्मित 'डेविड' विश्वविख्यात है। इस काल का मूर्तिकार जितना शौर्य को मूर्त करने में सक्षम था उतना ही करुणा को। इस प्रकार मूर्तिकला भी धर्म के बन्धन से मुक्त होकर बृहत्तर संदर्भों से जुड़ी।

चित्रकला : पुनर्जागरण काल में सबसे अधिक विकास चित्रकला के क्षेत्र में हुआ। पन्द्रहवीं शताब्दी तक चित्रकला न केवल धार्मिक विषयों तक सीमित थी वरन् रंगों और उपकरणों का चुनाव भी सीमित था। उस काल के चित्रों में एक अजीब सी उदासी और एकरसता दिखाई पड़ती है। पुनर्जागरण-काल के चित्रकारों ने विषयों का चुनाव सीधे जीवन से किया। उनके विषय ईसा और मरियम भी थे पर वे आदमी को भी चित्रित करते थे। प्लास्टर और लकड़ी के पैनेल के स्थान पर कैनवस का इस्तेमाल शुरू हुआ। शोख और चटख रंग वर्जित नहीं रहे। तैल चित्रों की परम्परा शुरू हुई। इस क्षेत्र में यूनान और रोम से प्रेरणा मिलने की गुंजाइश नहीं थी क्योंकि उस समय के चित्र उपलब्ध नहीं थे। इसलिए चित्रकार सर्वथा मौलिक प्रयोग भी कर सके।

लेओनार्डो-डा-विञ्ची, **माइकेल एन्जेलो**, **राफेल** और **टिशियन** ने जिन चित्रों की रचना की वे आज तक अद्वितीय माने जाते हैं।

फ्लोरेंस निवासी **लेओनार्डो** की प्रतिभा अद्भुत और बहुमुखी थी। वह वैज्ञानिक, गणितज्ञ, इंजीनियर, संगीतकार, दार्शनिक, चित्रकार सब एक साथ था। चित्रों के लिए वह शरीर और उसकी विभिन्न भंगिमाओं और मुद्राओं का विशद अध्ययन करता था। उसके चित्रों में 'लास्ट सपर' और 'मोनालिजा' अनुपम समझे जाते हैं। 'लास्ट सपर' में ईसा मसीह और उनके अनुयायी केवल व्यक्ति नहीं, विभिन्न जीवन-मूल्यों के प्रतिनिधि लगते हैं। 'मोनालिजा' किसी सुन्दरी का चित्र नहीं है। लेकिन उस साधारण सी दिखाई पड़ने वाली महिला की रहस्यमयी मुस्कान का अर्थ दर्शक आज तक अपने-अपने ढंग से लगाते रहे हैं। लेओनार्डो जिस संसार को चित्रित करता था

उसमें मानवीय भावनाएँ अपने सहज और नैसर्गिक रूप में अभिव्यक्त होकर एक सार्वभौमिक सौन्दर्य की सृष्टि करती हैं।

शिल्पी माइकेल एञ्जेलो भी महान् चित्रकार था। व्यक्तिगत जीवन में दुःखी और सहानुभूतिहीनता का शिकार माइकेल जीवन भर चित्रों में सुख और शान्ति ढूँढ़ता रहा। पोप के महल वैटिकन में स्थित 'सिस्टाइन चैपेल' की छत पर उसने बाइबिल की कथाओं—सृष्टि से प्रलय तक को अमर बना दिया। इन चित्रों में 'लास्ट जजमेण्ट' (अन्तिम फैसला) अविस्मरणीय है।

माइकेल से प्रभावित राफेल चित्रों के सौष्ठव और समरूपता में सब से आगे था। रोम में पोप के महलों की सज्जा में रत राफेल द्वारा निर्मित 'मेडोना' का दिव्य नारीत्व आज भी दर्शक का मन मोह लेता है। टिशियन वेनिस की गरिमा के चित्र बनाता रहा। उसे सम्राट् चार्ल्स पंचम का संरक्षण प्राप्त था और उसने चार्ल्स और उसके पुत्र फिलिप के ऐसे चित्र बनाये जो कला ही नहीं इतिहास की अमूल्य निधि हैं।

इटली के बाहर हॉल बाइन ने जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड, नीदरलैण्ड्स और इंग्लैण्ड की यात्राओं के दौरान समकालीन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के ऐतिहासिक चित्र बनाये। एरासमस, टामस मोर और इंग्लैण्ड के शासक हेनरी अष्टम को अमर बनाने में उनकी अपनी उपलब्धियों के अलावा हॉल बाइन के चित्रों का भी हाथ है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया होगा कि यूरोप का सांस्कृतिक जीवन पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद वही नहीं रह गया जो तब तक था। विचारों और उसकी अभिव्यक्ति के माध्यमों में इतने परिवर्तन हुए कि प्राचीनता से ली गई प्रेरणा के बावजूद यूरोप का समाज निरन्तर नई दिशाओं में आगे बढ़ता गया। धीरे-धीरे यह प्रभाव राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन में भी दिखाई पड़ने लगा।

राजनैतिक जीवन : पुनर्जागरण से पहले यूरोप का समाज पूर्णतया सामन्ती था। राजा भी सामन्तों की उठापटक में कभी एक तरफ कभी दूसरी तरफ रहने को मजबूर था। नई परिस्थितियों में सामन्तवाद के कमजोर पड़ने से मध्यमवर्ग का प्रभाव बढ़ा और राजा अपनी शक्ति बढ़ाने में सफल हुए। एक राष्ट्रीय राजतन्त्र का विकास शुरू हुआ। फ्रांस में फ्रांसिस प्रथम और हेनरी चतुर्थ तथा इंग्लैण्ड में हेनरी अष्टम और एलिजाबेथ के शासन-काल में राष्ट्रीयता के आधार पर केन्द्रीय शासन मजबूत हुआ और राजा में सारे राष्ट्र की शक्ति को केन्द्रित माना जाने लगा। यह विकास-क्रम में एक महत्त्वपूर्ण कदम था।

सामाजिक जीवन : समाज में कुलीनता का इतना महत्त्व था कि राजा,

सामन्त और पादरी के अतिरिक्त कोई सम्मान का भागी नहीं समझा जाता था। पुनर्जागरण के साथ-साथ नागरिक जीवन का महत्त्व बढ़ने लगा क्योंकि नगरों में धन था और धन का अर्जन और संग्रह करने वाला मध्यम वर्ग भी नगरों में रहता था। मध्यम वर्ग को सम्मान पाने के लिए शताब्दियों तक संघर्ष करना पड़ा, पर सोलहवीं शताब्दी से ही समाज में इस वर्ग का महत्त्व बढ़ना शुरू हो गया। व्यक्ति का महत्त्व बढ़ने से व्यक्तिवादी चिन्तन ने अमूर्त समष्टि, जैसे चर्च, के प्रभाव को चुनौती दी और व्यक्ति पहले की अपेक्षा अपने को मुक्त महसूस करने लगा। सामाजिक विषमताओं पर, जो हमेशा से विद्यमान थीं, अब गौर किया जाने लगा। समाज में तनाव बढ़ने लगा।

धार्मिक जीवन : पुनर्जागरण का धार्मिक स्वरूप धर्म-सुधार आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ। उसका विस्तृत अध्ययन हम अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि चर्च का एकाधिकार टूटने लगा। जागा हुआ यूरोप का आदमी प्रश्न करने लगा। विवेक और तर्क की कसौटी उसे मिल गई थी और धर्म के पाखण्ड और बाह्याडम्बर, पादरियों और पोप के अनाचार-दुराचार, इस कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते थे। फलतः धर्म के क्षेत्र में भी उद्वेलन शुरू हुआ। विरोध हुए और कैथोलिक चर्च में तो सुधार हुए ही, चर्च से टूट कर अलग सम्प्रदाय भी बनने लगे जो अपेक्षतया अधिक उदार, आडम्बरहीन और तर्कसंगत थे।

आर्थिक जीवन : आर्थिक जीवन का आधार कृषि, उद्योग और व्यापार होता है। पन्द्रहवीं शताब्दी आते-आते उत्पादन के साधन बदलने लगे। व्यापार का क्षेत्र बढ़ा। साधन बढ़े और परिमाण भी बढ़ा। उथल-पुथल मच गई। लोग नगरों की ओर आकर्षित हुए। धन-संचय हुआ और स्टॉक कम्पनियों एवं बैंकों का जन्म हुआ। पूँजीवादी व्यवस्था का सूत्रपात हो गया। उत्पादन बढ़ने से साधन जुटाना अनिवार्य हो गया और श्रम की खरीद शुरू हो गई। पहले की तरह व्यापार सरल नहीं रह गया। नियमों और कानूनों की जरूरत पड़ी और राज्य का हस्तक्षेप शुरू हो गया। राज्य और धनिकों के निकट आने से श्रमिक अपने को अरक्षित महसूस करने लगा। बाजार की गतिविधियाँ राजनीति और सामान्य जन के जीवन से जुड़ गईं। बाजारों की आवश्यकता ने उपनिवेशों का महत्त्व बढ़ा दिया और बाद को उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। कुल मिला कर यह कह सकते हैं कि आर्थिक जीवन जटिलतर होने लगा। उत्पादन बढ़ने से समाज में धन की वृद्धि तो हुई पर वितरण समान न होने से आर्थिक विषमता और बढ़ी। इसी कारण असंतोष की भी शुरुआत हुई।

इस प्रकार पुनर्जागरण की अभिव्यक्ति जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बहुत

स्पष्ट रूप में हुई। मनुष्य के दृष्टिकोण में जो परिवर्तन आया वह राजनीति से बाजार और बाजार से व्यक्ति के अपने जीवन तक हर जगह दिखाई पड़ने लगा। इन अर्थों में पुनर्जागरण एक क्रमिक विकास का परिणाम भले ही हो पर उसके प्रभाव-क्षेत्र और परिवर्तन की गहराई देखते हुए उसके महत्त्व को क्रान्तिकारी करार दिया जा सकता है।

पुनर्जागरण का प्रसार

पुनर्जागरण के लिए सबसे अनुकूल परिस्थितियाँ इटली में मौजूद थीं। इसलिए सूत्रपात इटली में ही हुआ, लेकिन सारे पश्चिमी यूरोप के विकास की गति कमोबेश एक जैसी थी। फलत: धीरे-धीरे फ्रांस, जर्मनी और इंग्लैण्ड में भी इटली में हुए परिवर्तनों का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा।

'नई विद्या' का प्रसार हुआ तो अन्य देशों में भी नये ढंग की शिक्षण-संस्थाएँ खुलने लगीं। इस क्षेत्र में पेरिस में स्थापित 'कालेज द फ्रांस' का स्थान उल्लेखनीय है। फ्रांस का शासक फ्रांसिस प्रथम अपनी युद्ध-यात्राओं के समय इटली में हो रहे परिवर्तनों को देख चुका था। उसने लेखकों और कलाकारों को संरक्षण प्रदान किया। पेरिस में **विलियम बूदे** के सहयोग से प्राचीन यूनान और रोम का अध्ययन शुरू हुआ। लुआर क्षेत्र में नई कला के उदाहरण 'शातो' के रूप में बनने लगे। लोगों, विशेषकर धनिक वर्ग, के आचार-व्यवहार में इटली के नागरिकों का प्रभाव बढ़ने लगा।

एरासमस जो अपनी यात्राओं और सम्मान के कारण 'अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक' बन चुका था सारे पश्चिमी यूरोप में अपने विचारों का प्रचार करने में सफल हुआ। उसके व्यंग्य बहुत प्रभावशाली होते थे और उनमें चर्च तथा विकृत समाज की बुराइयां साफ-साफ सामने आ जाती थीं।

इंग्लैण्ड में **जॉन कालेट** और **टामस मोर** ने विकासोन्मुख अंग्रेजी भाषा के माध्यम से एक जागृति पैदा की। एलिजाबेथ के शासन काल में इंग्लैण्ड के जीवन का हर पक्ष पुनर्जागरण से प्रभावित हो चला था।

जर्मनी सैकड़ों राज्यों में बंटा होने के कारण राजनैतिक रूप से विघटित था किन्तु सांस्कृतिक एकता का आधार जर्मन भाषा में विद्यमान था। **व्यूखलिन** और **मेलांकथन** के विचारों ने त्रस्त जर्मन जनता को उद्वेलित किया। **मार्टिन लूथर** पुनर्जागरण की नई चेतना को धर्म-सुधार आन्दोलन का रूप प्रदान करने में सफल हो गया।

पश्चिमी यूरोप की विभिन्न राष्ट्रीय भाषाओं—विशेषकर फ्रेंच और अंग्रेजी—का अभूतपूर्व विकास हुआ। इन भाषाओं में कविता और नाटकों के क्षेत्र में सार्वकालिक रचनाएँ लिखी गईं। **मार्टिन लूथर** ने जर्मन भाषा को इस

प्रकार गढ़ा कि उसका बाइबिल का जर्मन अनुवाद अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और बाद के प्रसिद्ध कवियों शिलर और गेटे का मार्ग प्रशस्त हुआ। स्पेनिश भाषा में भी सरवेंटीज ने 'डॉन क्विकजाट' नामक एक 'क्लासिक' की रचना की। इस प्रकार साहित्य और विचारों के क्षेत्र में सोहलवीं शताब्दी से ऐसा विकास-क्रम शुरू हुआ जो अभूतपूर्व था। दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में मुक्ति की ओर उन्मुख मानव ने अपनी जिज्ञासा और विवेक के सहारे प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन शुरू किया और वह निरन्तर शक्तिमान होता गया। विविध कलाओं के क्षेत्र में नये सौन्दर्य-बोध और नये माध्यमों के सहारे सौन्दर्य का ऐसा संसार रचा जाने लगा जिसके प्रमाण बर्लिन, बॉन, लन्दन, पेरिस और बाल के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। पश्चिमी यूरोप के विभिन्न नगरों में पुनर्जागरण शैली में निर्मित भवन आज भी उस शैली की गरिमा की याद दिलाते हैं। कलाओं के क्षेत्र में जो प्रसार हुआ उसका यह भी प्रमाण है कि लेओनार्डो के अधिकांश स्केच और अभ्यास-चित्र इंग्लैण्ड के राजप्रासाद में सुरक्षित हैं। उसके अन्तिम निवास, फ्रांस के लुआर प्रदेश में स्थित महल में उसकी वैज्ञानिक प्रतिभा के उदाहरण टैंकों, हवाई जहाजों, क्रेन जैसे अनेक यन्त्रों के माडेल्स सुरक्षित हैं, और उसकी 'मोनालिजा' आज भी पेरिस के लूव्र संग्रहालय की सबसे चर्चित आकर्षण है।

इस प्रकार ज्यों-ज्यों पुनर्जागरण का प्रकाश बढ़ता गया यूरोप के अन्य क्षेत्रों में जागृति बढ़ती गई।

अन्त में हम पुनर्जागरण के महत्त्व का विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्राचीन प्रेरणाओं पर आधारित एक ऐसा नया प्रयोग शुरू हुआ जो सामजस्य भी कर सका और नितान्त मौलिक दिशाएँ भी ढूँढ़ सका। यूनान और रोम की सभ्यताएँ ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव के पहले की थीं और बारह सौ वर्षों में ईसाई धर्म ने यूरोप में एक ऐसा केन्द्रित किन्तु व्यापक प्रभाव स्थापित कर लिया था कि उससे इतर कुछ भी मान्य नहीं था। यूनान की गरिमा अरब विद्वानों ने संजो कर रखी, नहीं तो यूरोप से तो वह गुम ही हो चुकी थी। धर्म की घुटन से ऊब कर जब लोगों ने हाथ-पैर चलाए तो यूनान से आती हवा उन्हें ताजगी से भर गई। फिर तो एक ऐसी स्फूर्ति आई कि पहले इटली फिर पूरा पश्चिमी यूरोप यूनान और रोम की सभ्यताओं का वारिस बन बैठा।

मनुष्य के सामाजिक मूल्य की पुनःप्रतिष्ठा शुरू हुई और भौगोलिक अन्वेषणों ने अमेरिका के रूप में नई दुनिया का पता तो दिया ही, स्वयं पुरानी दुनिया में एक नई दुनिया की रचना शुरू हुई। मानव-मस्तिष्क की अपरिमित सम्भावनाओं का पता चलने लगा और मनुष्य की शक्ति को उसकी वैज्ञानिक

विजयों ने बढ़ाना शुरू किया। उस समय मनुष्य में जिस आत्मविश्वास, ज्ञान की प्यास और प्रगति के प्रति आकर्षण का सूत्रपात हुआ उसी ने उससे बाद के सारे संघर्ष करवाये।

यूँ तो ईसाई धर्म में लॉर्ड और सीजर के क्षेत्र अलग-अलग माने गये हैं। चर्च और राज्य के बीच पृथकता की कल्पना की गई है। लेकिन व्यवहार में पन्द्रहवीं शताब्दी तक धर्म और राजनीति की ऐसी खिचड़ी पकने लगी थी कि सारा समाज विषाक्त हो गया था। पुनर्जागरण के बाद न केवल कैथोलिक चर्च का एकाधिकार टूटा और अधिक आडम्बरहीन एवं पवित्र सम्प्रदायों का प्रारम्भ हुआ बल्कि अन्ततोगत्वा वास्तव में राज्य और धर्म के बीच लक्ष्मण-रेखा खींची जाने लगी।

धर्म की पकड़ से मुक्त और विवेक तथा विज्ञान से लैस नया जीवन-दर्शन मनुष्य और उसके परिवेश को समझने और निरन्तर प्रगति की ओर बढ़ने के लिए यथास्थिति में परिवर्तन की तैयारी में लगे रहने की प्रेरणा देने लगा। और इस प्रकार एक बार फिर यूरोप पुनर्जागरण के बाद उन कार्यकलापों का केन्द्र बन गया जिनके आधार पर आने वाली चार शताब्दियों का इतिहास बनने वाला था।

तीसरा अध्याय

धार्मिक उथल-पुथल

पुनर्जागरण से पहले यूरोप पर कैथोलिक चर्च का एकछत्र साम्राज्य था। यूरोप को ईसा का राज्य (Christendom) कहा जाता था। चर्च एक और अविभाज्य था। व्यक्ति जन्म लेने के साथ ही चर्च की शरण पाता था और उसका जीवन-मरण चर्च के बाहर सम्भव नहीं था। चर्च का संगठन बहुत मजबूत था। रोम से यूरोप के सुदूर गाँवों तक एक ऐसा तन्त्र फैला हुआ था कि कोई व्यक्ति चर्च का विरोध नहीं कर सकता था। जैसे राजकीय कर अनिवार्य थे वैसे ही चर्च के कर भी। इस प्रकार अनिवार्यत: चर्च की शरण में रहता हुआ यूरोप का व्यक्ति अपने सामाजिक और धार्मिक जीवन में हर पल चर्च पर निर्भर था और जानता था कि उसका उद्धार भी चर्च की कृपा से ही होगा। वह पाप करता तो चर्च में प्रायश्चित्त का विधान था। मरने से पहले चर्च उसे आश्वस्त करता था कि चर्च उसे अगली यात्रा में भी मदद करेगा। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सारा समाज धर्म-केन्द्रित, धर्म-प्रेरित और धर्म-नियंत्रित था। सम्राटों को भी पोप के आगे घुटने टेकने पड़ते थे।

लेकिन सोलहवीं शताब्दी आते-आते यह एकाधिकार टूटने लगा। प्रश्न उठने लगे और जब उत्तर नहीं मिला तो चर्च के भ्रष्ट तन्त्र का विरोध और बढ़ा। पुनर्जागरण ने जो चेतना पैदा की थी वह सहज ही भुलावे में नहीं आ सकती थी। पोप से लेकर गाँव के पादरी तक का जीवन कितना भ्रष्ट था, यह किसी से छिपा नहीं रह गया था। आर्थिक शोषण अपनी चरम सीमा पर था। बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना कोई भी एकाधिकार स्वीकारने को तैयार नहीं थी, चाहे वह सम्राट् का हो या चर्च का। ऐसे में जर्मनी में मार्टिन लूथर का प्रादुर्भाव हुआ और कैथोलिक चर्च की नींवें हिल गईं। एकाधिकार टूट गया और सोलहवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते यूरोप में अनेक विद्रोही सम्प्रदाय कायम हो गये। एक ही ईसा मसीह और एक ही बाइबिल में

विश्वास रखने वाले, पर सिद्धान्त और आचार-व्यवहार के आधार पर चर्च का विरोध करने वाले, कई सुधारक पैदा हुए और आखिर में कैथोलिक चर्च को भी अपना तन्त्र सुधारने पर मजबूर होना पड़ा। यह सब कैसे हुआ ?

धर्म-सुधार क्यों शुरू हुआ ?

कैथोलिक चर्च के प्रसार में ईसाई धर्म की सादगी, सेवा-भाव और प्रारम्भ के सन्तों, जैसे सन्त पीटर, के आचरण का बहुत बड़ा हाथ था। धीरे-धीरे चर्च के अनुयायी अपने आस-पास के लोगों को प्रभावित करने में सफल हो गये। चाहे वह गांव का पादरी हो या जीवन-भर के लिए चुना गया पोप, वह समाज के लिए आदर्श प्रस्तुत करता था। व्यक्ति को सलाह, सान्त्वना और आशीर्वाद देता था। मनुष्य क्यों पैदा किया गया, मनुष्य और ईश्वर के क्या सम्बन्ध हों और मृत्यु के बाद मनुष्य का भविष्य जैसे विषयों की चर्च शास्त्रीय व्याख्या करता था। विभिन्न संस्कारों के माध्यम से जीवन में हर पल चर्च की उपस्थिति बनी रहती थी। संक्षेप में, चर्च व्यक्ति के लौकिक जीवन को अनुशासित करने, एक नैतिक जीवन बिताने और अन्त में साहसपूर्ण जीवन के साहसपूर्ण अन्त के लिए तैयार करता था। मध्ययुग के सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन में चर्च की यह भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी।

चर्च का विधान ऐसा था कि कई तरह के अधिकारी अपने-अपने क्षेत्र में निश्चित नियमों के आधार पर अपना कार्य करते थे। कभी-कभी साधारण सभाएँ होती थीं जिनमें विचार विमर्श होता था। लेकिन व्यवस्था को प्रजातान्त्रिक स्वरूप देने के प्रयास विफल हो चुके थे। पोप अपने अधिकारों पर कोई अंकुश स्वीकार करने को तैयार नहीं था। फलतः पूरा चर्च एक राजतन्त्र की तरह कार्य करता था जिसमें पोप की सत्ता सर्वोच्च थी और समझा जाता था कि वह कभी कोई गलती नहीं कर सकता (Pope is infallible)।

निस्सीम आस्था के कारण यह सब तर्कसंगत लगता था और जनता बिना किसी शंका के पूरी व्यवस्था को स्वीकार करती थी। जब कभी कोई विरोध होता भी था तो छुट-पुट व्यक्तिगत स्तर पर और उसे फौरन दबा दिया जाता था। चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में इंग्लैण्ड में जॉन विक्लिफ की आलोचना को दबा दिया गया और बोहेमिया में जॉन हस के विरोध करने पर उसे जिन्दा जला दिया गया। इन बातों से यह स्पष्ट होता है कि चर्च की बुराइयों की ओर लोगों की नजर पड़ने लगी थी।

पोप अब न केवल राजनीति में रुचि लेने लगे थे, वे बाकायदा यूरोप की राजनीति के एक निर्णायक तत्त्व बन चुके थे। व्यक्तिगत जीवन में भी वे एक

सम्पन्न गृहस्थ का जीवन बिताते थे। बाइबिल ने कहा था कि 'ऊंट का सुई के छेद से निकलना आसान है पर किसी धनिक का स्वर्ग पहुंचना मुश्किल है।' पर उसी बाइबिल के सर्वोच्च व्याख्याता राजप्रासादों में रहते थे और पुनर्जागरण शैली के विभिन्न निर्माणों के सबसे बड़े संरक्षक थे। व्यक्तिगत जीवन में ब्रह्मचारी और सन्त की तरह जीने के स्थान पर तरह-तरह के अनाचार करते थे। **अलेक्जेण्डर VI** (1492-1503) न केवल चरित्र-भ्रष्ट था, बल्कि निर्लज्ज होकर अपनी नाजायज सन्तानों को जीवन में आगे बढ़ाने के लिए हर तरह के प्रयत्न करता था। **जूलियस द्वितीय** (1505-1513) योग्य होते हुए भी केवल सैनिक कार्यों में दिलचस्पी लेता था और पोप को सैनिक योग्यता के लिए कौन श्रेय देगा? **लेम्रो X** (1513-1529) एक धनकुबेर का पुत्र था और पुनर्जागरण काल की विद्या और कला का संरक्षक था। पर वह अपनी शाहखर्ची के कारण तरह-तरह के आर्थिक भ्रष्टाचार करता था। यह हाल था उनका जो चर्च के लिए, समाज के लिए, आदर्श थे, जिन्हें धरती पर ईश्वर की छाया समझा जाता था!

यह भ्रष्टाचार सारे चर्च में व्याप्त था। चर्च का कोई भी पद बिक सकता था। सारा तन्त्र विलासिता का शिकार था। लेकिन जकड़ इतनी मजबूत थी कि अब छुप कर नहीं, खुले आम निर्धारित नियम-अनुशासन का उल्लंघन होता था और कोई जुबान तक नहीं हिला सकता था। पन्द्रहवीं शताब्दी में ही एक कार्डिनल ने स्पष्ट रूप से कह दिया था, 'हमारे विरुद्ध जनमानस में जहर भरता जा रहा है। जो थोड़ा बहुत सम्मान बचा है वह भी नष्ट हो जायेगा और इसकी सारी जिम्मेदारी चर्च के अधिकारियों की होगी।' पर किसे फुरसत थी कि इन बातों पर ध्यान दे?

चर्च में फैले भ्रष्टाचार का सीधा सम्बन्ध जनता के आर्थिक शोषण से था। शुरू में समाज को समर्पित चर्च के व्यक्तियों के लिए हर व्यक्ति द्वारा दान की व्यवस्था थी। चर्च की शक्ति बढ़ी तो यह दान अनिवार्य कर बन गया और हर व्यक्ति को अपनी आय का दशमांश चर्च को देना पड़ता था। एक तरफ चर्च की सेवा कम होने लगी दूसरी ओर आवश्यकता अनुसार कर बढ़ने लगे। निश्चित कर के अतिरिक्त हर व्यक्ति भेंट उपहार के रूप में चर्च को चढ़ावा देता ही रहता था। जैसे बड़े व्यवसायी पर लगा हुआ कर छन कर अन्त में साधारण उपभोक्ता तक आ पहुँचता था, वैसे ही पोप की आवश्यकता या उसकी खुशी के लिए अधिकारियों द्वारा दिया गया धन अन्त में जनता का बोझ बन जाता था। इस प्रकार न केवल इस बात के लिए असन्तोष था कि चर्च के अधिकारी ऐसी सेवाओं के लिए धन लेते थे जो अनुपलब्ध थीं, इस बात पर भी क्षोभ था कि धन विदेश (रोम) चला जाता था।

शोषण का निकृष्टतम रूप क्षमा-पत्रों (Indulgences) की बिक्री के समय प्रकट होता था। ईसाई धर्म में प्रायश्चित्त का बड़ा महत्त्व था। प्रायश्चित्त का आधार शायद यह विश्वास है कि एक बार हृदय से अपनी भूल स्वीकार करने पर व्यक्ति वह भूल दुहरायेगा नहीं। ऐसी स्थिति में यदि कोई ईसाई किसी पादरी के सामने अपने पाप स्वीकार कर लेता था (Confession) तो उसे क्षमा योग्य समझा जाता था। जाहिर था कि क्षमा का सब से अधिक अधिकार सबसे बड़े अधिकारी पोप को था। वह पूरी तरह क्षमा भी नहीं कर सकता था। केवल वादा कर सकता था कि यदि व्यक्ति वास्तव में प्रायश्चित्त करे और जीवन को सही कार्यों में लगाये तो उसके पाप पूर्णतः या अंशतः क्षमा किये जा सकते हैं। लेकिन अपने विकृत रूप में क्षमा-पत्र स्वर्ग के टिकट की तरह बेचे जाते थे और एक बार क्षमा-पत्र 'खरीद' लेने के बाद व्यक्ति न केवल पापमुक्त हो जाता था, अपितु यह समझा जाता था कि वह भविष्य में भी गलतियाँ करे तो क्षमा किया जायेगा। इस प्रकार क्षमा-पत्रों की बिक्री पापपूर्ण व्यवसाय था।

चर्च द्वारा हो रहे आर्थिक शोषण से राजा और धनिक दोनों ही क्षुब्ध थे। विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के कारण शासक वर्ग चर्च द्वारा वसूले गये धन को अपने हिस्से की चोरी समझता था। धनिक लोगों को यह एतराज था कि चर्च का धन उत्पादक नहीं होता। पूँजीवादी व्यवस्था की शुरुआत हो चुकी थी और वह धन बेकार समझा जाने लगा था जो पूँजी बन कर उत्पादन में न लगे। इस प्रकार जनता, व्यापारी, शासक, सभी चर्च की आर्थिक नीति से संतप्त थे।

इस धार्मिक और आर्थिक असंतोष के बीच एक राजनैतिक तत्त्व महत्त्वपूर्ण बन गया। पुनर्जागरण के समय में ही राष्ट्रीय जागरण बढ़ने लगा था। अनेक देश राष्ट्रीय राजतन्त्र की ओर बढ़ रहे थे। उनके मार्ग में अपनी विराटता के कारण पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) और चर्च दोनों ही व्यवधान थे। चर्च राज्यों के अधिकारों में बराबर हस्तक्षेप करता था और प्रायः पोप की सम्राट् से मिलीभगत होती थी। इसलिए चर्च और साम्राज्य का एक साथ विरोध होने लगा था।

यह स्पष्ट हो चुका होगा कि यूरोपीय समाज के हर वर्ग में किसी न किसी कारण असंतोष था। मानववादी विचारकों ने ऐसी पृष्ठभूमि बना दी थी कि विरोध का आसानी से दमन नहीं किया जा सकता था। सोलहवीं शताब्दी में किसी विक्लिफ या हस को सम्राट् या पोप आसानी से मरवा नहीं सकता था। स्थिति पूरी तरह अनुकूल थी। बस योग्य नेतृत्व की आवश्यकता थी। वह नेतृत्व प्रदान किया मार्टिन लूथर ने।

मार्टिन लूथर (1483-1546)

लूथर का जन्म जर्मनी के एक किसान परिवार में हुआ था। किसानों की शक्ति और सरलता तो उसमें थी ही, उसमें एक प्रकार की जिद और बौद्धिक प्रखरता भी थी। उसके पिता उसे वकील बनाकर घर की प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहते थे। गाढ़ी कमाई खर्च करके उसे विश्वविद्यालय भेजा गया। लेकिन कानून की जगह उसने धर्मशास्त्र का अध्ययन शुरू कर दिया। उसका मन उद्वेलित रहने लगा। तरह-तरह की शंकाएँ उठने लगीं और शंका, जिज्ञासा, तर्क और विवेक का निकट का सम्बन्ध है। फिर भी उसकी आस्था अडिग थी। वह आगस्टीनियन भिक्षुओं में शामिल हो गया और विटेनवर्ग विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त हो गया। वहाँ उसे अध्ययन का और मौका मिला। परम्परा के अनुसार केवल चर्च मनुष्य की मुक्ति की राह बता सकता था। उसके द्वारा बताये गये कार्य करने से ही मनुष्य का उद्धार हो सकता था। लूथर का विश्वास दृढ़ होता जा रहा था कि केवल आस्था और विश्वास से मुक्ति मिल सकती है। उसने रोम की यात्रा की। अभी तक वह पूरी तरह श्रद्धालु था। रोम पहुँच कर उसे भावोद्रेक हो गया। उसने कहा, 'पवित्र रोम! शहीदों के खून ने तुम्हें पवित्र बनाया है। मेरे शत शत प्रणाम स्वीकार करो।' लेकिन रोम की यात्रा में उसका मोह भंग अवश्य हुआ होगा जैसा कि हर विवेकपूर्ण तीर्थ यात्री का होता है, तीर्थ-स्थानों पर फैले भ्रष्टाचार को देखकर। उसे लगने लगा कि केवल माला जपने या बाह्याडम्बर से मुक्ति नहीं मिल सकती। इसी बीच एक ऐतिहासिक घटना घटी।

1517 में क्षमा-पत्रों की बिक्री करता हुआ पोप का एक प्रतिनिधि टेटजेल विटेनवर्ग पहुँचा। पोप को सन्त पीटर के गिरजाघर के लिए रुपयों की आवश्यकता थी। क्षोभ हर ओर व्याप्त था लेकिन मार्टिन लूथर अकेला था जिसने साहस बटोर कर मासूम जनता के साथ किये जा रहे इस मजाक और शोषण का विरोध किया। उसने कहा कि यह धर्म के मूल सिद्धान्तों की अवहेलना है। उसने इस तरह की पचानवे बातें (95 Theses) लिखकर एक गिरजाघर के दरवाजे पर चिपका दीं। तहलका मच गया। लोग उमड़-घुमड़ कर उसे देखने और समर्थन करने आने लगे। कुछ लोग ऐसे भी थे जो तटस्थ थे या घबड़ाये हुए थे इस विरोध-पत्र से। उसकी इस बात से लोग बहुत प्रभावित थे कि 'जिसने प्रायश्चित्त कर लिया उसे तो ईश्वर पहले ही क्षमा कर देता है। उसे क्षमा-पत्र की क्या आवश्यकता है।' ये बातें पहले लैटिन में लिखी गई थीं लेकिन शीघ्र ही उनका जर्मन अनुवाद हुआ। और दूर-दूर तक उन पर विचार-विमर्श शुरू हो गया।

लूथर अभी भी चर्च के अधिकार को खुली चुनौती नहीं दे रहा था। लेकिन पोप ने लूथर के विरोध का महत्त्व नहीं समझा। उसने उसे भिक्षुओं के बीच तू तू मैं मैं (Squabble Among Monks) कह कर टाल दिया। लेकिन 1519 आते आते बात साफ हो गई। एक कैथोलिक धर्मशास्त्री जॉन डक से बहस के दौरान उसने साफ साफ कह दिया कि वह नहीं मानता कि पोप और चर्च की साधारण सभा गलतियां नहीं कर सकते। यह चर्च की निरंकुश सत्ता पर उठाया गया प्रश्न था जिसके परिणाम साधारण नहीं हो सकते थे।

इस बीच उसने तीन पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं। 'जर्मन सामन्त वर्ग को सम्बोधन' (An Address to the Nobility of the German Nation) में उसने चर्च की अपार सम्पत्ति का वर्णन करते हुए जर्मन शासकों को विदेशी प्रभुत्व से मुक्त होने के लिए प्रेरित किया। उसने साफ साफ कहा कि चर्च के तन्त्र में पवित्रता नाम की कोई चीज नहीं है। 'ईश्वर के चर्च की कैद' (On the Babylonian Captivity of the Church of God) में उसने पोप और उसकी व्यवस्था पर प्रहार किया। 'मनुष्य की मुक्ति' (On the Freedem of Christian Man) में उसने अपने मुक्ति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और ईश्वर की अनुकम्पा पर अटूट विश्वास की प्रतिष्ठा की।

इन पुस्तिकाओं द्वारा उसने चर्च की कमजोरियों पर प्रहार किया, चर्च और सम्राट् के विरोधी जर्मन शासकों को निकट लाने का प्रयास किया और कैथोलिक चर्च का एक विकल्प प्रस्तुत किया।

लूथर के कार्यों से पोप बेहद क्षुब्ध था। उसने लूथर को धर्मच्युत कर दिया। पोप की आज्ञा को लूथर ने सबके सामने जला कर विद्रोह का झंडा ऊँचा रखा। 1529 में वर्म्स में जर्मन राज्यों की सभा में सम्राट् ने उसे बुलाया। मित्रों ने उसे समझाया कि वह न जाय। उसकी जान ली जा सकती है पर उसने साहस पूर्ण ढंग से उत्तर दिया, 'मैं तो जाऊँगा भले ही वहाँ उतने दुश्मन हों जितनी सामने के घर में खपरैलें।' आखिर वह गया। राजाओं, सामन्तों और पादरियों की चमक दमक के बीच खड़े उस विद्रोही भिक्षु से अपनी बातें वापस लेने के लिए कहा गया। उसने कहा कि वह ऐसा कर सकता है यदि उसकी बातें तर्क और प्रमाण द्वारा काट दी जाएँ। अन्त में उसने कहा, 'मुझे यही कहना था। मैं इसके विपरीत नहीं जा सकता। ईश्वर मेरी रक्षा करेगा।' (Here I stand. I cannot do otherwise. God help me.) वर्म्स में ही उसकी रचनाओं को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया और उसे कानूनी सुरक्षा से वंचित कर दिया गया। उसके मित्र घबड़ाये हुए थे। उन्होंने उसे सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया। वहाँ वह कई वर्षों तक चुपचाप अध्ययन करता रहा। इसी बीच उसने बाइबिल का जर्मन अनुवाद किया जो न केवल अत्यन्त

लोकप्रिय हुआ बल्कि उसे आज भी जर्मन भाषा और साहित्य के विकास क्रम में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जाता है।

इसी बीच समझौते के प्रयत्न हुए। मानववादी मेलांकथन ने, जो लूथर जैसा उग्र न था, लूथर को समझाने का असफल प्रयत्न किया। लूथर ने जिन सुधारों की बात की उन्हें जब नहीं माना गया तो उसने विरोध (Protest) किया। धीरे धीरे उसे और उसके अनुयायियों को प्रोटेस्टेण्ट (Protestant) कहा जाने लगा। बाद में अन्य कैथोलिक चर्च विरोधी लोग भी इसी नाम से जाने गये।

उसके विचार बहुत सुगम थे। उसने ईसा और बाइबिल की सत्ता स्वीकार की, लेकिन पोप और चर्च की दिव्यता और निरंकुशता को नकार दिया। चर्च द्वारा निर्धारित कर्मों के स्थान पर उसने आस्था को मुक्ति का साधन बताया। संस्कारों में उसने केवल तीन—नामकरण, प्रायश्चित्त और प्रसाद—(Baptism, Penance and Holy Eucharist) को ही माना। चर्च में चमत्कार पर बहुत विश्वास था। जनता को मूर्ख बनाने का यह एक आसान तरीका होता है और हर धर्म में इसका महत्त्व बताया गया है। स्पर्श मात्र से रोगी का ठीक हो जाना, ईसा को समर्पित रोटी और शराब का मांस और खून में परिवर्तित हो जाना आदि विश्वासों को उसने नहीं माना। अधिक से अधिक वह उन्हें प्रतीकात्मक ढंग से स्वीकारने को तैयार था। चर्च में व्याप्त आडम्बर को भी उसने नकारा और अपने लेखों और टिप्पणियों द्वारा जर्मनभाषी जनता में दूर-दूर तक अपने विचार फैलाये। उसके विचार लोकप्रिय हुए और राष्ट्रीय स्फूर्ति को बल मिला।

उसके प्रोटेस्टेण्ट अनुयायी उग्र होने लगे और जगह-जगह मूर्तियाँ तोड़ी जाने लगीं। मठों को लूटा जाने लगा। लूथर ने उग्रवादियों का विरोध किया।

इसी बीच दक्षिण-पूर्वी और मध्य जर्मनी के किसानों ने विद्रोह कर दिया। पन्द्रहवीं शताब्दी से ही उनका असंतोष मुखर होने लगा था। सामन्तों द्वारा शोषित किसान अपनी आर्थिक और सामाजिक विषमता से परेशान थे। उन्होंने जब लूथर के सिद्धान्तों की चर्चा सुनी तो आग भड़क उठी। उन्होंने समझा कि उन्हें नेतृत्व मिल गया। उनकी विशेष माँगें थीं—अर्ध गुलामी की स्थिति (Serfdam) का अन्त, न्यायपूर्ण कर-व्यवस्था, मनमाने ढंग से सजा देने, सामन्तों के शिकार सम्बन्धी विशेषाधिकारों और बेगार का अन्त। इन माँगों को धार्मिक आन्दोलन ने बल दिया।

शुरू में लूथर को इस आन्दोलन से सहानुभूति थी, लेकिन 1529 के बाद आन्दोलन के जनवादी और हिंसक चरित्र से वह घबड़ा गया। उसने शासकों

से आग्रह किया कि 'जैसे भी हो इसका दमन होना चाहिए।' बड़ी नृशंसता के साथ किसान विद्रोह दबा दिया गया और हजारों उत्साही किसान मारे गये।

लूथर ने ऐसा क्यों किया ?

इस प्रश्न का उत्तर मुश्किल नहीं है। वह जानता था कि अशान्ति बढ़ी तो उसके विचारों का प्रसार अवरुद्ध हो जायेगा और नेतृत्व उसके हाथ से निकल जायेगा। गरीब और निरक्षर किसानों से उसे बहुत सहायता नहीं मिल पायेगी यह वह जानता था। वह शासकों और मध्यमवर्ग के सहयोग से ही पनप सकता था और अन्त में उसने जनविरोधी फैसला किया। इससे उसका वर्ग चरित्र स्पष्ट हो गया कि उसका आन्दोलन केवल धनिकों के पक्ष में था। बाद में महान् विचारक वेबर ने इसे सिद्ध भी किया कि प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन का पूँजीवाद के विकास से गहरा सम्बन्ध है।

कुछ भी हो, किसानों की न्यायपूर्ण माँगें भी पूरी नहीं हो पाईं। लूथर शासकों में बहुत लोकप्रिय हो गया लेकिन लूथरवाद का प्रवाह रुक सा गया। जनता उससे विमुख हो गई।

सम्राट् **चार्ल्स पंचम** अन्य समस्याओं में उलझा हुआ था। 1530 के बाद उसने लूथरवाद को दबाना चाहा। 1545 में ट्रेण्ट में एक सभा हुई। पर प्रोटेस्टेण्ट लोगों के सम्बन्ध में कोई निर्णय सर्वसम्मति से नहीं लिया जा सका। सम्राट् का एक और प्रयास विफल हुआ। जर्मन प्रोटेस्टेण्ट शासकों ने एक संघ बना लिया। यह सम्राट् के विरुद्ध पहला राष्ट्रीय कार्य था। धीरे-धीरे प्रोटेस्टेण्ट और कैथोलिक शासकों के बढ़ते तनाव ने गृहयुद्ध का रूप ले लिया। बाह्य शक्तियों ने भी राजनीतिक हित में हस्तक्षेप करना शुरू किया। युद्ध का अन्त **ऑगसबर्ग** की सन्धि के बाद ही हुआ।

1546 में लूथर की मृत्यु हो गई। सुधारवादियों के इतिहास में लूथर का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक युग का आह्वान करने वालों में उसे गिना जा सकता है। जीवन भर उसने अभूतपूर्व साहस का परिचय दिया और जिसे ठीक समझा वही किया। लोकप्रियता के लिए अपने विचारों के विरुद्ध वह कोई काम नहीं कर सकता था। रूढ़िग्रस्त यूरोपीय समाज में जागृति तो आ रही थी। वह स्वयं इसका प्रमाण था, लेकिन किसी में इतना साहस नहीं था कि चर्च की निरंकुशता को चुनौती दे। चर्च की सारी व्यवस्था जर्जर और बुरी तरह बदनाम हो गई थी लेकिन दबदबा इतना था कि अस्वीकृति का स्वर मुखरित नहीं हो पाता था। लूथर की आस्था जब डगमगाई तो उसने आगे बढ़कर विरोध करने में संकोच नहीं किया। अचानक जो जिम्मेदारी उस पर आई इसके लिए शायद वह तैयार

नहीं था। उसने नीति और कार्यान्वियन सम्बन्धी कई गलतियाँ कीं पर उनसे लूथर का महत्त्व कम नहीं होता।

उसने राष्ट्रीयता और मध्यमवर्ग की बढ़ती हुई शक्ति को पहचान लिया था। उन्हीं को उसने बढ़ावा दिया। चर्च में इकट्ठा होते निरुत्पादक धन को रोक कर उसने व्यवसाय को परोक्ष रूप से बढ़ाया और पूँजीवादी व्यवस्था की जड़ें मजबूत होने लगीं।

उसने जर्मन भाषा का जैसा उपयोग किया वह भी प्रशंसनीय है। धीरे-धीरे उसका प्रसार उत्तरी जर्मनी के बाहर डेनमार्क, स्वीडन और नारवे तक हो गया। अपने जीवन-काल ही में उसे प्रोटेस्टेण्ट विचारों के स्थायित्व पर भरोसा हो गया था पर वास्तव में औपचारिक स्वीकृति उसकी मृत्यु के दस वर्षों बाद ही मिल पाई।

ऑग्सवर्ग की सन्धि

जीवन भर संघर्षरत सम्राट् चार्ल्स ने थक कर राज्य का परित्याग कर दिया। उसके भाई फर्डिनेण्ड ने ही अन्त में प्रोटेस्टेण्ट लोगों से समझौते की नीति अपनाई। 1555 में ऑग्सबर्ग नामक स्थान पर जर्मन शासकों की सभा (Diet) में एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। सन्धि के अनुसार : 1. हर शासक को (जनता को नहीं) अपना और अपनी प्रजा का धर्म चुनने की स्वतन्त्रता दे दी गई। इस सिद्धान्त को लैटिन भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया गया—Cujus regio ejus religio. 2. 1552 के पहले प्रोटेस्टेण्ट लोगों ने चर्च की जो जायदाद अपने अधिकार में ले ली थी वह उनकी मान ली गई। 3. लूथरवाद के अतिरिक्त अन्य किसी वाद को मान्यता नहीं दी गई। 4. कैथोलिक क्षेत्रों में बसने वाले लूथरवादियों को अपना विश्वास छोड़ने पर मजबूर नहीं किया गया। 5. अन्त में, धार्मिक आरक्षण के सिद्धान्त के अनुसार प्रोटेस्टेण्ट बनने पर कैथोलिक बिशपों को अपना स्थान छोड़ना जरूरी हो गया।

इन शर्तों ने एक हद तक धार्मिक संघर्ष को सुलझाया पर बहुत त्रुटिपूर्ण ढंग से। सन्धि में व्यक्ति को नहीं शासक को धार्मिक स्वतन्त्रता दी गई थी जो बहुत दिनों तक मान्य नहीं हो सकती थी। फिर केवल लूथरवाद को मान्यता पक्षपातपूर्ण और गलत थी क्योंकि ज्विग्ली और काल्वै के अनुयायियों को भी वही अधिकार मिलना चाहिए था। सम्पत्ति सम्बन्धी निर्णय भी अव्यावहारिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से गलत था और कैथोलिक लोगों के साथ पक्षपात बरता गया था। परिणाम यह हुआ कि ऑग्सबर्ग की सन्धि धार्मिक कलह का निवारण नहीं कर सकी और अन्तिम फैसला करीब एक सौ वर्ष बाद वेस्टफेलिया की सन्धि द्वारा सम्पन्न हुआ।

ज़्विंग्ली (1484-1531)

कैथोलिक चर्च का विरोध करने वाला मार्टिन लूथर अकेला नहीं था। उसके जीवन-काल ही में स्विटजरलैण्ड में ज़्विंग्ली एवं पहले फ्रांस फिर जेनेवा में काल्वें भी नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहे थे।

उस समय स्विटजरलैण्ड पवित्र रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत था पर वास्तव में उसके तेरह जिले (कैण्टन) स्वतन्त्र गणतन्त्रों की तरह थे। ज़्विंग्ली ने धर्म-ग्रन्थों का विशद अध्ययन किया था। वह भी क्षमा-पत्रों का विरोधी था। उसके विरोध ने उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ानी शुरू कर दी। उसने ज्यूरिख को अपना केन्द्र बनाया और अपने देश की गणतन्त्रात्मक पद्धति के सहारे धर्म को नये ढंग से परिभाषित करना शुरू किया। उसने हमेशा इस बात पर जोर दिया कि वह लूथरवाद से अलग एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय का प्रवर्तक है। लूथर और ज़्विंग्ली के बीच सम्पर्क तो स्थापित हुआ पर मतैक्य न हो सका क्योंकि दोनों की कार्य-पद्धति भिन्न थी। 1525 में उसने रोम से अलग होकर एक 'रिफार्म्ड चर्च' (Reformed Church) की स्थापना कर ली।

उसके विरोध का राजनैतिक आधार भी था। जैसे नेपाल के गुरखा सैनिक नेपाल की सेना के अलावा भारत और इंग्लैण्ड की सेनाओं में भर्ती हो जाते हैं, वैसे ही स्विस सैनिक भी किसी देश की सेना में भर्ती हो जाते थे। यह स्विटजरलैण्ड के लिए अपमान की बात थी। वह जानता था कि इस कार्य में अपने स्वार्थों के लिए चर्च का भी हाथ रहता था। चर्च की व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टता के अलावा पोप की सर्वोच्चता के सिद्धान्त ने भी उसे विरोधी बनाया। वह बाइबिल को धर्म का एक मात्र स्रोत मानता था। वह पादरियों के कुआँरेपन का भी विरोधी था। उसने स्वयं विवाह किया और उसके अनुयायी हर तरह से चर्च की अवहेलना करने लगे।

उसका प्रभाव धीरे-धीरे ज्यूरिख और बर्न नामक नगरों पर पूरी तरह स्थापित हो गया। लेकिन पिछड़े हुए इलाकों के लोग कट्टर कैथोलिक बने रहे। जब ज़्विंग्ली ने उन्हें वलपूर्वक अपनी ओर करना चाहा तो स्विटजरलैण्ड में एक गृहयुद्ध शुरू हो गया। ज़्विंग्ली स्वयं लड़ता हुआ मारा गया और कैथोलिक शक्तियों की जीत हो गई। अन्त में कापेल्न की सन्धि द्वारा 1531 में वही निर्णय हुआ जो लूथरवाद के संदर्भ में पच्चीस वर्षों बाद ऑग्सबर्ग में हुआ, अर्थात् धर्म के सम्बन्ध में अन्तिम अधिकार स्थानीय सरकारों को मिल गया। फलत: आज भी जर्मनी की तरह स्विटजरलैण्ड में भी कुछ लोग कैथोलिक हैं और कुछ प्रोटेस्टेण्ट।

कात्वैं (1509—1564)

यद्यपि धर्म-सुधार-आन्दोलन शुरू करने का श्रेय लूथर को है, काल्वैं पहला सुधारक था जो अटूट विश्वास के साथ एक ऐसा पवित्र सम्प्रदाय स्थापित करना चाहता था जो किसी देश तक सीमित न रहे और जिसका क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय हो। उसे कुछ अर्थों में लूथर से भी अधिक सफलता मिली।

काल्वैं फ्रांस के नोयों नगर का रहने वाला था और उसके मां-बाप उसे पादरी बनाना चाहते थे। उसने चर्च की छात्रवृत्ति पर पेरिस में धर्म और साहित्य का गहरा अध्ययन किया। लेकिन शायद धर्म की स्थिति देखते हुए उसके पिता ने उसे वकील बनने की सलाह दी और काल्वैं कानून के अध्ययन में रत हो गया। एक दिन उसे जैसे बोध हुआ और उसे लगा कि वह एक निश्चित उद्देश्य लेकर धरती पर आया है। उसे लगा कि वह कैथोलिक चर्च में सुधार नहीं करना चाहता बल्कि वह तो एक अलग ईसाई सम्प्रदाय की स्थापना करेगा जो सर्वथा पवित्र और कारगर हो।

फ्रांस में चर्च का विरोध शुरू नहीं हुआ था। पर लोग चर्च की कमजोरियों के प्रति सजग तो थे ही। लूथर के प्रशंसक और एकाध अनुयायी भी बन रहे थे। काल्वैं को दृढ़ विश्वास हो गया कि उसे अपने विचार अकाट्य तर्कों के आधार पर रखने होंगे तभी वह कैथोलिक चर्च का सफल विरोध कर सकेगा।

उसने चर्च से सम्बन्ध तोड़ लिये और अपने विचार लोगों के सामने रखने शुरू किये। उसकी युवावस्था के बावजूद उसके प्रशंसक तेजी से बढ़ने लगे। उसे एकान्त की आवश्यकता थी। वह अध्ययन, चिंतन, मनन, करना चाहता था। फ्रांस के शासक **फ्रांसिस** ने उस पर प्रतिबन्ध लगाना चाहा। इससे उसकी मदद ही हुई और वह फ्रांस छोड़ कर स्विजट्रलैण्ड चला गया। वहां वह ज्विग्ली के सम्पर्क में आया। वहीं उसने कैथोलिक चर्च के समानान्तर प्रोटेस्टेण्ट चर्च के सिद्धान्त प्रतिपादित करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'ईसाई धर्म के आधारभूत सिद्धान्त' (Institutes of Christion Religion) लिखी। पुस्तक फ्रांसिस को समर्पित थी। अभी भी वह फ्रांस लौटना चाहता था और उसे आशा थी कि शायद फ्रांसिस उसके तर्कों से प्रभावित होकर उसकी बात मान ले। फिर तो पूरा फ्रांस उसका अनुयायी हो जाता और उसे अभूतपूर्व सफलता मिल जाती। पर ऐसा हुआ नहीं। फ्रांसिस पर पुस्तक का कोई असर नहीं हुआ। हो सकता है उसने पुस्तक पढ़ी ही न हो।

बहरहाल वह अब तक की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक थी। इतने तर्कपूर्ण

और विद्वत्तापूर्वक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किसी ने नहीं किया था। उसने ज्विंग्ली और लूथर के विचार लिये थे पर व्याख्या सर्वथा उसकी अपनी थी। पुस्तक तेजी से लोकप्रिय हुई और ऐसा लगा कि शायद सारे चर्च विरोधी इस पुस्तक के आधार पर संगठित हो सकेंगे पर उसमें और लूथर में इतना अधारभूत अन्तर था कि ऐसा सम्भव नहीं हो सका।

1536 में काल्वैं जेनेवा गया। नगर में पहले से ही राजनैतिक और धार्मिक आन्दोलन चल रहा था। उसमें अद्‌भुत संगठन-शक्ति थी। उसने नगरवासियों को संगठित किया और उन्हें राजनैतिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता दिलाई। कृतज्ञ लोगों ने उसे नगर का प्रमुख धर्म-शिक्षक नियुक्त कर दिया। यहीं से नगर पर उसके निर्बाध और निरंकुश प्रभुत्व का प्रारम्भ हुआ।

शीघ्र ही जेनेवा एक धर्मप्रधान नगर राज्य बन गया जिसका काल्वैं सर्वोच्च नेता और नियन्ता था। चाहे धर्म सम्बन्धी कार्य हो या राजनैतिक तथा प्रशासकीय, उसका निर्णय अन्तिम होता था। उसने एक विशुद्ध नैतिकतावादी व्यवस्था कायम की जिसमें मनोरंजन तक को कोई स्थान नहीं था। जरा-सी चारित्रिक कमजोरी पर वह कठोर दण्ड देता था। वह स्वयं एक सादा जीवन बिताता था और नित्य धर्म की शिक्षा देता था। धीरे-धीरे सारे यूरोप में उसकी ख्याति बढ़ने लगी और दूर-दूर से लोग उसका शिष्यत्व ग्रहण करने आने लगे। उसने बाइबिल का फ्रेंच अनुवाद करवाया। स्कूल और विद्यालय खुलवाये। जेनेवा विश्वविद्यालय प्रोटेस्टेण्ट शिक्षा के लिए सारे यूरोप में विख्यात हो गया। वहां से शिक्षा प्राप्त लोगों से वह निरन्तर सम्पर्क बनाये रखता था और पत्रों द्वारा निर्देश देता रहता था। धीरे-धीरे प्रोटेस्टेण्ट लोगों में उसकी वही धाक हो गई जो कैथोलिक लोगों में पोप की थी। उसे प्रोटेस्टेण्ट पोप (Protestant Pope) कहा जाने लगा।

इतनी सफलता उसे अपने सिद्धान्तों एवं अनुशासन के कारण मिली।

उसके सिद्धान्तों का आधार ईश्वर की इच्छा की सर्वोच्चता है। ईश्वर की इच्छा से ही सब कुछ होता है। इसलिए मनुष्य की मुक्ति न कर्म से हो सकती है न 'आस्था' से। वह तो बस ईश्वर के 'अनुग्रह' से हो सकती है। मनुष्य के पैदा होते ही यह तय हो जाता है कि उसका उद्धार होगा या नहीं। इसे ही पूर्व नियति का सिद्धान्त (Doctrine of Predestination) कहते हैं। वैसे देखने पर इससे घोर भाग्यवादिता बढ़नी चाहिए थी किन्तु काल्वैंवाद ने इसके ठीक विपरीत एक उत्साह और दैवी प्रेरणा का संचार किया अपने अनुयायियों में। काल्वैंवादी यह समझ कर कार्य करने लगा कि यह तो उसकी नियति है और वह इससे अलग हो ही नहीं सकता।

उसने बाइबिल पर विश्वास रखा पर चर्च की उसकी कल्पना ऐसी थी

कि सभी धर्मपरायण लोगों की वह एक अमूर्त किन्तु जीवन्त संस्था बन जाये। पर वह व्यक्ति और ईश्वर के बीच कोई माध्यम नहीं बन सकता था। व्यक्ति का ईश्वर से सीधा सम्बन्ध हो सकता है। उसने संस्कारों का महत्त्व और घटा दिया। व्यक्ति के पवित्र आचरण को उसने महत्त्व दिया।

इसके अतिरिक्त उसने सारा संगठन लोकतान्त्रिक ढंग पर किया। यद्यपि धार्मिक संगठन और राज्य अलग-अलग थे फिर भी धर्म सम्बन्धी निर्णय साधारण जनता व धर्म के अधिकारियों के प्रतिनिधि मिल-जुल कर लेते थे। उसने प्रौढ़ लोगों (Presbyters) को बहुत महत्त्व दिया। इसी कारण एक सम्प्रदाय का नाम ही Presbyterianism पड़ गया।

नैतिक अनुशासन पर उसने बहुत बल दिया। एक समिति हमेशा लोगों पर नजर रखती थी और तनिक चूक पर कठोर सजा दी जाती थी। आचरण और व्यवहार में काल्वैंवाद के तनिक भी विरुद्ध जाने पर मौत तक की सजा दी जाती थी। इस तरह अपने अनुयायियों के बीच जनतान्त्रिक होते हुए भी दूसरों के प्रति काल्वैंवाद असहिष्णु था।

काल्वैं के विचार पहले तो स्विट्जरलैण्ड के कुछ जिलों में स्वीकार किये गये। उसकी जन्मभूमि फ्रांस में जहां लूथरवाद को कोई सफलता नहीं मिली थी, उसका प्रचार धीरे-धीरे बढ़ने लगा। काल्वैंवाद विशेष रूप से मध्यम-वर्ग में काफी लोकप्रिय हुआ। फ्रांस में काल्वैं के अनुयायी यूगनों (Huguenots) कहलाते थे। संख्या में कम होते हुए भी इनका प्रभाव अधिक था और कभी-कभी तो ये अपने अधिकारों के लिए सशस्त्र संघर्ष तक करते थे। उत्तरी नीदरलैण्ड्स में बहुमत काल्वैंवादी हो गए और वहाँ एक नये सम्प्रदाय (Dutch Reformed Religion) की स्थापना हुई। लूथर के कार्य-क्षेत्र जर्मनी में भी काल्वैंवाद का प्रसार हुआ और अन्त में उसे मान्यता भी मिली। पूर्वी यूरोप भी अछूता नहीं बचा। स्कॉटलैण्ड में **जॉन नॉक्स** ने काल्वैंवाद की प्रेरणा से उसी के उदाहरण का अनुकरण करके सारे स्काटलैण्ड को तमाम संकटों के बावजूद काल्वैंवादी बना दिया। इस तरह सत्रहवीं शताब्दी आते-आते अपने कट्टर अनुशासन के कारण काल्वैंवाद सारे यूरोप में फैल गया और कहीं-कहीं तो पूरे के पूरे क्षेत्र इसके अनुयायी बन गये।

लूथर और काल्वैं : एक तुलना

दोनों धर्म-सुधारकों के व्यक्तित्व सिद्धान्त और कार्य-प्रणाली में बहुत अन्तर था। दोनों ने करीब-करीब एक ही समय कैथोलिक चर्च का विरोध कर अलग सम्प्रदाय खड़े किये। दोनों ही ने ईसा मसीह और बाइबिल को पूर्णतः स्वीकार किया और पोप की सत्ता को नकारा। दोनों ने विशेषकर

मध्यमवर्ग को प्रभावित किया। दोनों ने आडम्बर का विरोध किया लेकिन उनके सुधार के तरीके सर्वथा भिन्न थे।

लूथर एक जर्मन किसान बना रहा और चर्च को बिना पूरी तरह नकारे जर्मनी के राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर थोड़े से परिवर्तन करके संतुष्ट रहा। काल्वैं एक सुसंस्कृत फ्रांसीसी था। उसने सूक्ष्म अध्ययन के बाद अपने धर्म के सभी अनुयायियों का अन्तर्राष्ट्रीय और मूलतः भिन्न संगठन बनाया। लूथर राजा और धर्म के बीच स्पष्ट रेखा नहीं खींच सका, लेकिन काल्वैं दोनों के कार्य-क्षेत्रों में स्पष्ट विभाजन करता था। लूथर ने तीन संस्कारों को माना और वह चमत्कारों को प्रतीक के रूप में स्वीकार करने को तैयार था। काल्वैं ने केवल दो संस्कार माने और चमत्कारों को बिल्कुल नकार दिया। लूथर आस्था को मुक्ति का आधार मानता था। काल्वैं के लिए कर्म या आस्था से कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि व्यक्ति की नियति पहले से निश्चित होती है। लूथर ने परम्पराओं को किसी हद तक स्वीकार किया लेकिन काल्वैं ने सर्वथा नये ढंग से धर्म की व्याख्या की। लूथर ने धर्म के संगठन के क्षेत्र में कोई सुनियोजित और व्यवस्थित तन्त्र नहीं बनाया। राजतन्त्रीय व्यवस्था को मानने के कारण राज्य के माध्यम से ही लूथरवाद का प्रचार-प्रसार हुआ। दूसरी ओर काल्वैं पूरी तरह लोकतान्त्रिक व्यवस्था को मानता था यद्यपि यह विरोधाभास उसमें मिलता है कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था में भी उसकी अपनी निरंकुशता बनी हुई थी। लूथर जर्मन शासकों के प्रभाव से कभी मुक्त नहीं हो सका बल्कि उनके हित में उसने किसानों के दमन का समर्थन किया, लेकिन काल्वैं अपेक्षतया राजनैतिक प्रभाव से मुक्त था। लूथर ने अपने अनुयायियों के चरित्र और आचार व्यवहार पर विशेष ध्यान नहीं दिया लेकिन काल्वैं ने चारित्रिक अनुशासन को अत्यधिक महत्त्व दिया। कुल मिला कर यह भी कह सकते हैं कि लूथर अपेक्षतया लचीला था जब कि काल्वैं बहुत कट्टर था।

और सूक्ष्म विश्लेषण करें तो लगेगा कि कैथोलिक चर्च से सामन्तवादी व्यवस्था को बल मिलता था। पुनर्जागरण के बाद जो नई अर्थ-व्यवस्था जन्मी उसके लिए धर्म जैसी निर्णायक चीज का स्वरूप बदलना आवश्यक हो गया। लूथर और काल्वैं ने अपने-अपने ढंग से सुधार किये लेकिन उसका लाभ निश्चित रूप से मध्यमवर्ग, व्यवसायियों, असंतुष्ट सामन्तों और नगर के धनिकों को ही पहुँचा। इस दृष्टि से दोनों में कोई अर्थगत अन्तर नहीं था।

आंग्ल धर्म (Anglicanism)

इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टेण्ट चर्च की स्थापना सर्वथा भिन्न परिस्थितियों में हुई। वहाँ लूथर, काल्वैं या नॉक्स जैसा कोई सुधारक नहीं हुआ। पन्द्रहवीं शताब्दी

के अन्त में इंग्लैण्ड में ट्यूडर वंश का राज्य स्थापित हो चुका था। इंग्लैण्ड के लोग पूरी तौर पर कैथोलिक थे। लेकिन राष्ट्रीय भावना के उदय से पोप विदेशी लगने लगा था। हर वर्ष रोम को जाने वाला धन भी इंग्लैण्ड की जनता और शासक को क्षुब्ध करता था। कैथोलिक चर्च की बुराइयाँ इंग्लैण्ड में भी व्याप्त थीं। लूथरवाद का प्रसार होते ही उसका प्रभाव इंग्लैण्ड के बुद्धिजीवियों में, विशेषकर कैम्ब्रिज और आक्सफोर्ड में, पड़ने लगा था। एरासमस इंग्लैण्ड में खूब पढ़ा जाता था। अंग्रेज मानववादी कोलेट और मोर लगातार सुधार की बात कर रहे थे। राष्ट्रीय स्वाभिमान से ओत-प्रोत **हेनरी अष्टम** कोई भी अंकुश, भले ही वह पोप का ही क्यों न हो, स्वीकार करने को तैयार नहीं था। फिर भी वह पक्का कैथोलिक बना रहा। लूथरवाद का प्रादुर्भाव हुआ तो उसने उसकी आलोचना में एक पुस्तक लिखी—'The Defence of the Seven Sacraments' और उसे पोप को भावभीनी भाषा में समर्पित किया। पोप ने प्रसन्न होकर हेनरी को 'धर्मरक्षक' (Fidei Defensor) की उपाधि दी। यूरोपीय राजनीति में वह पोप का साथ देता था और चर्च के कार्डिनल टामस वूल्जे को अपना प्रमुख सलाहकार मानता था। यह सब होते हुए भी एक ऐसी परिस्थिति आई कि रोम से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। वह परिस्थिति नितान्त व्यक्तिगत थी।

हेनरी ने अपने बड़े भाई की मृत्यु पर उसकी पत्नी कैथरिन को अपनी पत्नी स्वीकार किया था। उनमें धार्मिक पद्धति से विवाह नहीं हुआ था। सम्राट् चार्ल्स कैथरिन का भतीजा था। इसलिए कैथरिन का एक विशिष्ट स्थान था। वर्षों तक हेनरी और कैथरिन सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते रहे और उनके छः सन्तानें हुई। लेकिन समय के साथ दोनों के सम्बन्ध शिथिल होते गए।

कैथरिन उम्र में हेनरी से बड़ी थी। आत्मकेन्द्रित होने के साथ ही वह धर्मपरायण और परम्परावादी थी। इसके विपरीत हेनरी एक खुशमिजाज, जीवन में रुचि लेने वाला उच्छृङ्खल व्यक्ति था। दोनों के स्वभाव की विपरीतता वक्त के साथ स्पष्ट हो चली थी। एक कटु सत्य यह भी था कि हेनरी के कोई पुत्र नहीं था और उत्तराधिकार के लिए पुत्र की आकांक्षा होना स्वाभाविक था। यह सब बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं था लेकिन कुछ दिनों से उसे अपनी प्रमुख परिचारिका ऐन बोलीन से प्यार हो गया था। वह उसे अपनी पत्नी बनाना चाहता था। पर यह तभी सम्भव था जब कैथरिन से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय और यह मुश्किल था।

उसने पोप की आज्ञा से ही कैथरिन को पत्नी बनाया था। अब वह चाहता था कि पोप ही उस विवाह को अमान्य कर दे और हेनरी मुक्त हो

जाये । पोप हेनरी के लिए यह कर तो सकता था लेकिन पोप क्लीमेण्ट सप्तम एक पोप द्वारा दी गई आज्ञा को दूसरे पोप द्वारा बदलने का गलत उदाहरण नहीं प्रस्तुत करना चाहता था । दूसरे उसे डर था कि कैथरिन के त्याग को उसका भतीजा सम्राट् चार्ल्स कभी पसन्द नहीं करेगा । ऐसी स्थिति में उसने टालने की नीति अपनाई । हेनरी ने कार्डिनल वूल्जे के माध्यम से पोप को मनाने की कोशिश की लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला । तब हेनरी ने खुलकर विरोध करने का निर्णय किया ।

सदियों से पोप के हस्तक्षेप और आर्थिक हानि के कारण असंतुष्ट इंग्लैण्ड में पोप विरोधी नीति अपनाने में कठिनाई नहीं हुई । सबसे पहले उसने रोम जाने वाले धन पर प्रतिबन्ध लगा दिया । फिर उसने क्रेनमर को कैण्टरबरी का बिशप बनाया और उससे अपने और कैथरिन के सम्बन्ध-विच्छेद की आज्ञा घोषित करवाई और ऐन बोलीन से विवाह कर लिया । पोप के लिए भी अब निर्णय लेना अनिवार्य हो गया । उसने हेनरी को धर्मच्युत घोषित कर दिया ।

अब औपचारिक रूप से इंग्लैण्ड और रोम की पृथक्ता की पृष्ठभूमि बन गई थी । हेनरी की राय से पार्लियामेण्ट ने कई कानून पास किये । रोम से विच्छेद को कानूनी रूप प्रदान किया और इंग्लैण्ड के शासक को इंग्लैण्ड के चर्च का सर्वोच्च अधिकारी 'Only Supreme Head on Earth of the Church of England' घोषित किया । इस कानून का उल्लंघन करने वाले के लिए मौत की सजा निर्धारित की गई ।

कैथोलिक चर्च से एक झटके में सम्बन्ध टूट गया । जिन उच्च पादरियों को यह स्वीकार्य नहीं हुआ उन्हें मौत की सजा दे दी गई । टामस मोर जैसे व्यक्ति को भी जान से हाथ धोना पड़ा । अनुकूल परिस्थितियाँ देखकर लूथर-वादियों ने अपना प्रभाव बढ़ाना चाहा पर यह उनकी गलती थी । हेनरी रोम से अलग होकर इंग्लैण्ड का स्वतन्त्र कैथोलिक चर्च बनाये रखना चाहता था । लेकिन मठ (मोनास्ट्री) जो चर्च के गढ़ थे और जिनमें अपार धन संचित था, हेनरी की नजर से बच नहीं सके । उसने इस संस्था का एक प्रकार से अन्त कर दिया । उसके समय में आंग्ल चर्च न पूरी तरह कैथोलिक रह सका न प्रोटेस्टेण्ट ।

हेनरी के उत्तराधिकारी युवा एडवर्ड के शासन-काल में उसके सलाह-कारों ने आँग्ल चर्च को प्रोटेस्टेण्ट स्वरूप प्रदान किया । सोमरसेट और क्रेनमर ने मिलकर गिरजाघरों से चित्र और सजावट के सामान हटवा दिये । प्रार्थनाएँ लैटिन के स्थान पर अंग्रेजी में होने लगीं । क्रेनमर ने 'English Book of Common Prayer' पुस्तक प्रकाशित करवाई और प्रसिद्ध 42 सिद्धान्तों (Forty two Articles of Religion) की घोषणा हुई । इनमें

प्रोटेस्टेण्ट और कुछ हद तक काल्वैंवादी विचारों को स्थापित किया गया। एडवर्ड 'का संरक्षक सोमरसेट अपना काम पूरा करने में पहले ही षड्यन्त्र का शिकार हो गया लेकिन दूसरे संरक्षक नार्थम्बरलैण्ड ने उसे पूरा किया। इसी बीच एडवर्ड, जो मानसिक रूप से अस्वस्थ था, मर गया जिससे प्रोटेस्टेण्ट सुधार की नीति को एक धक्का लगा।

कैथरिन की पुत्री, मेरी शासन की उत्तराधिकारी थी। वह अपनी माँ की तरह कट्टर कैथोलिक थी। उसने अपने दो पूर्ववर्ती शासकों के कार्यों को पूरी तरह नकार दिया। रोम से फिर सम्बन्ध स्थापित हुआ। पार्लियामेण्ट को अपने पास किये गये कानून बदलने पड़े। पोप की आज्ञा से पहले जैसी स्थिति लाने के लिए न केवल कानून पास किये गए बल्कि नये कानूनों के विरोधियों को जान से हाथ धोना पड़ा। क्रेनमर को जिन्दा जला दिया गया। अपनी कैथोलिक प्रवृत्तियों को पुष्ट करने के लिये मेरी ने उस समय के सब से अधिक कैथोलिक समर्थक शासक स्पेन के फिलिप द्वितीय से विवाह कर लिया। उसका यह कार्य घातक सिद्ध हुआ क्योंकि इंग्लैण्ड की जनता ने इसे राष्ट्रीय अपमान समझा। कानूनों के बावजूद प्रोटेस्टेण्ट विचारधारा फैलती रही। मेरी निःसन्तान मरी और शासन हेनरी तथा ऐन बोलीन की पुत्री एलिजाबेथ के हाथों में आ गया।

एलिजाबेथ बहुत योग्य शासक थी। उसे धर्म से उतना ही लगाव था जितना कि प्रशासन के लिए आवश्यक हो। इसलिए वह धर्म का इस्तेमाल राजनीतिक हितों के लिए करना चाहती थी। उसे समय की पहचान थी।

उसके शासन-काल में ही आँग्ल धर्म का अन्तिम स्वरूप निश्चित हुआ। आँग्ल चर्च जिसे एपिसकोपल चर्च (Episcopal Church) भी कहते हैं, की स्वतन्त्रता फिर से स्थापित हुई और क्रेनमर की पुस्तक को संशोधित करके फिर से प्रकाशित किया गया। बयालीस सिद्धान्तों को थोड़ा संशोधित करके उनतालीस सिद्धान्तों के नाम से फिर लागू किया गया। आंग्ल चर्च को वैधानिक सत्ता प्रदान करने के लिए 'सर्वोच्चता और एकरूपता का कानून' (Act of Supremacy and Uniformity) पास किया गया।

एलिजाबेथ ने बीच का रास्ता अपनाया। वह इंग्लैण्ड को उग्र प्रोटेस्टेण्ट नहीं बनाना चाहती थी। न ही वह कैथोलिक लोगों का अन्त करने के पक्ष में थी। राष्ट्रीय चर्च में शामिल न होने पर जुर्माना देना पड़ता था लेकिन उन्हें कोई शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता था। प्रोटेस्टेण्टवाद को धीरे-धीरे इंग्लैण्ड की जनता ने स्वीकार कर लिया। यद्यपि कुछ उग्र प्रोटेस्टेण्ट, विशुद्धतावादी 'प्युरिटन' और कट्टर कैथोलिक असंतुष्ट ही रहे, लेकिन एलिजाबेथ की योग्यता और दूरदर्शिता की वजह से आंग्ल चर्च स्थायी साबित हुआ।

कैथोलिक चर्च में सुधार (Counter Reformation)

धर्म-सुधार-आन्दोलन के कारणों के दो पक्ष थे। एक सकारात्मक, क्योंकि पुनर्जागरण काल में परिवर्तन की एक सजग आकांक्षा पैदा हुई थी; दूसरा नकारात्मक, क्योंकि कैथोलिक चर्च भ्रष्ट हो गया था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि कैथोलिक चर्च में समय के साथ सुधार हुआ होता तो लूथर और काल्वें जैसे सुधारकों को आसानी से सफलता नहीं मिलती। तेरहवीं शताब्दी से ही जब भी यथास्थिति को बदलने की कहीं से बात उठती तो उसे चुप कर दिया जाता था जैसे विक्लिफ और हस के साथ हुआ। परिवर्तन की इच्छा रखने वाले का चर्च विनाश कर देता था। पुनर्जागरण ने जो वातावरण पैदा किया उसमें कैथोलिक चर्च में सुधार होना ही चाहिए था, लेकिन सुविधा, जीवी और विलासी पोप हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। तथापि जब लूथर और काल्वें ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया तो कैथोलिक चर्च के लिए जीवन-मरण, अभी या कभी नहीं, का प्रश्न पैदा हो गया। इस प्रकार एक तरह की मजबूरी में कैथोलिक चर्च में भी सुधार शुरू हुआ। चूंकि यह धर्म-सुधार-आन्दोलन के समानान्तर और उसके प्रतिवाद में ही शुरू हुआ था अतः इसे काउण्टर रिफार्मेशन कहते हैं।

कैथोलिक चर्च की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि सर्वोच्च नेतृत्व के चरित्र पर ही संदेह हो चला था। लेकिन पाल तृतीय (1534–1549) के समय से पोप न केवल स्वयं अपेक्षतया गुण और आदर्श-सम्पन्न होने लगे, बल्कि अन्य पदों पर भी उपयुक्त और चरित्रवान व्यक्तियों की नियुक्ति होने लगी। योग्य पोपों के क्रम में पाल IV, पायस IV, पायस V, और ग्रेगरी XIII ऐसे पोप हुए जो पूरे चर्च को प्रेरित करने और उपयुक्त नेतृत्व प्रदान करने में सफल हुए। इस तरह आलोचना का बहुत बड़ा कारण समाप्त हो गया। लेकिन बुराई की जड़ें इतनी गहरी थीं कि इतने से ही काम चलने वाला नहीं था। कुछ अन्य ऐसे कार्य हुए जिन्होंने संगठन को बदला, नई स्फूर्ति पैदा की और आचरण व्यवहार द्वारा नये अनुयायी पैदा किये।

कैथोलिक चर्च को नया जीवन प्रदान करने वालों में इग्नेशियस लोयोला (Ignatius Loyola, 1491–1556) का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। स्पेन निवासी लोयोला एक बहादुर सैनिक था। युद्ध में आहत लोयोला अध्ययन में जुट गया। उस समय उसे कुछ सन्तों की जीवनियां पढ़ने को मिलीं। इस अध्ययन ने उसका सारा दृष्टिकोण ही बदल दिया। पेरिस जाकर उसने धर्म का और विशद अध्ययन किया और वह अपना सारा जीवन चर्च को समर्पित कर बैठा। उसने मुसलमानों के बीच मिशनरी कार्य करने के लिए एक संस्था

बनाई 'जेसस समाज' (Society of Jesus) जिसके सदस्य जेसूट (Jesuits) कहलाने लगे। उसका इरादा था पूरब के देशों में जाने का लेकिन परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं और वह रोम चला गया। वहाँ पोप पाल III उस से बहुत प्रभावित हुआ और 1540 में उसकी संस्था को चर्च की औपचारिक स्वीकृति मिल गई।

इस संस्था का पूरा संगठन सैनिक आधार पर था। हर सदस्य कठोर अनुशासन में बंधा हुआ था। उसे दीनता, पवित्रता, आज्ञापालन और पोप के प्रति समर्पण की शपथ लेनी पड़ती थी। अपने से ऊपर के अधिकारी की आज्ञा मानना अनिवार्य था। संगठन में एक अन्तर्निहित आक्रामकता थी क्योंकि लोयोला जानता था कि चर्च के जीवन-मरण का प्रश्न है। वह अपने अनुयायियों को केवल पवित्र जीवन के लिए नहीं, चर्च की रक्षा और प्रसार के लिए तैयार करता था।

शुरू से ही जेसूट लोगों ने शिक्षा को आधार बना कर शिक्षक के रूप में जो सद्भावना प्राप्त की वह आज भी कायम है। वे युवकों के सीधे सम्पर्क में आते थे और आसानी से उन्हें प्रभावित कर लेते थे। प्रचार कार्य में भी उनका मुकाबला करना मुश्किल था। शास्त्रों की उनकी तर्कपूर्ण व्याख्या से पादरी लोग भी प्रभावित होते थे। बाद में चल कर तो वे कूटनीतिक सेवाओं में भी कार्य करने लगे। अर्थ यह कि वे जहाँ थे अपना प्रभाव अवश्य छोड़ते थे।

उनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य विदेशों में हुआ। वे बहुत अच्छे मिशनरी थे और दूर दराज के देशों में कैथोलिक चर्च के नये क्षेत्र बनाने में अग्रगामी साबित हुए। अमेरिका से चीन तक ऐसे-ऐसे क्षेत्रों में वे गये जहां उस देश के निवासियों तक की पहुँच नहीं थी। चर्च का प्रभाव बढ़ाने के लिए राजनीति, कृषि, साहित्य, सेवा, आचार-व्यवहार—हर तरीका अपनाया गया और बहुतेरे ऐसे क्षेत्र बचा लिये गये जो निश्चित रूप से प्रोटेस्टेण्ट लोगों की चपेट में आ जाते। इटली, पोलैंड, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड हर कहीं उन्होंने कैथोलिक लोगों को आश्वस्त किया, परिवर्तन के लिए उन्मुख लोगों को रोका और परिवर्तित लोगों को फिर से कैथोलिक बनाया।

इस प्रकार लोयोला और जेसूट लोग कैथोलिक चर्च के लिए वरदान साबित हुए।

इसी समय चर्च की व्यवस्था में आन्तरिक सुधार और पुनर्मूल्यांकन का कार्य भी शुरू हो गया। पन्द्रहवीं शताब्दी में कई बार चर्च की साधारण सभा बुलाकर विचार विमर्श किया गया था। लेकिन किसी दबाव के अभाव में कोई नतीजा नहीं निकलता था। पर ट्रेण्ट की सभा (Council of

Trent) ने, जो कुछ अन्तराल के साथ 1545 से 1563 तक कार्यरत रही, सदस्यों की उत्कट प्रतिद्वन्द्विता के बावजूद, चर्च के सिद्धान्तों की नये सिरे से परिभाषा और व्याख्या की। ट्रेण्ट में जैसी सैद्धान्तिक एकरूपता स्थापित हुई वह अभूतपूर्व थी। सुधारवादी आन्दोलन के कारण यहाँ समझौतावादी लोग चर्च को एक बनाए रखने के लिए कुछ छूट देने के लिए तैयार थे। लेकिन पोप और जेसूट लोगों ने कड़ा रुख अपनाया और कोई समझौता नहीं हो सका।

यहाँ दो तरह के कार्य सम्पन्न हुए—सिद्धान्तगत और सुधार सम्बन्धी। चर्च के मूल सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन स्वीकार नहीं किया गया। उल्टे स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया कि बाइबिल की व्याख्या का एकमात्र अधिकार चर्च को है। सातों संस्कार अपरिवर्तनीय माने गए। मुक्ति का आधार चर्च के माध्यम से सम्पन्न कार्य बताये गए और चमत्कार में आस्था व्यक्त की गई। पोप को चर्च का सर्वोच्च अधिकारी और सर्वमान्य व्याख्याता स्वीकार किया गया। सारांश यह कि सैद्धान्तिक दृष्टि से परम्परागत रूप को ही फिर से दोहराया गया।

सुधार के क्षेत्र में चर्च के पदों की बिक्री समाप्त कर दी गई। अधिकारियों को निर्देश दिया गया कि वे अपने कार्य-क्षेत्र में रहकर आदर्श जीवन बिताते हुए सुविधाजीवी होने से बचें। पादरियों की उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया गया। धर्म की भाषा लैटिन ही रही लेकिन लोकभाषाओं का भी प्रयोग करने की आज्ञा मिल गई। क्षमा-पत्रों की बिक्री रोक दी गई और संस्कार सम्बन्धी कार्यों के लिए पादरियों के आर्थिक लाभ पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। अब एक अधिकारी एक ही कार्य कर सकता था।

इन कार्यों से चर्च में आत्मविश्वास जागा। जिन स्पष्ट बुराइयों के कारण चर्च पर प्रहार शुरू हुआ था उनके दूर करने की व्यवस्था होने से चर्च में पुरानी गति लौट आई। सारी व्यवस्था में जो ढीलापन आ गया था वह दूर हो गया। साधारण अनुयायी से मान्य अधिकारी तक सब का जीवन-क्रम सुनिश्चित हो गया। यही कारण है कि ट्रेण्ट की काउन्सिल का चर्च के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यह निर्विवाद है कि परिवर्तन का आधार उसकी बौद्धिक तैयारी है। पुनर्जागरण की शुरुआत उन पुस्तकों से हुई थी जिन्होंने नई मानसिकता पैदा की थी। लूथर और काल्वें को भी उनकी पुस्तकों ने ही लोगों तक पहुँचा कर सफल बनाया था। कैथोलिक चर्च सचेत था कि ऐसी पुस्तकें यदि पढ़ी गईं तो चर्च का नुकसान होगा। इसलिए ऐसी पुस्तकों की एक सूची (Index) बनाई गई जो पूर्णतः या अंशतः चर्च-विरोधी थीं। कुछ पुस्तकों को पूरी

तरह निषिद्ध कर दिया गया और कुछ को कुछ अंश निकाल कर पढ़ने योग्य समझा गया। यह एक जटिल और सतत निगरानी का कार्य था जिसमें निरन्तर परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन आवश्यक था। इस कार्य को करने के लिए चर्च के पास कोई स्थायी तन्त्र नहीं था। दूसरे निषिद्ध पुस्तकें पढ़ने की लालसा मनुष्य की कमजोरी है। इसलिए भी पुस्तकों का पढ़ा जाना कम नहीं हुआ। चर्च की सत्ता बनाये रखने में यह तरीका बहुत कारगर नहीं हुआ।

'कैथोलिक चर्च बहुत पहले से राजनीति से जुड़कर चलने का आदी हो गया था। धर्म-सुधार का प्रभाव-क्षेत्र रोकने, हो सके तो घटाने के लिए राजनीति की भी शरण ली गई। बारहवीं शताब्दी में ही पोप इन्नोसेण्ट ने एक धार्मिक न्यायालय (Inquisition) संगठित किया था। तब से जब कभी धर्म-विरोधी कार्य होते इस न्यायालय में विरोधियों का फैसला होना और नागरिक अधिकारियों को सजा के कार्यान्वयन की जिम्मेदारी दे दी जाती।

कैथोलिक सुधार के दौर में इस न्यायालय की उपयोगिता समझ में आई और इटली में एक सर्वोच्च न्यायालय स्थापित किया गया जो अन्य कैथोलिक देशों में स्थापित धार्मिक न्यायालयों की अपीलें सुन सकता था। लूथर और काल्वैं के अनुयायियों और ढुलमुल कैथोलिकों को आतंकित करने के लिए इस न्यायालय में मुकदमा चला कर कठोर से कठोर दण्ड, प्राय: मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। स्पेन, नीदरलैण्ड्स और इटली में इस प्रकार के न्यायालयों ने बहुत दमन किये। कुछ शासकों ने तो इसका उपयोग राजनैतिक हितों की पूर्ति के लिए भी किया। **फिलिप द्वितीय** ने जब नीदरलैण्ड्स में विद्रोह हुआ तो वहाँ की जनता को सेना नहीं धार्मिक न्यायालय के माध्यम से भी नियन्त्रित करना चाहा। यह दूसरी बात है कि प्रभाव उल्टा हुआ।

यह साधन भी सर्वथा अनुपयुक्त था। आतंक का प्रभाव बहुत सीमित होता है। इस न्यायालय ने चर्च को बहुत बदनाम किया। जिस चर्च का आधार दया और सेवा हो उसके न्यायालय उसकी असहिष्णुता का प्रमाण देने लगे और नृशंस अत्याचार के माध्यम बन गये। इस न्यायालय ने विरोध और विद्रोह बढ़ाने में ही मदद की।

कुल मिला कर कैथोलिक चर्च का सुधार हजारों साल पुरानी व्यवस्था को बचाने में सफल हो गया अन्यथा सुधार की आँधी में सब कुछ बदल जाता। वक्त रहते कुछ उत्साही पोप चेत गये और जिन लोगों के हितों पर सुधार ने प्रहार किया उन्होंने लोयोला की मदद से अपने को मजबूत किया। ट्रेण्ट की सभा में पुनर्मूल्यांकन द्वारा जो सफाई हुई उसने विरोध के स्पष्ट मुद्दे समाप्त कर दिये। सबसे बड़ी बात तो यह कि अन्दर से जो खोखलापन आ गया था वह नये आत्मविश्वास के कारण दूर हो गया। सोलहवीं शताब्दी के मध्य से

कैथोलिक चर्च का जैसे कायाकल्प हो गया और चर्च सुधारवादी दबाव से पूरी तरह मुकाबला करने के लिए सन्नद्ध हो गया। यूरोप मे अनुयायियों की दृष्टि से जो क्षति हुई थी वह एशिया और अमेरिका में बनाये गये नये अनुयायियों से पूरी हो गई।

सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में जो उथल-पुथल शुरू हुई उसका कारण भौतिक और बौद्धिक परिस्थितियाँ थीं। हजारो साल से अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर जीवन के हर क्षेत्र को आक्रान्त करने वाले चर्च का स्वरूप बदलना अनिवार्य हो गया था। आर्थिक परिस्थितियों ने समाज में नये मुद्दे खड़े कर दिये थे। मध्यमवर्ग अस्तित्व में आ चुका था। नगरों का महत्त्व बढ़ रहा था। सामन्तवाद पतनोन्मुख था। मनुष्य विचार करने लगा था। पढ़ना-लिखना सुलभ हो चला था। वैज्ञानिक प्रगति प्रारम्भ हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में चर्च की सत्ता को ज्यों का त्यों, वह भी तब जब कि वह पूरी तरह विकृत हो चुकी हो, स्वीकार करना असम्भव था। इसलिए नये स्वार्थों के लिए नये आन्दोलन खड़े हुए। सुधार-आन्दोलन धर्म के मूल स्वरूप के लिए कोई चुनौती नहीं था। विरोध केवल व्यवहार एवं कार्यान्वयन का था। सैद्धान्तिक अन्तर भी ईसाई धर्म की मूल व्यवस्था—ईसा मसीह, बाइबिल, मुक्ति आदि बातों को लेकर नहीं था। इसलिए सुधारवादी सम्प्रदाय केवल धार्मिक कारणों से अलग नहीं हुए। आर्थिक और राजनैतिक हितों ने बहुत बड़ी भूमिका अदा की। इसीलिए तनाव जटिल होता गया और सत्रहवीं शताब्दी में एक भयंकर युद्ध का कारण बना।

चौथा अध्याय

तीस वर्षीय युद्ध : धार्मिक कलह का अन्त

मनुष्य सभ्यता की दौड़ में रत रहा है, कुशल खिलाड़ी की तरह, लेकिन अच्छे खिलाड़ी की तरह नहीं। वह बराबर ईर्ष्यालु और असहिष्णु बना रहा है। अतः मानव-निर्मित धर्म भी असहिष्णु हो, यह स्वाभाविक था। ईसाई धर्म में शुरू से ही एकान्तिकता का प्रभाव रहा है। 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' की प्रवृत्ति ने प्रारम्भिक काल से ही ईसाइयों की नजरों में यहूदियों को सन्दिग्ध बना दिया था। आज भी यहूदी पर साधारण ईसाई पूरी तरह विश्वास नहीं करता। फिर यह अलगाव की भावना औरों पर भी लागू होने लगी। जब रोमन साम्राज्य में ईसाई धर्म स्वीकार किया गया तो गैर-ईसाइयों को द्वितीय श्रेणी का नागरिक समझा जाने लगा। जब राजा और पोप की साँठ-गाँठ शुरू हुई तब तो असहिष्णुता और बढ़ गई। मध्ययुग का इतिहास साक्षी है कि धर्म ने किसी मत-वैभिन्न्य को बर्दाश्त नहीं किया। तर्कसंगत बातें भी नहीं मानी गईं। चर्च का सिद्धान्त, उसकी व्यवस्था, उसका निर्णय सब-कुछ निर्विवाद, अकाट्य और अपरिवर्तनीय था। जुल्म होते रहे और पुनर्जागरण तक चर्च की सत्ता निरंकुश बनी रही।

धर्म-सुधार पुनर्जागरण द्वारा उत्पन्न की गई परिस्थिति में ही सम्भव हुआ। जो वैचारिक परिवर्तन हुए थे उनमें अब परिवर्तन की माँग करने वाले को सीधे चौराहे पर जला देना सम्भव नहीं था। चर्च में वह शक्ति भी नहीं रह गई थी। बदली हुई आर्थिक और राजनैतिक स्थिति में लूथर और काल्वें जैसे सुधारकों ने अलग-अलग सम्प्रदाय बना लिये थे। ईसा मसीह के अनुयायी एक नहीं अनेक दलों में बंट गये थे। इससे उदारता या सहिष्णुता की भावना बढ़ी नहीं घटी ही। अगर चर्च के लिए सुधारक 'शैतान' थे तो सुधारकों के लिए पोप 'ईसा-विरोधी' था। जो तनाव लूथरवादियों और कैथोलिकों में था वही विभिन्न प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायों में आपस में भी था।

धार्मिक आस्था को लेकर पैदा हुई उथल-पुथल में अनेक तरह के स्वार्थों

ने बहती गंगा में हाथ धोना चाहा। सामन्तों, राजाओं, धनिकों, व्यवसायियों —सब के अपने स्वार्थ थे। कोई अपनी आर्थिक स्थिति मजबूत करना चाहता था तो कोई राजनैतिक। विपन्न आम जनता के हितों के विरुद्ध सब एक थे, लेकिन उनके अपने ही स्वार्थों में इतनी टकराहट थी कि तनाव बढ़ता जा रहा था। ऐसी तनावपूर्ण स्थिति में यूरोप के प्रमुख राजघरानों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता भी शामिल हो गई और सोलहवीं शताब्दी समाप्त होते-होते संघर्ष अनिवार्य हो गया। फिर संघर्ष इतना भयंकर होगा इसकी किसी को आशा नहीं थी। आखिर कौन से कारण थे जिन्होंने ऐसा युद्ध अनिवार्य कर दिया जो तीस वर्षों तक निरन्तर चलता रहा और जिसने पूरे मध्य यूरोप को श्मशान बना दिया?

धार्मिक स्थिति का विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि एक तरफ कैथोलिक चर्च किसी भी कीमत पर पश्चिमी यूरोप की धार्मिक एकता की पुनःस्थापना के लिए लालायित था। इस दिशा में वह उग्र से उग्र कदम उठाने को तैयार था। दूसरी ओर प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायों के अस्तित्व का प्रश्न था। वे हर तरह से अपनी उपलब्धियाँ बनाये रखना चाहते थे। ऑग्सबर्ग की सन्धि में भावी संघर्ष के बीज मौजूद थे। ऑग्सबर्ग में केवल लूथरवाद को स्वीकार किया गया था। तब से कई और सम्प्रदाय बन चुके थे और काल्वैंवाद तो उससे ज्यादा नहीं तो उतना शक्तिशाली तो था ही। उसकी मान्यता का प्रश्न था।

कैथोलिक चर्च में जब सुधार हुआ और आत्मविश्वास लौटा तब तक यूरोप का एक बहुत बड़ा हिस्सा प्रोटेस्टेण्ट हो चुका था। कैथोलिक लोग इससे क्षुब्ध थे ही। अब वे किसी कीमत पर प्रोटेस्टेण्ट का प्रभाव-क्षेत्र बढ़ने देना नहीं चाहते थे और इसीलिए लूथरवाद के अतिरिक्त, जिसे मान्यता मिल चुकी थी, अन्य किसी सम्प्रदाय को मान्यता नहीं देना चाहते थे। इस पर अन्य सम्प्रदायों की उग्र प्रतिक्रिया हो, यह स्वाभाविक ही था। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी का अन्त होते-होते विभिन्न सम्प्रदायों के गुट बन गये थे। राजनैतिक तनाव के कारण इन गुटों के पारस्परिक सम्बन्ध और विषाक्त हो चले थे।

धार्मिक तनाव के पीछे निहित राजनैतिक स्वार्थ काम कर रहे थे। राष्ट्रीय प्रवृत्ति के बढ़ने से सम्राट् के अधीन विभिन्न राज्यों में स्वतन्त्र होने की इच्छा बढ़ चली थी। राजनैतिक लाभ के लिए धर्म का सहारा जरूरी था। इसलिए एक तरफ सम्राट् पोप का समर्थक था तो बहुतेरे राजे और राजकुमार प्रोटेस्टेण्ट हो गये थे। जहाँ का बहुमत कैथोलिक था वहाँ के राजा भी कट्टरतापूर्वक कैथोलिक चर्च का समर्थन अपने राजनैतिक और राष्ट्रीय हितों के लिए कर रहे थे। धार्मिक सम्प्रदायों ने अगर अपने हित में शासकों

को साथी बनाया था तो शासक भी धर्म का झण्डा अपने हितों के कारण ही बुलन्द किये हुए थे। जब कोई उथल-पुथल होती है तो हर तरह के लोग अपनी-अपनी महत्त्वाकांक्षा के कारण उसमें शामिल होकर फायदा उठाना चाहते हैं। जर्मन क्षेत्र में फैले सैकड़ों राज्यों के परस्पर झगड़े सदियों से चले आ रहे थे। उनको निपटाने का यह सुअवसर कोई हाथ से जाने नहीं देना चाहता था। बृहत्तर संदर्भों को देखें तो हैप्सबर्ग परिवार की सर्वोच्चता यूरोप के अन्य राजपरिवारों के लिए आँख की किरकिरी थी। विशेषकर फ्रांस का बूर्बो परिवार चुनौती के लिए तैयार था। स्वीडन बाल्टिकसागर के दक्षिण में पहुँचना चाहता था ताकि बाल्टिक पर उसका पूरी तरह कब्जा हो जाय। डेनमार्क भी क्षेत्र-विस्तार के लिए लालायित था। ये सभी राज्य जर्मनी की अनिश्चितता को अपने हक में ले जाना चाहते थे। ऐसी स्थिति में पूरे पश्चिमी यूरोप के स्तर पर विभिन्न राजनैतिक स्वार्थ धार्मिक उद्वेलन से कोई न कोई लाभ उठाने को तत्पर थे। धर्म के नाम पर जिस संघर्ष की पृष्ठभूमि बन रही थी उसके पीछे राजनैतिक तत्त्वों ने, परोक्ष रूप से ही सही, बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। संघर्ष के विस्तार और उसके इतना विनाशकारी होने का यही कारण था।

इस अनिश्चितता से आर्थिक लाभ भी सम्भव थे। इसी विचार से पूँजीवादी मनोवृत्ति के पादरी, शासक और धनिक वर्ग अपने-अपने ढंग से सक्रिय थे। यह स्पष्ट था कि ऑग्सबर्ग में जो जायदाद सम्बन्धी निर्णय हुआ था उससे सभी असन्तुष्ट थे। एक ओर 1552 को सीमा-रेखा बना उसके पहले हुए सम्पत्ति के हस्तान्तरण मान लिये गए थे। इससे लूथरवादियों को लाभ हुआ था लेकिन बाद में चर्च की हालत सुधर जाने पर जितनी भी हानि हुई थी उस पर क्षोभ व्यक्त किया जा रहा था। दूसरी ओर 'धार्मिक रक्षण' (Ecclesiastical Reservation) की नीति द्वारा कैथोलिक बिशपों की सम्पत्ति की रक्षा की गई थी। इस पक्षपात से लूथरवादी अप्रसन्न थे। सोलहवीं शताब्दी के बाद कितने ही धर्म-परिवर्तन हुए थे और सम्पत्ति कितनी ही बार हस्तान्तरित हुई थी। जायदाद सम्बन्धी इस अनिश्चितता का निपटारा होना बाकी था। जिन-जिन क्षेत्रों में प्रोटेस्टेण्ट मत का प्रसार हुआ था वहाँ से चर्च को आमदनी होनी बन्द हो गई थी। इस कारण न केवल रोम की आमदनी घटी थी, उन इलाकों के कैथोलिक अधिकारी भी विपन्न हो गए थे। दूसरी ओर प्रोटेस्टेण्ट पादरी अभी भी कैथोलिक पादरियों को अपने से सम्पन्न समझ कर ईर्ष्या करता था। समाज में एक नई श्रेणी नये धनिकों (Nonveau Riche) की पैदा हुई थी जो अपने धन को सामाजिक प्रतिष्ठा और सत्ता में बदलना चाहती थी। बिना संघर्ष के ऐसा सम्भव नहीं था।

इसलिए ये भी यथास्थिति को बदलना चाहते थे। अन्त में, बढ़ते व्यापार के कारण जो नई आर्थिक संस्थाएँ जन्मी थीं, जैसे बैंक, ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियाँ, वे समाज में कुछ मौलिक परिवर्तन चाहती थीं। इस प्रकार आर्थिक कारणों से भी व्यापक परिवर्तन की पृष्ठभूमि बन रही थी।

इस तरह यह स्पष्ट हो गया होगा कि यूरोप, विशेषकर मध्य यूरोप में, भयंकर तनाव की स्थिति थी। ऊपर से धार्मिक कलह दिखाई पड़ने वाली स्थिति के पीछे अनेक आर्थिक और राजनैतिक स्वार्थ, महत्त्वाकांक्षाएँ, व्यक्तिगत और राष्ट्रगत ईर्ष्या, आर्थिक लाभ की संभावना, यथास्थिति को किसी भी तरह बदलने की उत्कट इच्छा जैसी बातें थीं जिनका परिणाम यह हुआ कि सत्रहवीं शताब्दी शुरू होते-होते सारा पश्चिमी यूरोप परस्पर विरोधी गुटों में बंट गया। समाज में व्याप्त तनाव के अभिव्यक्त हुए बिना शान्ति सम्भव नहीं थी।

1608 ईसवी में पैलेटिनेट के उत्साही काल्वैंवादी शासक **फ्रेडरिक** के नेतृत्व में एक प्रोटेस्टेण्ट संघ की स्थापना हुई। संघ सभी क्षुब्ध प्रोटेस्टेण्ट लोगों को संघटित करके ऑग्सबर्ग सन्धि को बदलवाना और अपने अधिकारों को और सुरक्षित करना चाहता था। वास्तव में ये वे लोग थे जो यथास्थिति से असन्तुष्ट थे और हालत बदलने पर अपनी स्थिति मजबूत होने के प्रति आश्वस्त थे। साल-भर के अन्दर-अन्दर कैथोलिक लोगों ने भी अपनी 'लीग' बना ली। वे कम आक्रामक मन:स्थिति में नहीं थे। 'लीग' का नेतृत्व बवेरिया के शासक **मैक्सीमिलियन** के हाथ में था। कैथोलिक संगठन (Holy League) का नेतृत्व अपने सहयोगियों की ओर से आश्वस्त था। उसे सम्राट् और पोप का भी आशीर्वाद प्राप्त था। लेकिन प्रोटेस्टेण्ट संगठन (Protestant Union) में कई सम्प्रदायों के लोग थे और उनमें केवल ऊपरी एकता थी। अन्य प्रोटेस्टेण्ट राज्य भी या तो इतने शक्तिशाली नहीं थे कि इनकी मदद करते या जब तक उनका अपना कोई राष्ट्रीय या व्यक्तिगत स्वार्थ न हो वे हस्तक्षेप और सहयोग के लिए तैयार नहीं थे। ऐसी स्थिति में प्रोटेस्टेण्ट शक्तियाँ अपेक्षतया कमजोर प्रतीत होती थीं।

दस वर्षों की गुटबाजी का 1618 में एक धमाके के साथ विस्फोट हुआ। शुरुआत बहुत मामूली ढंग से हुई। बोहेमिया का राज्य रोमन सम्राट् के अधीन था। वहां लूथरवाद की स्थापना हो गई थी और सम्राट् ने मजबूरन उसे स्वीकार भी लिया था। लेकिन लूथरवादी अपनी स्थिति के प्रति आश्वस्त नहीं थे। 1618 में राजधानी प्राग के एक महल में कुछ प्रतिनिधियों पर क्षुब्ध होकर उन्होंने हमला किया और उन्हें ऊपर की मंजिल के जंगले से बाहर फेंक दिया। यद्यपि वे जिन्दा बच गये, पर यह सम्राट् के अधिकार को

खुली चुनौती थी। बोहेमिया का यही विद्रोह धीरे-धीरे सारे जर्मनी में फैल गया। सारे पश्चिमी यूरोप के शासक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसमें शामिल हो गये और तीस वर्षों तक भयंकर युद्ध चलता रहा। इस युद्ध ने कई करवटें लीं। कभी युद्ध का स्वरूप धार्मिक रहा तो कभी राजनैतिक, कभी दोनों। विभिन्न देशों ने विभिन्न समयों पर विशेष रूप से युद्ध में हस्तक्षेप किया। इसीलिए इस युद्ध को चार कालों में विभाजित करते हैं। 1624 तक युद्ध बोहेमिया के आस-पास ही सीमित रहा। दूसरे काल में (1625-29) प्रोटेस्टेण्ट वर्ग की सहायता डेनमार्क के शासक ने की और उन्हें पराजय से बचाया। इसीलिए इसे 'डेनिश-काल' कहते हैं। 1629 में स्वीडन का शासक युद्ध में कूद पड़ा वरना कैथोलिक लोगों की जीत निश्चित थी। 1635 तक स्वीडन की प्रधानता बनी रही इसलिए इस काल को 'स्वीडिश काल' कहते हैं। 1635 के बाद युद्ध एकदम राजनैतिक हो गया। कैथोलिक होते हुए भी फ्रांस के मन्त्री रिशलिउ ने हैप्सबर्ग सम्राट् को नीचा दिखाने के लिए प्रोटेस्टेण्ट लोगों की मदद की। यही कारण है कि इसे 'फ्रेंच काल' कहते हैं।

प्रोटेस्टेण्ट संघ के नेता फ्रेडरिक ने बोहेमियन विद्रोह के बाद वहां का सिंहासन स्वीकार कर लिया था और सम्राट् का प्रभुत्व समाप्त घोषित कर दिया गया था। सम्राट् **मैथियास** एक कमजोर शासक था। लेकिन उसकी मृत्यु हो गई और **फर्डिनेण्ड द्वितीय** ने फ्रेडरिक को अपदस्थ करने की आक्रामक योजना बनाई। उसने स्पेन को हमला करने के लिए तैयार किया और कैथोलिक लीग और अपनी सेना का मिला-जुला नेतृत्व एक प्रसिद्ध सेनापति **टिली** को सौंपा। फ्रेडरिक बुरी तरह घिर गया था। इंग्लैण्ड के शासक **जेम्स** का दामाद होने के नाते उसे आशा थी कि उसे अंग्रेजों की मदद मिलेगी। मिली केवल सलाह और नैतिक समर्थन जो बेमानी था। अन्य प्रोटेस्टेण्ट जर्मन राज्य भी अवसरवादी दृष्टिकोण अपनाये हुए थे कि शायद उनकी तटस्थता या निष्क्रियता से सम्राट् खुश हो जाये और उन्हें विशेष लाभ हो।

टिली ने निर्णायक युद्धों में फ्रेडरिक को पराजित किया। उसे बोहेमिया छोड़ कर भागना पड़ा। स्पेन की सेनाओं ने उसके अपने राज्य पैलेटिनेट से भी उसे खदेड़ दिया और वह बेघरबार शरणार्थी हो गया। हजारों की संख्या में लोग मारे गए और उनकी सम्पत्ति हड़प ली गई। बोहेमिया पर सम्राट् का प्रभुत्व फिर से स्थापित हो गया। और फ्रेडरिक का राज्य कैथोलिक लीग के प्रधान मैक्सीमिलियन को दे दिया गया। उसे साम्राज्य का 'एलेक्टर' भी नियुक्त किया गया। होली रोमन सम्राट सात 'एलेक्टर्स' की एक समिति द्वारा चुना जाता था। सुधार आन्दोलन के बाद तीन एलेक्टर प्रोटेस्टेण्ट हो गये थे। बोहेमिया के शासक को भी सम्राट् के चुनाव में एक

मत प्राप्त था। यदि काल्वैंवादी फ्रेडरिक बोहेमिया का शासक बना रहता तो चार एलेक्टर प्रोटेस्टेण्ट हो जाते और सम्राट् का पद किसी प्रोटेस्टेण्ट को मिलने की सम्भावना हो जाती। यह एक ऐसा खतरा था जिससे सारे कैथोलिक आतंकित हो गये थे। यही कारण था कि एक फ्रेडरिक को पराजित और च्युत करने में इतनी चुस्ती दिखाई गई थी।

फ्रेडरिक ने जल्दीबाजी की थी और पराजय के बाद उसके सैनिक लूट-मार करते घूम रहे थे। प्रोटेस्टेण्ट शक्तियों ने घोर अनिर्णय और असहयोग का परिचय दिया था। डूबते सूरज को कौन पूजता है? लगता था, जर्मनी में धर्म-सुधार की उपलब्धियों पर पानी फिर जायेगा। इसी समय डेनमार्क के प्रोटेस्टेण्ट शासक ने पहल की और युद्ध का दूसरा दौर शुरू हो गया।

डेनमार्क के शासक **क्रिश्चियन चतुर्थ** ने केवल अपने सहधर्मियों की मदद के लिए ही इतना बड़ा जोखिम नहीं उठाया था। वह जानता था कि कैथोलिक लोगों की विजय यदि पूर्ण हो गई तो वह भी पूरी तरह सुरक्षित नहीं रहेगा। वह लूथरवादी था और उसके राज्य का एक हिस्सा हालस्टाइन जर्मन साम्राज्य में पड़ता था। सम्राट् का प्रभुत्व घटे यह उसके भी हित में था। इसके अलावा धर्म-परिवर्तन में बहुत-सी कैथोलिक सम्पत्ति उसके हाथ लगी थी। वह तभी बची रह सकती थी जब कि प्रोटेस्टेण्ट लोग शक्तिशाली रहें। उसे इंग्लैण्ड से आर्थिक सहयोग का आश्वासन भी मिल गया था। ऐसी स्थिति में न केवल जर्मन प्रोटेस्टेण्ट वर्ग के हित में वरन् उसके अपने हित में भी यही था कि वह युद्ध में निर्णायक रूप से हिस्सा ले।

संयोग से कैथोलिक लोगों को भी इसी समय एक अप्रत्याशित सहयोग मिल गया। **वैलेन्सटाइन** नामक सामन्त स्वभाव से ही सैनिक था। जर्मनी की फैलती अराजकता से फायदा उठाकर उसने बेशुमार दौलत इकट्ठी की थी। अब उसकी महत्त्वाकांक्षा बढ़ चली थी। वह धन ही नहीं प्रतिष्ठा भी कमाना चाहता था। उसने सम्राट् के सामने सहयोग का प्रस्ताव रक्खा। सामान्य स्थिति में उसे जेल होनी चाहिए थी, लेकिन संकट के समय उसका सहयोग स्वीकार कर लिया गया और उसे एक स्वतन्त्र सेना संगठित करने की आज्ञा मिल गई। अब क्या था? उसने हर लड़ाकू और महत्त्वाकांक्षी को सम्भावित लाभों का लालच देकर भर्ती करना शुरू किया। जर्मनी, इटली, स्पेन, स्विट्जरलैण्ड जैसे दूर-दूर देशों से लोग उसकी सेना में भर्ती होने लगे। धीरे-धीरे पिण्डारियों जैसी पचास हजार सैनिकों की सेना उसके पास हो गई और अपनी अद्भुत प्रतिभा के सहारे उसने इन्हें एक जुझारू और अनुशासित सेना में बदल दिया।

वैलेन्सटाइन और टिली की मिली-जुली सेना के आगे डेनमार्क की

सेनाएँ टिक न सकीं। उनसे भागते ही बना। यदि सम्राट् के पास सामुद्रिक सेना भी होती तो डेनमार्क पर पूरी तरह कब्जा हो सकता था। क्रिश्चियन को ल्यूबेक की सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार उसे जर्मन क्षेत्र से हटना पड़ा और बहुत बड़ी कैथोलिक सम्पत्ति जो उसके हाथ में आ गई थी, उसे छोड़नी पड़ी।

वैलेन्सटाइन एक बृहत्तर योजना पर काम कर रहा था। उसकी सेनाएँ सारे जर्मन प्रदेश का दमन करने में लगी हुई थीं। उसका उद्देश्य सारे जर्मन शासकों की शक्ति नष्ट करके सारे जर्मनी पर सम्राट् का एकछत्र प्रभुत्व स्थापित करना था। ऐसी सत्ता के पीछे वह स्वयं एक निर्णायक भूमिका अदा करता हुआ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन सकता था। उसकी इस योजना के मार्ग में भी समुद्र आ गया क्योंकि उसकी स्थूल सेना समुद्र पर बेकार थी और समुद्र पार से स्वीडन इस युद्ध में दिलचस्पी लेने लगा था।

कैथोलिक शक्तियाँ लगातार सफल हो रही थीं। लेकिन इस सफलता का आर्थिक लाभ जब तक न मिले, सैनिक विजय का कोई विशेष अर्थ न था। 1552 के बाद प्रोटेस्टेण्ट लोगों ने कैथोलिक चर्च की जो सम्पत्ति ले ली थी उसे वापस लेने का स्वर्ण अवसर यही था। सम्राट् पर दबाव डालकर सम्पत्ति की वापसी (Edict of Restitution) की घोषणा करवा दी गई। 1555 के बाद दो आर्चबिशपों और नौ बिशपों के क्षेत्र और सैकड़ों मठ प्रोटेस्टेण्ट लोगों के कब्जे में चले गए थे। इस घोषणा के बाद तेजी के साथ कैथोलिक लोगों का कब्जा शुरू हुआ। इससे शिथिल और ढुलमुल प्रोटेस्टेण्ट शासक भी आतंकित हो गये।

इसी समय उनके हक में दो घटनाएं घटीं। वैलेन्सटाइन के बढ़ते प्रभाव के कारण उसकी शिकायत होने लगी थी। उसका काम भी पूरा हो गया लगता था। इसलिए उसे हटा दिया गया। यह प्रोटेस्टेण्ट लोगों के लिए एक शुभ सूचना थी। स्वीडन के शासक एडॉलफस ने भी इस युद्ध में हस्तक्षेप करने का यही समय चुना और इस तरह युद्ध का तीसरा काल प्रारम्भ हो गया।

स्वीडन का युवा शासक **गस्टवस एडॉलफस** बहुत महत्त्वाकांक्षी और साहसी शासक था। वह स्वीडन की सीमाओं का विस्तार चाहता था और यूरोप की राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करना चाहता था। विशेष रूप से वह बाल्टिकसागर को अपने प्रभुत्व में लाकर उसे एक स्वीडी झील (Swedish Lake) बना देना चाहता था। इसी उद्देश्य से वह पोलैण्ड और रूस से भी संघर्ष कर रहा था। वैलेन्सटाइन के उत्तरी जर्मनी की विजय से उसने समझ लिया था कि अब उसे हस्तक्षेप करना ही चाहिए वर्ना बाल्टिकसागर का दक्षिणी तट उसके प्रभाव में नहीं आ सकेगा और वह कभी भी यूरोप

की राजनीति में महत्त्व नहीं पा सकेगा। उसे अपने ही राज्य की सुरक्षा खतरे में नजर आने लगी थी। दूसरे वह एक कट्टर प्रोटेस्टेण्ट था और प्रोटेस्टेण्ट हितों की रक्षा के लिए कुछ भी करने को तैयार था। यह निश्चित करना मुश्किल हो गया कि उपर्युक्त दोनों कारणों में से किसने उसे हस्तक्षेप के लिए विशेष रूप से प्रेरित किया लेकिन यह सत्य है कि उसने बहुत उपयुक्त अवसर पर हस्तक्षेप करने का निर्णय लिया वरना प्रोटेस्टेण्ट शक्तियों की पराजय निश्चित थी।

एडॉल्फस का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। वह अपने सिद्धान्तों के लिए जोखिम भी उठा सकता था लेकिन व्यावहारिक कठिनाइयों को नजर अन्दाज नहीं करता था। वह एक सुसंस्कृत व्यक्ति था। उसे सात भाषाएँ आती थीं। साहित्य और संगीत में उसकी रुचि थी। पूरे यूरोप में उसके जैसा कोई अन्य शासक नहीं था। ऐसे व्यक्ति की मदद वास्तव में प्रोटेस्टेण्ट लोगों के लिए वरदान थी।

परिस्थितियों का संयोग कुछ ऐसा बना कि इसी समय फ्रांस का मन्त्री रिशलिउ बूर्बों वंश की सर्वोच्चता के लिए कुछ भी करने को तैयार था। उसने एडॉल्फस की हर तरह से मदद करने का वायदा किया। पूरी तरह से आश्वस्त एडॉल्फस 1631 ई० में दक्षिणी बाल्टिक तट पर एक शक्तिशाली सेना के साथ उतरा और युद्ध का रुख ही बदल गया। उसने सभी प्रोटेस्टेण्ट शासकों से सहयोग चाहा पर हमेशा की तरह निर्णय लेने में उन्होंने देर की। इसी बीच टिली ने प्रोटेस्टेण्ट नगर **माग्डेबुर्ग** पर हमला किया और करीब बीस हजार नागरिकों को तलवार के घाट उतार दिया। यह सभी प्रोटेस्टेण्ट शासकों के निर्णय लेने के लिए पर्याप्त था। उनका सहयोग पाकर एडॉल्फस ने टिली पर जबरदस्त हमला किया और 1631 में टिली जैसे अनुभवी और प्रख्यात सेनापति की पराजय से सारा यूरोप चौंक उठा। एडॉल्फस की धाक जम गई। युद्ध का नक्शा ही बदल गया। अब तक हमेशा कैथोलिकों का पलड़ा भारी रहा था। अब प्रोटेस्टेण्ट लोगों की बारी थी। हर कहीं उनकी खुशी की कोई सीमा नहीं थी। सारा जर्मनी एडॉल्फस के कदमों में था।

एडॉल्फस ने योजना बनाई कि वह पहले **म्यूनिख** पर धावा बोलेगा और अन्त में सम्राट् की राजधानी **वियेना** पर। उसकी योजना सफलतापूर्वक कार्यान्वित हुई। म्यूनिख जीतने में उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। वह वियेना पर हमला करने की योजना बना ही रहा था कि सम्राट् ने संकट काल में फिर वैलेन्सटाइन का आह्वान किया। वह सम्राट् से अलग होने के बाद अपनी रियासत में शान्तिपूर्वक रह रहा था। सम्राट् को विपत्ति में देखकर वह मदद के लिए तैयार हुआ लेकिन अपनी शर्तों पर। उसके तैयार होते ही

उसके हजारों अनुयायी दूर-दूर से इकट्ठे हो गये और वह फिर एक शक्तिशाली सेना के साथ कैथोलिकों और सम्राट् की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो गया। अब अपने समय के दो सबसे महान् सेनाध्यक्षों का मुकाबला था। ल्यूटजन नामक स्थान पर मुठभेड़ हुई। एडॉल्फस की सेना ने लूथरवादी प्रार्थना—A Mighty Fortress is our God—दुहराई और भयंकर युद्ध छिड़ गया। एडॉल्फस ने स्वयं आगे बढ़कर नेतृत्व किया। बाजी उसकी सेना के ही हाथ रही, लेकिन वह स्वयं दुस्साहस की हद तक आगे बढ़ता गया और घेर कर मार दिया गया। जीत हार में बदल गई। दूसरी ओर वैलेन्सटाइन भी एक षड्यन्त्र का शिकार हो गया। वह धार्मिक कलह से ऊब चुका था। सहिष्णुता के आधार पर वह जर्मनी को एक करना चाहता था। अपने लिए भी वह कोई स्थायी प्रबन्ध करना चाहता था। कैथोलिक लोगों और सम्राट् दोनों के लिए वह खतरनाक साबित हो सकता था। इसलिए उसकी हत्या कर दी गई। स्वीडन की सेना एडॉल्फस के अभाव में दक्षिण के इतने प्रदेशों पर कब्जा बनाए रखने में असमर्थ थी। 1634 में उसे पराजित होना पड़ा। अजीब सी अनिश्चितता का वातावरण था। न कोई विजेता था न कोई पराजित। समझ में नहीं आता था कि ऊँट किस करवट बैठेगा। इसी समय फ्रांस के हस्तक्षेप ने फिर एक बार स्थिति बदल दी।

सम्राट् समझौते की मनःस्थिति में था। प्राग में एक समझौते की बात चल भी पड़ी थी। लेकिन इसके पहले कि दोनों पक्ष कोई निर्णय लेते **रिशलिउ** ने निर्णय ले लिया। मन्त्री बनते ही रिशलिउ ने प्रतिज्ञा की थी कि वह फ्रांस में अपने शासक लुई की शक्ति को निरंकुश बनायेगा और यूरोप में बूर्बों वंश को सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित करेगा। इसी प्रतिज्ञा के लिए उसने फ्रांस के प्रोटेस्टेण्ट वर्ग का भीषण दमन किया और इसी प्रतिज्ञा के लिए उसने सम्राट् और उसके वंश हैप्सबर्ग परिवार को नीचा दिखाना चाहा। वह स्वयं चर्च में पोप के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकारी, कार्डिनल, था लेकिन उसे राजनीति, अपने देश फ्रांस और अपने शासक परिवार बूर्बों में दिलचस्पी थी, धर्म में नहीं। इसीलिए निर्णायक घड़ी में उसने तीस वर्षीय युद्ध में प्रोटेस्टेण्ट पक्ष से युद्ध में हस्तक्षेप करने का निर्णय लिया।

उसने स्वीडन और हालैण्ड से समझौता कर लिया क्योंकि दोनों ही प्रोटेस्टेण्ट थे और हैप्सबर्ग परिवार के विरुद्ध थे। उत्तर से स्वीडन और दक्षिण-पश्चिम से फ्रांस ने हमला किया। फ्रांस में इस समय दो महत्त्वपूर्ण सेनापति थे **त्यूरेन** और **कोंदे**। दोनों ही बूढ़े टिली का सामना करने की योग्यता रखते थे।

फिर भी फ्रांस को दो मोर्चों पर लड़ना पड़ा। हैप्सबर्ग परिवार के ही

अधीन स्पेन ने फ्रांस को उत्तर और दक्षिण से बराबर दबाकर रक्खा लेकिन अन्त में फ्रांस डच लोगों की मदद से आक्रामक लड़ाई पर आमादा हुआ। जर्मनी में त्राहि-त्राहि मच गई। एक के बाद एक नगर का पतन होने लगा। भीषण संहार होने लगा। इलाके के इलाके उजड़ गये। दूर-दूर तक श्मशान जैसा दृश्य दिखाई पड़ने लगा। युद्ध की विभीषिका में कृषि और उद्योग नष्ट-भ्रष्ट हो गये। कोई क्यों खेती करे ? किसके लिए उत्पादन करे ? सब कुछ तो युद्ध में स्वाहा हो जाना था। भूख और महामारी ने युद्ध की ही तरह लोगों को मारा।

इसी बीच फर्डिनेण्ड II मर चुका था। दूसरी ओर रिशलिउ भी अपने उद्देश्यों की पूर्ति के प्रति आश्वस्त होकर मर चुका था। पूरी एक पीढ़ी तबाह हो चुकी थी। दूसरी एक पीढ़ी युद्ध की छाँव में ही बढ़ रही थी। सम्राट् फर्डिनेण्ड III ऊब चुका था। निरन्तर हारते रहने से सम्राट् की सेनाओं का हौसला भी पस्त हो गया था। युद्ध शुरू किसी और वजह से हुआ था। शुरू के विरोधी गौण हो गए थे। दूसरे मुद्दों पर अब दूसरे लड़ रहे थे। सारी स्थिति अत्यन्त त्रासद और विडम्बनापूर्ण हो चली थी। सामाजिक तनाव इतने भयंकर युद्ध में अभिव्यक्त हो चुका था। अब और युद्ध करना सब की ताकत के बाहर था क्योंकि सब की सामर्थ्य समाप्त हो चली थी। ऐसे युद्ध में पूरी तरह न कोई जीत सकता था न पूरी तरह हार सकता था। ऐसी स्थिति में समझौता ही एक चारा था। ऐसे ही वातावरण में सन्धि की तैयारी हुई और तीस भयानक वर्षों के बाद वेस्टफेलिया की सन्धि द्वारा शान्ति फिर लौटी।

वेस्टफेलिया की सन्धि

अपने ढंग की यह पहली सन्धि थी। इसने आने वाले डेढ़ सौ वर्षों के लिए यूरोप की रूपरेखा निर्धारित कर दी। इतने अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की सन्धि, जिसका इतने राज्यों पर असर हुआ हो, इससे पहले कभी नहीं हुई थी।

पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्बन्ध में दूरगामी निर्णय लिये गए : साम्राज्य का बाह्य संगठन बना रहा लेकिन उसके हर सदस्य राज्य को सार्वभौमिक अधिकार प्राप्त हो गये। वह स्वयं युद्ध या शान्ति की घोषणा कर सकता था। **फ्रांस** को **स्त्रासबुर्ग** के नगर को छोड़कर पूरा **अलसास** का प्रान्त मिल गया। सीमा पर स्थित **मेत्स**, **तूल** और **वेर्दें** नामक नगर-क्षेत्र स्थायी रूप से फ्रांस के मान लिये गए। इस तरह रिशलिउ का उद्देश्य पूरा हो गया। **स्वीडन** को, जो बाल्टिकसागर के दक्षिणी तट पर प्रभाव जमाकर यूरोप की राजनीति में बना रहना चाहता था, **पामेरानिआ** का एक हिस्सा और एल्ब तथा

वेजर नदियों के मुहाने का क्षेत्र मिल गया। इस प्रकार क्षेत्रफल की दृष्टि से छोटा ही भूभाग मिलने पर भी स्वीडन को महत्त्वपूर्ण लाभ हुआ। फ्रांस और स्वीडन जर्मन डायट के नये सदस्य हो गए और जर्मन समस्याओं में सम्राट् का एकाधिकार टूट गया। अब जर्मनी में हर तरफ से हस्तक्षेप हो सकता था। **ब्रेण्डेनबर्ग** का विस्तार हुआ और भविष्य के शक्तिशाली राज्य प्रशा की नींव रख दी गई। पैलेटिनेट का विभाजन हो गया। आधा फ्रेडरिक के पुत्र को और आधा बवेरिया के शासक मैक्सीमिलियन को दे दिया गया। दोनों को ही एलेक्टर मान लिया गया। दो नये सार्वभौम राज्यों स्विट्जरलैण्ड और हालैण्ड को मान्यता मिल गई।

उपर्युक्त शर्तों से स्पष्ट हो गया होगा कि राजनैतिक निर्णय अधिक हुए जब कि युद्ध एक धार्मिक संघर्ष के रूप में शुरू हुआ था। वास्तविकता यही थी कि धार्मिक पक्ष इस युद्ध में गौण हो गया था। फिर भी धर्म-सम्बन्धी कुछ निर्णय तो लिये ही गए। काल्वैंवादियों को भी औपचारिक रूप से वही मान्यता मिल गई जो लूथरवादियों को प्राप्त थी। सम्पत्ति सम्बन्धी आधारतिथि पहली जनवरी, 1624 घोषित की गई। उस दिन जो सम्पत्ति जिसके पास थी उसी को उसका अधिकारी माना गया। उस तिथि के बाद हुए परिवर्तनों को समाप्त कर दिया गया। साम्राज्य की अदालतों में कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट जजों की संख्या बराबर निश्चित कर दी गई।

इस सन्धि का मूल्यांकन करते वक्त इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि राज्यों की सीमा और धर्म के सम्बन्ध में जो निर्णय लिये गए वे तो महत्त्वपूर्ण थे ही, उससे अधिक महत्त्वपूर्ण था मानसिकता का परिवर्तन, इतिहास में नये तत्त्वों और प्रवृत्तियों का उद्भव और वैचारिक दृष्टि से एक नये धरातल की सृष्टि।

इस युद्ध ने सौ साल से यूरोपीय समाज को मथ रहे तनाव को बाहर निकल जाने का मौका दिया। लूथरवादियों के अतिरिक्त जो अन्य सम्प्रदाय पैदा हुए थे उन्हें भी बराबरी का दर्जा मिल गया। राजनैतिक दृष्टि से अब तक आस्ट्रिया और स्पेन पर शासन करने वाला हैप्सबर्ग परिवार सर्वोच्च था। रिशलिउ की नीति से अब फ्रांस को और एडॉल्फस की नीतियों के कारण स्वीडन को यूरोपीय राजनीति में प्रमुख स्थान प्राप्त हो गया। विभिन्न राज्यों में विभाजित जर्मन प्रदेश में भी अब स्वीडन और फ्रांस को दखल देने का अधिकार मिल गया। ब्रेण्डेनबर्ग का महत्त्व बढ़ने लगा। इसी राज्य को कुछ दिनों बाद प्रशा कहा जाने लगा और प्रशा के नेतृत्व में ही उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी का एकीकरण सम्पन्न हुआ और भावी जर्मन शक्ति का सूत्रपात हुआ। सदियों के संघर्ष के बाद हालैण्ड की स्वतन्त्रता स्वीकार कर

ली गई। हालैण्ड का उदाहरण विदेशी उत्पीड़न के विरुद्ध लड़ने वालों के लिए अनुकरणीय हो गया। स्विट्जरलैण्ड जैसे छोटे से देश की सार्वभौमिकता स्वीकार कर ली गई और वह देश अपनी तटस्थता को अक्षुण्ण रख सका, महायुद्धों के दौरान भी। राज्यों की सार्वभौमिकता के संदर्भ में यह एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण बना।

इस युद्ध के दौरान ही यह निश्चित हो गया था कि राजनीति धर्म से अधिक निर्णायक तत्त्व है। इस शान्ति के बाद वास्तव में धार्मिक कलह के युग का अन्त सा हो गया। एकान्तिक और ईर्ष्यालु धार्मिक दृष्टिकोण के स्थान पर सहिष्णुता के युग का प्रारम्भ हुआ। एक दूसरे के अस्तित्व का विरोध करने के स्थान पर सह-अस्तित्व (Co-existence) का सिद्धान्त धर्म के क्षेत्र में मान्य होने लगा। यह सच है कि यह सिद्धान्त ईसाई सम्प्रदायों तक ही सीमित रहा और यहूदियों के प्रति अभी घृणा और सन्देह की भावना बनी रही। लेकिन कम से कम सीमित क्षेत्र में ही सही धर्म के नाम पर संघर्ष और युद्ध समाप्तप्राय हो गए।

धर्म की गौणता और उसके व्यक्ति की अपनी आस्था का प्रश्न बन जाने से राजनीति के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। राजनीति-विज्ञान का मार्ग प्रशस्त हुआ। राज्य की आज जो कल्पना है उसी के अनुसार राज्यों का संगठन शुरू हुआ। परिवार विशेष— जैसे हैप्सबर्ग परिवार का महत्त्व घट जाने से राज्यों की बराबरी का सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया। हर राज्य का प्रतिनिधि बराबर समझा जाने लगा। इस प्रकार कूटनीतिक सम्बन्धों के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई। सही अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सूत्रपात हुआ।

इन तीस वर्षों में जितना विनाश हुआ वह प्रथम महायुद्ध से पहले विश्व-इतिहास में शायद कभी नहीं हुआ था। राजनैतिक रूप से भी सम्राट् की एक-छत्रता समाप्त हो गई और छोटे-बड़े सैकड़ों सार्वभौम राज्यों के प्रादुर्भाव से जर्मनी पूरी तरह विघटित हो गया। युद्ध के अलावा लूट-पाट, आगजनी और महामारी का शिकार जर्मनी अपनी आधी से अधिक जनसंख्या से हाथ धो बैठा। गाँवों में और सड़कों पर भेड़िये निर्द्वन्द्व होकर घूमते थे। कृषि और उद्योग पूरी तरह नष्ट हो चुके थे। शिक्षण-संस्थाएँ बन्द हो चुकी थीं। द्वितीय महायुद्ध के बाद के जर्मनी की तस्वीरें जिसने देखी हैं वह अन्दाजा लगा सकता है कि विनाश ने कितनी निरुद्देश्यता, वितृष्णा और अन्धविश्वास भर दिया होगा। परिणाम यह हुआ कि जो राष्ट्रवादिता और पूँजीवाद फ्रांस, इंग्लैण्ड और नीदरलैण्ड्स में पनपे और बाद में ये देश अभूतपूर्व आर्थिक विकास के कारण अत्यन्त शक्तिशाली हो गए, उससे जर्मनी वंचित रह गया। विकास

की दौड़ में तीस वर्षीय युद्ध के कारण वह कम से कम सौ वर्ष पिछड़ गया। यूरोप के प्रदेशों में जर्मनी हर दृष्टि से बहुत अधिक सम्पन्न था लेकिन विनाश के कारण जो मानसिकता बनी थी, उससे उभरने में कई पीढ़ियाँ लग गईं। उन्नीसवीं शताब्दी तक वेस्टफेलिया की सन्धि का प्रभाव जर्मनी पर बना रहा। और जब बिस्मार्क के प्रयत्नों से जर्मनी उभरा तो पिछली कमी पूरी करने के लिए उसे सही गलत हर रास्ता अपनाना पड़ा। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी में जर्मनी में जो कुछ हुआ—यहाँ तक कि हिटलर के प्रादुर्भाव तक को—हम तीस वर्षीय युद्ध और वेस्टफेलिया की सन्धि से जोड़ सकते हैं।

मानव-सभ्यता के विकास में युद्ध उतना ही पुराना है जितना कि इतिहास स्वयं। एक समय था जब कि युद्ध को गरिमामय माना जाता था। पुरुषों के पुरुषत्व की परीक्षा होती थी युद्ध में। युद्ध के लिए विदा होते समय तिलक लगा कर प्रोत्साहित किया जाता था। आज भी कुछ आदिम जातियों में बिना शौर्य का प्रदर्शन और प्रमाण प्रस्तुत किये विवाह तक नहीं हो सकता। ऐसा तभी तक सम्भव था जब तक युद्ध शौर्य की परीक्षा था लेकिन जब विनाश बढ़ने लगा तो दृष्टिकोण बदलना स्वाभाविक था। तीस वर्षीय युद्ध में न कोई नियम था न कानून। 'युद्ध में सब कुछ उचित है' जैसे सिद्धान्त की शुरुआत हो गई थी। जिस पैमाने पर विनाश हुआ उससे लोग तो आतङ्कित हुए लेकिन विचारक इस चिन्ता में पड़ गये कि ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का क्या निदान हो सकता है। इन चिन्तकों में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य किया ग्रोशियस ने। उसकी पुस्तक 'On the Law of War and Peace' में पहली बार युद्ध और शान्ति के लिए नियम और कानून बनाने की बात कही गई। वह एक सहिष्णु प्रकृति का व्यक्ति था, इसलिए चाहता था कि राज्यों में आपसी सम्बन्ध कुछ नियमों के आधार पर स्थापित हों और युद्ध की स्थिति आने ही न पाये और यदि आ भी जाये तो कैसे कम से कम संहार और विनाश हो और फिर शान्ति स्थापित हो सके। इस दिशा में यह पहला संगठित प्रयास था। इसीलिए ग्रोशियस को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रवर्त्तक (Father of International Law) कहते हैं। इस बात से उसका महत्त्व कम नहीं हो जाता कि युद्धों का सिलसिला खत्म नहीं हुआ और जो स्थिति वेस्टफेलिया की सन्धि के बाद थी आज उससे भी भयावह है। यदि किसी कार्य के मूल्यांकन का एकमात्र मानदण्ड परिणाम हो जाय तो इतिहास में इक्के-दुक्के कार्य ही याद किए जायेंगे और महानता से एक दो व्यक्ति ही विभूषित हो पाएंगे।

अन्त में यदि तीस वर्षीय युद्ध और वेस्टफेलिया की सन्धि को बृहत्तर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि पुनर्जागरण से

वेस्टफेलिया की सन्धि तक का युग मध्ययुग और आधुनिक काल के बीच का संक्रमण काल था। मध्ययुगीन परम्पराएँ, रूढ़ियाँ, जीवन-मूल्य और लोक-दर्शन क्षीण हो रहे थे और आधुनिक दृष्टिकोण जन्म ले रहा था। यह काल इन दो प्रवृत्तियों का साक्षी था। अन्त में विजय आधुनिकता की होनी थी और हुई और 1648 के बाद ही वास्तव में आधुनिक प्रवृत्तियों का तेजी से विकास हुआ। इसलिए सुविधा के लिए हम आधुनिक काल का प्रारम्भ पन्द्रहवीं शताब्दी और 1453 ई० से भले ही मानें, निर्णायक रेखा धार्मिक युद्धों के अन्त और वेस्टफेलिया की सन्धि के बाद ही खींची जा सकती है।

पांचवां अध्याय

स्पेन का उत्थान और पतन

इसे विडम्बना ही तो कहेंगे कि आज यूरोप के राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से सबसे पिछड़े हुए देशों में से एक स्पेन, आधुनिक काल के प्रारम्भ में यूरोप के सबसे शक्तिशाली और उन्नत देशों में से समझा जाता था। उसकी तत्कालीन शक्ति का सबसे बड़ा सबूत यह है कि पूरे लैटिन अमेरिका में ब्राजील को छोड़ हर जगह स्पेनी भाषा ही राजभाषा है और भारतवर्ष की तरह ऐसा नहीं है कि राजभाषा (अंग्रेजी और खड़ी बोली वाली हिन्दी) देश की समूची जनता द्वारा न बोली-समझी जाती हो। वहाँ सभी एक भाषा बोलते हैं। दूसरे यह कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में आज स्पेन का स्थान नगण्य है लेकिन स्पेनी भाषा राष्ट्रसंघ द्वारा मान्यता प्राप्त पाँच भाषाओं में से एक है क्योंकि उस गरिमामय काल में दुनिया के बहुत बड़े हिस्से पर स्पेन का कब्जा था और वहाँ की भाषा स्पेनी हो गई, जो आज भी है। इस तरह स्पेन का अतीत प्रेरणादायक रहा है, लेकिन बहुत थोड़े समय तक क्योंकि स्पेन की महानता के भौतिक स्रोत उस देश में नहीं हैं।

पिरेनीज पहाड़ के दक्षिण में भूमध्यसागर, अटलाण्टिक महासागर और पुर्तगाल से घिरा इलाका पठारी है। समुद्र तट के इलाके को छोड़कर वहाँ कुछ भी नहीं उपजता। अब तक किसी महत्त्वपूर्ण खनिज का भी पता नहीं चला है। लेकिन यही गरीबी कभी-कभी काम आ जाती है। यहां के लोग जब अपने घर में हार जाते हैं तो सैलानी होकर कहीं भी रोजी के लिए चले जाते हैं। स्पेनियों के नाविक-सैलानी बनने के पीछे एक यह भी कारण था।

अरबों की शक्ति जब बढ़ी तो उत्तरी अफ्रीका विजय करते-करते वे स्पेन आये और फिर फ्रांस में बढ़ गये। वहाँ से तो वे खदेड़ दिये गये लेकिन स्पेन में वे सदियों तक बने रहे। उन्होंने खूबसूरत नगर बसाये, मस्जिदें बनवाईं, विश्व-विद्यालय खोले। पराजय के बाद जब वे हटे तब भी 'मूरों' के रूप में एक मेहनतकश उत्तराधिकारी छोड़ गए।

पन्द्रहवीं शताब्दी में स्पेन में दो प्रमुख राज्य थे कास्तील और अरागान। वहां क्रमशः इसाबेला और फर्डिनेण्ड राज्य करते थे। पुनर्जागरण के साथ भावनात्मक स्तर पर राष्ट्रीयता की चेतना पनप ही रही थी। स्पेन के लोग भी इससे अछूते नहीं थे। जब इसाबेला और फर्डिनेण्ड का विवाह हो गया तो पति-पत्नी के राज्यों का एकीकरण स्वाभाविक था। बहुत दिनों तक यह व्यक्तिगत स्तर पर ही बना रहा लेकिन बाद में परिस्थितियों ने उसे स्थायी बना डाला।

चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में ईसाई जगत् तुर्कों के बढ़ते प्रभाव से आक्रान्त था। जहाँ पूरब में मुसलमानों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और साम्राज्य की राजधानी वियेना तक खतरे में पड़ती जा रही थी, पश्चिम में स्पेन के सैनिकों ने मुसलमानों के सदियों पुराने प्रभाव का अन्त कर दिया और ईसाई प्रभाव की पुनःस्थापना कर दी। इस संघर्ष में तप कर स्पेनी समाज विशेषकर सैनिक निखर चुके थे। उनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई थी। कट्टर ईसाई नीतियों के कारण स्पेनी समाज के दो सबसे बड़े उत्पादक तत्त्व मूर (मुसलमान) और यहूदी लोग आतंकित होकर भाग रहे थे लेकिन तभी नई दुनिया (अमेरिका महाद्वीप) का पता चला और स्पेन, देश की कमी विदेशों से पूरी करने में जुट गया। यूरोप के अन्य देश पूरी तरह संगठित नहीं थे और आन्तरिक या आपसी संघर्षों में व्यस्त थे। ऐसे में स्पेन को पहल करने का मौका मिल गया और अमेरिका के अधिकांश भाग पर स्पेन का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इन प्रदेशों में सोने और चाँदी की बहुलता थी। इस प्रकार स्पेन को एक कल्पवृक्ष मिल गया।

इन अनुकूल परिस्थितियों के साथ ही एक और बात स्पेन के पक्ष में थी। राष्ट्रीयता के बढ़ते दौर में हर राज्य अपना प्रभाव बढ़ा रहा था। 'सही साध्य के लिए हर साधन सही है', इस दृष्टिकोण के प्रवर्त्तक, यूरोप के चाणक्य, मेकियावेली की पुस्तक 'द प्रिन्स' शासकों की बाइबिल बन गई थी। इस समय विवाह का जितना राजनैतिक इस्तेमाल हुआ शायद कभी न हुआ हो। सारे यूरोप के राजघराने एक-दूसरे से जुड़ने को तत्पर थे। इस क्षेत्र में भी इसाबेला और फर्डिनेण्ड की जोड़ी को सफलता मिली। यद्यपि उनके कोई पुत्र नहीं था लेकिन उनकी पुत्री का पुत्र चार्ल्स हैप्सबर्ग परिवार का राजकुमार था। इतिहास साक्षी है जितने राजा निःसन्तान होते हैं साधारण व्यक्ति नहीं। वैवाहिक जाल में फँसे यूरोप के राजघरानों में ऐसा संयोग हुआ कि शासक मरते गए और निकटतम उत्तराधिकारी चार्ल्स घोषित होता गया। वयस्क होने के पहले ही वह स्पेन, नीदरलैण्ड्स, हैप्सबर्ग परिवार द्वारा शासित सारे क्षेत्र और अमेरिका स्थित सारे उपनिवेशों का स्वामी हो गया।

उत्तराधिकार में इतना बड़ा राज्य शायद ही किसी को मिला हो। अब औपचारिक रूप से पवित्र रोमन सम्राट् बन जाने की देर थी। यद्यपि इस क्षेत्र में फ्रांस का शासक फ्रांसिस प्रथम और इंग्लैण्ड का शासक हेनरी अष्टम उसके घोर प्रतिद्वन्द्वी थे। अन्त में वह पद भी उसे मिल गया और चार्ल्स, सम्राट् चार्ल्स पंचम के रूप में, यूरोप का सबसे बड़ा, सबसे शक्तिशाली और इसीलिए सबसे अधिक परेशान शासक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

चार्ल्स पंचम

इतने सौभाग्यशाली व्यक्ति का जीवन कष्टमय हो सकता है इसकी आसानी से कल्पना नहीं की जा सकती है। पर यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है। चार्ल्स दैत्याकार राज्य का स्वामी था और उसमें समस्याओं से जूझने की क्षमता और इच्छा दोनों थीं। लेकिन जीवन भर जूझने के बाद भी वह अपनी समस्याओं को घटा नहीं सका। वे बढ़ती ही गईं और थक कर उसे राज्य का परित्याग करना पड़ा। उसकी समस्याओं पर गौर करें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

सबसे बड़ी बात तो यह कि इतना विविध और विस्तृत साम्राज्य और परस्पर सम्बन्ध के नाम पर बस यह कि शासक एक है। निश्चित था कि शासक का सब के प्रति एक जैसा लगाव नहीं था। हो भी कैसे? वह अपने पूरे राज्य की भाषाएँ तक तो जानता नहीं था। उसके राज्य में स्पेनी, डच, जर्मन, इटालियन जैसी चार प्रमुख भाषाएँ और अनेक बोलियाँ थीं। अलग अलग क्षेत्रों की अपनी परम्पराएँ थीं। अपनी शासन-प्रणाली थी। सब की आर्थिक स्थिति एक जैसी नहीं थी। सभी चार्ल्स के शासक होने से एक जैसे खुश नहीं थे। ऐसे में, विपरीत दिशाओं में भागते घोड़ों के रथ पर बैठा चार्ल्स कितना भी योग्य सारथी क्यों न रहा हो, रथ को चला भी लेता तो कितनी दूर तक? लड़खड़ाना, गिरना निश्चित ही था। इतने बड़े प्रदेश पर एक जैसा शासन थोप देता तो विद्रोह हो जाता और सब चलने देता तो आपस में समन्वय भी होना मुश्किल था। यातायात के साधन बहुत कम थे। नदियों, पहाड़ों और सागरों ने विभाजित कर रखा था उसके राज्यों को, और इनका आपस में सम्पर्क अनिश्चित था। वह स्वयं हर जगह एक साथ रह नहीं सकता था और एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्रों में पहुँचने में महीनों लग जाते थे। ऐसे में वह अपने उत्तराधिकार के बोझ से ही दबा हुआ था।

जैसे इतना पर्याप्त न हो उसे अन्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सम्राट् के चुनाव में वह अपने दोनों प्रतिद्वन्द्वियों से जीता पर उनमें फ्रांसिस चुनाव हार कर युद्धों के माध्यम से निबटारा करना चाहता था। और वह था इतना बड़ा बेहया और लड़ाका कि हार स्वीकार करने को तैयार ही नहीं था।

दूसरी ओर तुर्कों का प्रभाव-क्षेत्र बढ़ता ही जा रहा था। कुस्तुनतुनिया का बाँध टूट जाने से अब तुर्कों की ताकत निर्बाध गति से बढ़ती जा रही थी। **सुलेमान महान्** जैसे योग्य शासक के नेतृत्व में तुर्क मध्य यूरोप तक पहुँचने लगे थे। उनको हरा पाने को कौन कहे, रोक पाना मुश्किल हो रहा था।

ऐसे ही वातावरण में चार्ल्स के ही साम्राज्य में मार्टिन लूथर ने भी विद्रोह की आवाज बुलन्द की जिससे केवल चर्च ही नहीं, साम्राज्य का तख्ता भी हिलने लगा।

चार्ल्स इन सब से एक साथ और अलग-अलग जूझता ही रहा। दिन-रात व्यस्त रहकर उसने कुछ दिनों तक समस्याओं को नियन्त्रित रखा लेकिन अन्त में उसने हथियार डाल दिए।

समस्याएँ : उसके शासन की शुरुआत में ही कठिनाई अन्तर्निहित थी। इतना बड़ा साम्राज्य केन्द्रीकरण पर ही टिक सकता था या फिर साम्राज्य में स्थित राष्ट्रीय इकाइयों को स्वायत्तता देने पर। राष्ट्रीय देशभक्ति सभी जगह इतनी विकसित नहीं हुई थी कि स्वायत्तता के आधार पर शासन चल सके। फिर भी इतनी विकसित तो हो ही गई थी कि चार्ल्स के साम्राज्य का विरोध करे। विशेष रूप से जर्मनी में विभिन्न राज्य सिर उठाने लगे। कभी सामन्त सिर उठाते तो कभी राजा। इसी में आर्थिक एकता स्थापित करने के प्रयत्न भी असफल हो जाते थे। उभरती हुई पूँजीवादी व्यवस्था कोई भी व्यवधान स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। धनिक लोग इतने शक्तिशाली हो चले थे - पूरा अर्थतन्त्र उन्हीं के हाथ में था कि उनका दमन भी नहीं किया जा सकता था।

इसी बीच **लूथर** का प्रादुर्भाव हो गया। चार्ल्स पूरी तरह कैथोलिक था, इसीलिए लूथर के कार्यों को धर्म विरोधी समझता था। दूसरे पोप और उसके हित एक जैसे थे। इसलिए भी वह पोप विरोधी आन्दोलन का दमन करना चाहता था। लूथर के आन्दोलन को जर्मन शासकों का समर्थन मिलने से चार्ल्स को आन्तरिक राजनैतिक खतरे का भी पता चल गया था। इसलिए लूथरवाद धार्मिक और राजनैतिक दोनों दृष्टियों से चार्ल्स के लिए एक विद्रोह था। उसका उसने दमन भी करना चाहा लेकिन वह सफल नहीं हुआ। 1521 में वर्म्स में लूथर न डरा और न ही उसे चुप किया जा सका। उसे कानून के संरक्षण से वंचित कर दिया गया। लेकिन एक तो चार्ल्स इस ओर पूरा ध्यान नहीं दे सका और दूसरे लूथर का समर्थन बढ़ता ही गया। इसलिए वह चाह कर भी लूथर या लूथरवाद का कोई नुकसान नहीं कर सका।

राज्य की प्रशासकीय समस्याएँ अलग से सिर उठा रही थीं। जर्मनी के

विभिन्न राज्यों की शासन-परम्परा अलग थी तथा कास्तील और अरागान की अलग। नीदरलैण्ड्स तक में स्थानीय परम्पराएँ थीं। उनका उल्लंघन करना विद्रोह को न्योता देना था और उनका पालन करने का अर्थ था केन्द्रीय शासन को कमजोर बनाना। इसी उधेड़-बुन में वह कभी किसी क्षेत्र को पुचकारता, किसी को दबाता, किसी को कुछ छूट देता, किसी के अधिकार छीनता रह गया और शासन संभल नहीं सका।

आर्थिक पक्ष कई कारणों से कमजोर था। एक तो उसे शासन संभालते ही युद्ध शुरू कर देना पड़ा जिसका सिलसिला अन्त तक नहीं टूटा। युद्ध-क्षेत्र भी सीमित नहीं था— कभी फ्रांस की सीमाओं पर, कभी इटली में, कभी साम्राज्य की पूर्वी सीमाओं पर। सेना का यातायात कठिन तो था ही, बेहद खर्चीला भी था। फिर वह एक शक्तिशाली नौ-सेना रखने के लिए भी मजबूर था क्योंकि अटलाण्टिक महासागर पार के उपनिवेशों की सुरक्षा उन्हीं पर आधारित थी इंग्लैण्ड से संघर्ष की स्थिति होने के कारण भी नौसेना आवश्यक थी। इतने सारे खर्चे राजस्व से पूरे नहीं हो सकते थे क्योंकि कर-व्यवस्था न केवल लचर थी, जैसी भी थी पूरी तरह लागू नहीं हो पाती थी। ऐसी स्थिति में सोना, चांदी उगलते उपनिवेश वरदान थे। बिना अर्जित किया, लूटा हुआ धन थोड़े दिन राहत देता रहा लेकिन इससे पूरी अर्थव्यवस्था कमजोर होती गई।

चार्ल्स और फ्रांस : ऐसी आन्तरिक स्थिति के बावजूद चार्ल्स को जीवन भर युद्ध करना पड़ा।

सबसे पहले तो सम्राट् के चुनाव में परास्त **फ्रांसिस** युद्ध के सहारे वह पा लेना चाहता था जो उसने वैसे खो दिया था। फ्रांसिस इटली में मिलान, उत्तर में नीदरलैण्ड्स और दक्षिण में नावार के प्रदेश पर फ्रांस का अधिकार स्थापित करना चाहता था। उसे कोई न कोई आधार भी मिल गया था इन पर अपना अधिकार जताने का। सबसे पहले उसने मिलान पर अधिकार कर लिया। लेकिन चार्ल्स पोप की सेना की मदद से फ्रांसिस को खदेड़ने में सफल हो गया। इटली और फ्रांस के दक्षिण में युद्ध चलता रहा और आखिर में फ्रांसिस की न केवल पराजय हुई बल्कि उसे समर्पण कर देना पड़ा। उसे स्पेन में कैद रहना पड़ा। बाइबिल को साक्षी मान कर उसने वायदा किया कि चार्ल्स के राज्य के किसी हिस्से पर वह नजर नहीं डालेगा। इस तरह वह छूट सका। लेकिन फ्रांस की सीमाओं में आते ही उसने पहला काम यह किया कि स्पेन में किये हुए वायदों को दबाव डालकर करवाया गया कार्य घोषित किया। उसने कहा—'अब तो मैं राजा हूं। एक बार फिर मैं राजा बन गया हूँ।' और उसने उन तमाम लोगों को संगठित करना शुरू किया, जो चार्ल्स की

बढ़ती शक्ति से आतंकित थे। मिलान का शासक परिवार स्फारेजा और पोप स्वयं फ्रांसिस की मदद करने लगे।

अब युद्ध फिर अनिवार्य हो गया। लेकिन फ्रांसिस के मददगार स्वयं संगठित नहीं थे। नतीजा यह हुआ कि चार्ल्स की सेनाएँ ही फिर बीस पड़ने लगीं। इसी बीच एक अजीब घटना घटी। सम्राट् की इस सेना में अधिक लोग स्पेन और जर्मनी के थे। जब इन्हें रसद की कमी हुई तो बिना चार्ल्स के उकसाए सैनिकों ने रोम पर हमला कर दिया। रोम में सब था। लूटपाट महीनों चलती रही। सैनिक मौज भी करते रहे और जेब भी भरते रहे। पोप के संग्रहालय में सारी दुनिया की बहुमूल्य निधियां संगृहीत थीं। उनमें से पता नहीं कितनी गायब हो गईं। पोप भाग खड़ा हुआ। चार्ल्स पोप के व्यवहार से नाराज तो था, लेकिन उसने रोम की बर्बादी (Sack of Rome) की योजना नहीं बनाई थी। लेकिन पोप को किये की सजा मिल गई। यह देखकर वह खुश था। फ्रांसिस का मन्सूबा भी पूरा नहीं हुआ था। इसलिए 1529 में काम्ब्रे की सन्धि हो गई और फ्रांसिस ने बरगण्डी के विवादास्पद उत्तराधिकार के अलावा अन्य सारे अधिकार छोड़ दिये। उसने सम्राट् की बहन से विवाह करने का भी वायदा किया, लेकिन क्या भरोसा ऐसे आदमी का ?

उसने फिर चार्ल्स विरोधी संगठन बनाना शुरू कर दिया। स्काटलैण्ड, डेनमार्क और स्वीडन जो प्रोटेस्टेण्ट हो चले थे इसलिए चार्ल्स विरोधी थे। तुर्क, जिनसे चार्ल्स का लगातार संघर्ष चल रहा था, और लूथरवादी— अर्थात् वह हर तरह के चार्ल्स विरोधी तत्त्वों को एकजुट करने में लग गया। छुटपुट लड़ाई चलती रही और सामन्ती युद्धों की तरह फ्रांसिस और चार्ल्स की मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी लड़ते रहे। अन्त में 1559 में कातो काम्ब्रेसी की सन्धि द्वारा शान्ति स्थापित हुई, जब कि फ्रांस ने सारे दावे छोड़ दिये। बदले में उत्तर पूरब में फ्रांस की सीमाओं का विस्तार स्वीकार किया गया। फ्रांस की सीमा राइन नदी के और करीब आ गई।

कुल मिलाकर इस संघर्ष से यह लाभ हुआ कि चार्ल्स की प्रभुता पर अंकुश लगा रहा और वह और अधिक सीमा-विस्तार की बात नहीं सोच सका। उसके युद्ध में लगे रहने से लूथरवाद का प्रसार सम्भव हो सका और तुर्कों से मैत्री के कारण फ्रांस अन्य यूरोपीय देशों की अपेक्षा मध्यपूर्व के क्षेत्रों में अधिक व्यापार कर सका। इस तरह अपनी उच्छृङ्खल नीति के बावजूद फ्रांसिस अपने देश का दूरगामी लाभ कर सका। पोप, चार्ल्स और फ्रांसिस तीनों ही चर्च के हिमायती थे। लेकिन इनके परस्पर लड़ते रहने से धर्म का खोखलापन और राजनैतिक स्वार्थों की महत्ता स्पष्ट होने लगी।

चार्ल्स और इंग्लैण्ड : फ्रांसिस और चार्ल्स के युद्धों से शक्ति के सन्तुलन (Balance of Power) की समस्या उठ खड़ी हुई। किसी एक के अत्यन्त शक्तिशाली होने से सारे यूरोप को खतरा था। इंग्लैण्ड के शासक हेनरी का दाहिना हाथ था, **टॉमस वूल्जे**। वूल्जे अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी था और एक दिन स्वयं पोप बनना चाहता था। कार्डिनल तो वह था ही। उसने मौके से फायदा उठाना चाहा और चार्ल्स या फ्रांसिस की मदद करके इंग्लैण्ड को महत्त्वपूर्ण बनाना चाहा। पहले तो इंग्लैण्ड की सहानुभूति फ्रांसिस को मिली लेकिन उसका पलड़ा हल्का देख कर हेनरी चार्ल्स का समर्थक हो गया। वैसे भी उसकी पत्नी का चार्ल्स भतीजा था। लेकिन जब हेनरी ने कैथरिन को तलाक देने की बात सोची तो सम्बन्ध खराब होने लगे। इंग्लैण्ड की नीदरलैण्ड्स से मित्रता और पोप से सम्बन्ध विच्छेद होने के कारण, सम्बन्ध बिगड़ते ही गए। लेकिन अन्तिम दिनों में चार्ल्स और हेनरी के सम्बन्ध फिर सुधर गए थे। हेनरी की मृत्यु पर मेरी गद्दी पर बैठी तो चार्ल्स के पुत्र फिलिप से उसका विवाह हो गया। मेरी ने पोप से भी सम्बन्ध स्थापित कर लिये। इस प्रकार इंग्लैण्ड और स्पेन के सम्बन्ध मधुर हो गए। लेकिन यह तो भुलावा था। कुछ ही दिनों में दोनों देशों में भयंकर संघर्ष शुरू हो गया जिनसे स्पेन के पतन और इंग्लैण्ड के उत्थान का मार्ग प्रशस्त हुआ।

चार्ल्स और तुर्क : तुर्कों की बढ़ती बाढ़ में पूर्वी यूरोप के क्षेत्र एक-एक कर डूबते जा रहे थे। कुस्तुनतुनिया के साथ सारा दक्षिण पूर्वी यूरोप डूब गया था। अब लहरें वियेना से टकराने लगी थीं। चार्ल्स का समकालीन तुर्क सम्राट्, **सुलेमान महान्**, तुर्की का सबसे शक्तिशाली सम्राट् था। उसने अपने साम्राज्य का चतुर्दिक् विस्तार किया। वह नाविक शक्ति को बहुत महत्त्व देता था। वह कहा करता था, 'जो लहरों पर राज्य करता है वही धरती पर भी राज्य करेगा।' सामुद्रिक शक्ति का महत्त्व समझने वाले कुछ व्यक्तियों में से वह एक था। फ्रांस के साथ उसने समझौता कर लिया था। इसलिए पूरे भूमध्यसागर में तुर्क जहाज निर्बाध रूप से घूमते थे। इस तरह जल और थल दोनों ही मार्गों से तुर्क चार्ल्स के राज्य को आक्रान्त किए हुए थे। चार्ल्स के भाई फर्डिनेण्ड के राज्य हंगरी पर कब्जा करने के बाद उन्होंने वियेना पर भी बमबारी शुरू कर दी थी। वियेना की रक्षा बहुत बहादुरी से की गई और उसका पतन नहीं हो सका। लेकिन अन्ततोगत्वा हंगरी पर तुर्की का कब्जा स्वीकार करना पड़ा। छुटपुट सामुद्रिक झड़पें होती रहीं। लेकिन इस दिशा में फ़ैसला चार्ल्स के पुत्र फिलिप के शासन काल में ही हो सका।

चार्ल्स और सुलेमान दोनों अपने चरमोत्कर्ष पर थे। दोनों की टकराहट में किसी एक का विशेष नुकसान नहीं हुआ। लेकिन यह निश्चित हो गया

कि जहाँ तुर्क आक्रामक थे चार्ल्स को एक रक्षात्मक नीति अपनानी पड़ी।

चार्ल्स का मूल्यांकन : चार्ल्स ने वास्तव में काँटों का ताज पहना था। कभी वह सुख से नहीं रह सका। उसके शासन-काल में ही स्पेन का अधिकतम उत्थान हुआ। अमेरिका महाद्वीप में दक्षिण के अधिकांश क्षेत्र स्पेन के कब्जे में आ गए और नई दुनिया में स्पेन सबसे बड़ा उपनिवेश बन गया लेकिन जितनी तेजी से उत्थान हुआ था उतने ही गहरे पतन के बीज पड़े थे। उसका साम्राज्य स्थायी नहीं हो सकता था।

इतनी जातियों और भाषाओं वाले साम्राज्य पर नियन्त्रण रखना, वह भी तब जब कि तुर्की, फ्रांस, इंग्लैण्ड हर तरफ से खतरा हो और, साम्राज्य में राजनैतिक और धार्मिक कारणों से अशान्ति हो, सम्भव नहीं था। स्पेन में, बाहर से आने वाले धन के कारण लोग आश्रित होने लगे थे। श्रम करना छोड़ रहे थे। मूर और यहूदी भाग रहे थे। समाज खोखला हो रहा था। ऐसे में चार्ल्स थक कर हार गया, उसे अपना जीवन पूर्णतया असफल दिखाई देने लगा। उसने राज्य के परित्याग का फैसला ले लिया, जो वास्तव में एक साहस पूर्ण कार्य था। भीख माँगने वाला भी मरते दम तक अपनी गठरी चिपकाए रहता है, वह तो अपने समय के सबसे बड़े साम्राज्य का मालिक था। छोड़ने से पहले उसने एक फैसला अवश्य किया। उसने देखा था कि सबसे बड़ी कमजोरी राज्य का विस्तार थी। उसने इसलिए राज्य का विभाजन कर दिया। स्पेन नीदरलैण्ड्स, इटालियन राज्य और अमेरिकी साम्राज्य उसने अपने पुत्र फिलिप को दे दिए और मध्य यूरोप के राज्य भाई फर्डिनेण्ड को। फर्डिनेण्ड ही बाद में सम्राट् चुन लिया गया।

इस प्रकार 1556 में साम्राज्य से मुक्ति लेने के बाद एक सच्चे ईसाई का पवित्र जीवन बिताता हुआ वह दो वर्ष और जीवित रहा। सामान्य परिस्थितियों में वह केवल स्पेन का शासक होता तो शायद उसकी उपलब्धियां और महत्त्वपूर्ण होतीं। साधारण से अधिक योग्यता वाला चार्ल्स अपने कर्त्तव्यों के प्रति बहुत जागरूक था। अपनी सामर्थ्य भर वह उनका निर्वाह भी करता था। चर्च पर उसे बहुत विश्वास था। उसने कहा था, 'मैं अपना राज्य, मित्र, शरीर, आत्मा सब कुछ चर्च के लिए न्यौछावर कर सकता हूँ।' अपने पुत्र को भी उसने राय दी थी, 'संसार शंकाओं से भरा है, ईश्वर में विश्वास रखना और धर्म की रक्षा करना।' लेकिन यह भी सत्य है कि वह चर्च में सुधार का पक्षपाती था। मानववादी साहित्य से वह परिचित था और सहानुभूति भी रखता था। भाग्यवादी होते हुए भी विज्ञान में उसे रुचि थी। परस्पर विरोधी होते हुए भी इस बात में कोई विरोधाभास नहीं लगेगा, क्योंकि आज भी विशेषकर भारत में, वैज्ञानिक भाग्यवादी होता है। वह

समकालीन पुनर्जागरण की साहित्यिक और कलात्मक प्रवृत्तियों का पोषक और संरक्षक था। लेकिन इन कार्यों के लिए उसे कम समय मिला। उसमें इतनी दूरदर्शिता भी थी कि घटनाओं का महत्त्व समझ जाता था। लूथर के विरोध के प्रारम्भिक दिनों में उसने कहा था, 'लूथर इन पादरियों से जमकर लड़ेगा', और यह सच साबित हुआ। मध्य यूरोप में बढ़ती पूँजीवादी व्यवस्था को उसके शासन में बढ़ने का मौका मिला। अमेरिका में स्पेन के उपनिवेश चिली से वेनेजुएला तक फैल गए और हर कहीं उसने कैथोलिक चर्च और अपने राज्य के कानून और व्यवस्थाएँ लागू कीं। स्पेन और नीदरलैंड्स में लोग उसे प्यार और सम्मान देते थे। उसके विषय में हम यही कह सकते हैं कि 'न तो वह महान् व्यक्ति था, न ही बहुत अच्छा आदमी लेकिन कुछ भी हो वह एक सम्भ्रान्त, एक धार्मिक व्यक्ति तो था ही।' लेकिन वह अपनी महानता का ही शिकार हो गया और उसी के बोझ से दब कर रह गया।

फिलिप द्वितीय

फिलिप का शासन-काल विवादास्पद रहा है, यद्यपि उसके शासन-काल में ही स्पेन की सत्ता डगमगाने लगी थी, उसे स्पेनी इतिहास में बड़े प्यार के साथ याद किया जाता है। इसका कारण शायद यह हो कि उसे स्पेन से बेहद प्यार था और उसकी तरक्की के लिए वह कुछ भी कर सकता था। उसे बहुत कट्टर कैथोलिक कहा जाता है और यह माना जाता है कि उसके जीवन के दो ही आधार थे —स्पेन और चर्च। इनमें भी प्राथमिकता स्पेन को ही प्राप्त थी। यह दूसरी बात है कि स्पेन की भलाई के लिए उसने जो कार्य किए अन्ततोगत्वा उनसे उसके देश का नुकसान ही हुआ।

फिलिप बहुत मेहनती और लगन से काम करने वाला व्यक्ति था। उसके राज्य में शायद ही उससे अधिक कोई श्रम करता हो। उसकी आदत थी कि हर काम को व्यक्तिगत रूप से देखता था। लेकिन उसमें इतनी देर लगती थी कि वक्त पर कोई काम हो नहीं हो पाता था। उसके दरबार में नियुक्त वेनिस के राजदूत मोरो सिनी ने लिखा था इतने सारे लोगों पर शासन करने और किसी पर विश्वास न करने के कारण वह इतना व्यस्त रहता था कि लोग कहते थे, 'बाज आए ऐसे राज्य से'। काम इतना धीरे-धीरे होता था कि कहावत मशहूर हो गई थी—'अगर मौत स्पेन से आ रही हो तो मुझे अमर होना चाहिए।'

यह धीमापन इसलिए भी था कि वह अपने अतिरिक्त किसी पर विश्वास नहीं करता था। उसमें मुगल शासक औरंगजेब की प्रवृत्ति थी। औरंगजेब की तरह फिलिप कट्टर व्यक्ति था और अपने सिद्धान्तों के लिए जीवन भर

लड़ता रहा । औरंगजेब ही की तरह योग्य होते हुए भी वह सफल नहीं हुआ क्योंकि अकेले वह सब कुछ नहीं कर सकता था और दूसरों पर उसे विश्वास नहीं था । अपनी कट्टरता के ही कारण वह तात्कालिक कार्यों में अधिक व्यस्त रहा—स्थायी महत्त्व के कार्यों को उसने तरजीह नहीं दी ।

वह ऐसे सिंहासन पर बैठा था जिसकी टाँगें मजबूत नहीं थीं । एक आर्थिक रूप से दिवालिया, राजनैतिक रूप से विघटित, धार्मिक रूप से अशान्त राज्य को केवल व्यक्तिगत रूप से योग्य नहीं बल्कि दूरदर्शी और नेतृत्व के गुणों से सम्पन्न शासक की आवश्यकता थी । जिस राज्य में इतनी विविधता हो वहाँ कभी न कभी असहमति का होना स्वाभाविक था । लेकिन उसने असहमति को कभी बर्दाश्त नहीं किया । ऐसे में उसकी कठिनाइयों का बढ़ना स्वाभाविक था । मुगल शासक हुमायूँ के बारे में एक उक्ति है 'उसे विरासत में बहुत सारी कठिनाइयाँ मिली थीं जिन्हें अपनी ही गलतियों से उसने और बढ़ा दिया' (He had a rich legacy of difficulties which he made richer by his own mistakes) । यह बात अक्षरश: फिलिप पर लागू हो सकती है । उसकी समस्याओं और उसकी नीतियों के विवेचन से बात स्पष्ट हो जाएगी ।

आन्तरिक नीति : सबसे पहले उसने घर को संभालने का कार्य शुरू किया । उसके राज्य में इतनी विविधता और विघटन था कि उसने निरंकुशता और एकरूपता के सहारे सब कुछ व्यवस्थित कर लेना चाहा । कास्तील और अरागान की प्रतिनिधि संस्थाओं (Cortes) को उसने कठपुतली बना डाला । उसने पुराने करों के बारे में उनकी स्वीकृति लेने की आवश्यकता ही नहीं समझी । और नये कर लगाते समय बस उन्हें मुहर लगानी पड़ती थी । कानून बनाने का और सारा प्रशासनिक कार्य वह स्वयं कर लेता था । सामन्तों को उसने शानशौकत और सजावट के लिए छोड़ दिया । नये मध्यमवर्ग को उसने सहयोगी बनाया और उत्तरदायित्व के कार्य उन्हें ही सौंपने शुरू किए । सरकारी काम लिखित और व्यवस्थित रूप से होने लगा । लेकिन आज के दफ्तरों की तरह हर काम लालफीताशाही का शिकार हो गया । ठुमकती चलती फाइलों में बंधा कोई काम समय पर होता ही नहीं था । केन्द्रीकरण इतना अधिक था कि किसी भी प्रकार का स्थानीय प्रशासन नागरिकों या सामन्तों द्वारा सम्भव ही नहीं था ।

सबसे बड़ी कठिनाई तो आर्थिक क्षेत्र में थी । चार्ल्स के युद्धों ने खजाना खाली ही कर दिया था । अब राज्य के बहुत से क्षेत्रों में इतनी ही आमदनी होती थी कि प्रशासन का खर्चा चल जाय । कुछ तो आर्थिक दृष्टि से बोझ थे ही क्योंकि स्पेन एक पठारी और अनुपजाऊ प्रदेश है । अमेरिका से धन

आ सकता था और आता भी था लेकिन इसका अधिकांश लूटपाट और विदेशी पूँजीपतियों के हाथ चला जाता था। वैसे भी जब तक देश में ही उत्पादन का आधार मजबूत न हो बाहर से लाया हुआ धन केवल विलासिता बढ़ाता है और देश के अर्थतन्त्र को दूसरों पर निर्भर बनाता है। देश की कृषि और उद्योग प्रमुख रूप से यहूदियों और मूर लोगों के हाथों में थे। राज्य की कट्टर कैथोलिक नीति के नाते इन पर जुल्म होता था और ये देश छोड़ कर भाग रहे थे। स्पेनी स्वयं उनका स्थान लेने को तैयार नहीं थे। जो सम्पन्न थे वे कर देते नहीं थे। जो जीवन की आवश्यकताएँ जुटाने में व्यस्त थे उन्हीं पर कर का बोझ पड़ता था। ऐसी अनिश्चितता में निरन्तर लड़े जा रहे युद्धों का खर्च···। ऐसे में हर तरह की बिक्री पर दस प्रतिशत का कर 'अलकबाला' लगा हुआ था। इसके कारण बाजार की स्थिति और भी डाँवाडोल थी।

जैसे आर्थिक और प्रशासकीय कठिनाइयाँ काफी न हों, उसने धार्मिक नेतृत्व की बात भी सोची। धर्म में वैसे भी उसकी रुचि थी लेकिन धर्म पूरे राज्य को एकरूपता प्रदान करने में भी सहायक हो सकता था। कैथोलिक चर्च में हुए सुधार के बाद एक नये जीवन का प्रवाह शुरू हुआ था। पोप के सहयोग से फिलिप ने चर्च के प्रसार और प्रोटेस्टेण्ट लोगों के दमन का बीड़ा उठाया। यूरोप में हर कहीं वह कैथोलिक लोगों का समर्थक और प्रोटेस्टेण्ट लोगों का विरोधी हो गया। चर्च का अलमबरदार होने के नाते उसे बहुत व्यापक स्तर पर संघर्ष करने पड़े—उसे एक साथ ही कई मोर्चों पर लड़ना पड़ा। ऐसी लड़ाई घातक होती है, यह सर्वविदित है। इन तमाम कठिनाइयों में सबसे कठिन परीक्षा उसे नीदरलैण्ड्स में देनी पड़ी जिसमें वह पूर्णतया असफल हो गया।

फिलिप और तुर्क : वैदेशिक नीति में भी अनिश्चितता की नीति ने उसे इधर-उधर गलत ढंग से फँसाए रखा। कहा जाता है कि यूरोप भूमध्यसागर, अफ्रीका और अमेरिका में से किस घोड़े पर दाँव लगाए, यह वह कभी नहीं समझ सका और दौड़ में कोई घोड़ा उसका नहीं हो सका। दौड़ खत्म हुई तो वह हारे हुए इन्सान की तरह हाथ मलता रह गया। स्पष्ट भाषा में यह भी कह सकते हैं कि उसमें प्राथमिकता-बोध नहीं था कि कौन-सा काम पहले किया जाना चाहिए कौन-सा बाद में। अपनी ही नीतियों के जाल में वह इस तरह फँस गया कि कभी मुक्त नहीं हो सका।

फिलिप चर्च का कितना बड़ा झण्डाबरदार था इसका पता शीघ्र ही लग गया। तुर्कों ने दक्षिणी-पूर्वी यूरोप तो जीत ही लिया था, अब वे भूमध्य-सागर में निरन्तर अपना प्रभाव बढ़ाते जा रहे थे। इटली के व्यवसायी परि-वारों के लिए खतरा बढ़ता जा रहा था। तुर्कों की जीत चर्च के हितों के भी

विरुद्ध थी। नतीजा यह हुआ कि सारे कैथोलिक जगत् के लोग मिल-जुल कर तुर्कों का आतंक समाप्त कर देना चाहते थे। हर धनिक परिवार, हर शासक और सामन्त ने इस अभियान की मदद की। सबसे अधिक सहयोग फिलिप ने ही दिया। पोप ने व्यक्तिगत रूप से आशीर्वाद दिया। अभियान ने सोलहवीं शताब्दी के जेहाद का रूप धारण कर लिया। संयोग से अभियान का नेतृत्व बहुत योग्य व्यक्ति **डानजॉन** के हाथ में था। लेपाण्टो की खाड़ी में भयंकर युद्ध हुआ और अधिकांश तुर्क नौसेना जलमग्न हो गई। 1571 एक निर्णायक तिथि बन गया। इस भयंकर पराजय से तुर्क कभी उभर नहीं सके और धीरे-धीरे पतन के गर्त में गिरने लगे। लेकिन इस विजय को खूब प्रचार के साथ मनाने वाले चर्च और फिलिप को उसी अनुपात में लाभ नहीं मिला। पोप ने सेना को विशेषकर डानजॉन को असाधारण ढंग से सम्मानित किया। लेकिन फिलिप को इसका कोई स्थायी लाभ नहीं मिला। कुछ ही वर्षों बाद उसे सामुद्रिक युद्ध में एक भयानक पराजय झेलनी पड़ी।

फिलिप और इंग्लैण्ड : फिलिप और इंग्लैण्ड के सम्बन्ध कुछ असाधारण परिस्थितियों में शुरू हुए। वह कट्टर कैथोलिक था और इंग्लैण्ड धीरे-धीरे प्रोटेस्टेण्ट होता जा रहा था। लेकिन जैसे ही मेरी ट्यूडर इंग्लैण्ड के सिंहासन पर बैठी, उसने फिलिप से शादी कर ली। मेरी स्वयं भी कैथोलिक थी। इस तरह न केवल वह बल्कि पूरा देश फिलिप का पिछलग्गू हो गया। जैसे पूरा देश ही उसे दहेज में मिल गया हो। इंग्लैण्ड की अपनी कोई स्वतन्त्र वैदेशिक नीति नहीं रह गई लेकिन मेरी बहुत दिन जीवित नहीं रही। एलिजाबेथ के इंग्लैण्ड की महारानी होते ही परिस्थितियाँ बिलकुल विपरीत हो गईं।

एलिजाबेथ एक कुशल राजनीतिक और महत्त्वाकांक्षी महिला थी। अपने और इंग्लैण्ड के भविष्य के विषय में उसकी अपनी योजनाएँ थीं। ऐसे में जब फिलिप ने उससे भी विवाह का प्रस्ताव रखा तो उसने इंकार कर दिया। नारी की अस्वीकृति अपनी श्रेष्ठता के पोषक पुरुष को यूँ ही क्षुब्ध कर देती है। फिलिप को तो यह और भी बुरा लगा क्योंकि न केवल व्यक्तिगत स्तर पर बल्कि बृहत्तर संदर्भों में उसे अपनी नीतियां लड़खड़ाती नजर आईं।

एलिजाबेथ के नेतृत्व में इंग्लैण्ड प्रोटेस्टेण्ट हो गया और यूरोप के अन्य प्रोटेस्टेण्ट लोगों की मदद करने लगा। जैसे फिलिप कैथोलिक लोगों का अपने को नेता समझता था, वैसे ही एलिजाबेथ प्रोटेस्टेण्ट लोगों का नेतृत्व प्राप्त करने में सचेष्ट हो गई। अब तो खुली प्रतिद्वन्द्विता का प्रश्न था। स्पेन के विरुद्ध विद्रोह करने वाले नीदरलैण्ड्स को एलिजाबेथ ने मदद करनी शुरू कर दी।

स्पेन का अर्थतन्त्र अब पूरी तरह अमेरिका से आए धन पर आधारित हो चला था। यूरोप में भी नीदरलैण्ड्स ही स्पेन की आमदनी का स्रोत था। दोनों

ही क्षेत्रों से स्पेन का स्थल सम्बन्ध नहीं था और सामुद्रिक मार्गों पर अंग्रेज सामुद्रिक लुटेरों विशेषकर हॉकिन्स और ड्रेक की तूती बोलती थी। लदे लदाए जहाज लूट लिये जाते थे। स्पेन का आर्थिक जीवन अस्तव्यस्त हो चला था। अब फिलिप के सामने एक ही चारा था—इंग्लैण्ड के साथ अन्तिम रूप से फैसला।

इंग्लैण्ड के विरुद्ध लड़ने के लिए एक शक्तिशाली नौसेना की आवश्यकता थी। फिलिप ने भी सारी शक्ति दाँव पर लगा दी और एक अजेय वेड़ा (Invincible Armada) संगठित करना शुरू किया। एक सौ तीस जहाज, आठ हजार नौसैनिक और उन्नीस हजार सैनिकों के साथ बेड़ा चल पड़ा। इतना बड़ा बेड़ा इससे पहले शायद ही कभी अभियान पर चला हो। नीदरलैण्ड्स से भी सैनिक आकर मिलने वाले थे। लेकिन एलिजाबेथ भी तैयार थी। उसने स्पष्ट कर दिया था कि यह इंग्लैण्ड के अस्तित्व का प्रश्न है। संकट-काल में हमेशा ही इंग्लैण्ड का राष्ट्रीय चरित्र निखरता रहा है। सारे अंग्रेज अपने विरोध भुला कर एक राष्ट्रीय संग्राम में लग गए। सामुद्रिक लुटेरों को भी सम्मानपूर्वक इस युद्ध में शामिल कर लिया गया। नतीजा यह हुआ कि 1588 में इंग्लैण्ड के जाँबाज लड़ाकों ने छोटे-छोटे किन्तु तेज जहाजों के सहारे रास्ते में ही इस अजेय बेड़े को परास्त कर दिया। जो बचा-खुचा था वह एक बड़े तूफान में नष्ट हो गया। एक तिहाई लोग मुश्किल से बच कर लौट सके। यह एक भयंकर और निर्णायक पराजय थी। इसने इंग्लैण्ड और स्पेन दोनों के भाग्य का निर्णय कर दिया। इस पराजय के कुछ दिनों बाद अंग्रेजों की नौसेना ने स्पेनी बन्दरगाह कैडिज को कसकर लूटा और यह स्पष्ट हो गया कि स्पेन अंग्रेजों के सामने असहाय हो गया है।

फिलिप ने अपनी सारा सामर्थ्य लगा दिया था। अब न उसके पास साहस बचा था और न साधन। उसका सम्मान भी ध्वस्त हो गया था। अमेरिका के उपनिवेशों से धन आना बेहद अरक्षित हो गया था और कम ही होता जा रहा था। स्पेन के पतन की गति तेज हो गई। दूसरी ओर इंग्लैण्ड के उभरते राजतन्त्र को ऐसी शक्ति एवं सम्मान मिला, जिससे प्रेरित होकर वह निरन्तर प्रगति की ओर बढ़ता गया। कुछ ही दिनों में यह प्रसिद्ध हो गया कि 'लहरों पर अंग्रेजों का राज्य है'।

फिलिप और फ्रांस : चार्ल्स पंचम के समय फ्रांस और स्पेन के बाद हुए युद्धों का परिणाम यह हुआ कि फिलिप को कातो काम्बेसी की सन्धि स्वीकार करनी पड़ी थी। जब फ्रांस में राजपरिवारों की आपसी कलह और धार्मिक संघर्ष के नाते एक गृहयुद्ध छिड़ गया, तो फिलिप ने फ्रांस के कैथोलिक लोगों की मदद की। स्थिति यह थी कि फ्रांस में राजपरिवार के सम्बन्धी नावार

परिवार का राजकुमार हेनरी ही निकटतम उत्तराधिकारी था और वह प्रोटेस्टेण्ट था। इसलिए उसका उत्तराधिकार बहुतों को स्वीकार्य नहीं था। फिलिप भी तरह-तरह की अड़चनें डालने लगा। लेकिन परिस्थितियों ने हेनरी का साथ दिया और वह फ्रांस का शासक हो गया। स्थिति संभलते ही उसने फिलिप से हिसाब चुकाने की ठानी और आखिर में थके हारे फिलिप को फ्रांस से भी वरवैं की सन्धि करनी पड़ी। उसने हेनरी को फ्रांस के शासक के रूप में मान्यता दे दी। स्पेन को फिलिप के शासन के प्रारम्भ की स्थिति को स्वीकार करना पड़ा। यहाँ भी फिलिप सारी कोशिशों के बावजूद कोई लाभ नहीं उठा सका।

फिलिप और पुर्तगाल : असफलताओं से घिरे फिलिप को एक दिशा में जरूर सफलता मिली पर वह भी स्थायी नहीं हो सकी। पिरेनीज पहाड़ के दक्षिण में स्थित आइबेरियन प्रायद्वीप में दो देश स्थित हैं—स्पेन और पुर्तगाल। इन दोनो में स्पेन अधिक बड़ा और सामर्थ्यवान था। बड़ा पड़ोसी जिस नजर से छोटे पड़ौसी को देखता है वह सर्वज्ञात है और फिर फिलिप जैसा पड़ौसी!

पुर्तगाल और स्पेन के राजपरिवारों में पहले से वैवाहिक सम्बन्ध थे। 1580 में पुर्तगाल का शासक निःसन्तान मर गया। अब क्या था? सभी रिश्तेदार अपना हक जताने की कोशिश करने लगे। लेकिन इसके पहले कि कोई और आता फिलिप की सेनाओं ने सीमा पार कर ली और 60 वर्षों के के लिए पुर्तगाल का अस्तित्व मिट गया। फिलिप के जीवन की शायद यह सब से बड़ी सफलता थी। पुर्तगाल के उपनिवेश भी स्पेन को मिल गए और दक्षिणी अमेरिका के पूरे के पूरे महाद्वीप पर स्पेन का झंडा लहराने लगा। फिलिप को मरते वक्त एक संतोष रहा होगा कि अपने देश के लिए कुछ तो कर गया।

यह सफलता स्थायी हो ही नहीं सकती थी। राष्ट्रीयता के बढ़ते जोर से पुर्तगाल कैसे मुक्त रह सकता था? जब तक फिलिप जिन्दा था पुर्तगाल के विद्रोही सर नहीं उठा सके लेकिन सत्रहवीं शताब्दी के शुरू से ही पुर्तगाल के राजपरिवार ब्रगान्जा, के नेतृत्व में पुर्तगाली स्पेनी जुआ उतार फेंकने के लिए सन्नद्ध हो गए। अन्त में पतनोन्मुख स्पेन स्थिति को संभाल नहीं सका और पुर्तगाल 1640 में फिर एक बार मुक्त हो गया।

मूल्यांकन : फिलिप को स्पेन में आज तक सम्मानित नायक और अन्य देशों में एक खलनायक की तरह चित्रित किया जाता रहा है। वह नायक भी था और खलनायक भी। स्पेन की प्रतिष्ठा के लिए अपने ढंग से उसने सब कुछ किया। यह दूसरी बात है कि उसका विश्लेषण गलत था। उसकी नीतियाँ दूरदर्शितापूर्ण नहीं थीं। उसकी असफलताओं को भी स्पेनी सहानुभूति से देखता

है। किसी भी शासक के लिए यह एक संतोष की बात हो सकती है। लेकिन वास्तविकता यह है कि वह एक कट्टर और धर्मान्ध शासक था जिसने अपने देश और अपने धर्म (कैथोलिक चर्च) को भी नुकसान ही पहुँचाया।

उसकी तुलना एक बार फिर औरंगजेब से करें तो बात स्पष्ट हो जाएगी। औरंगजेब जैसा कुशल और चरित्रवान शासक शायद ही कोई और हुआ हो। लेकिन अपनी धर्मान्धता और अविश्वास के कारण एक साथ उसने बहुतों को अपना दुश्मन बना लिया। कई मोर्चों पर लड़ता हुआ जब वह मरा तो साम्राज्य खोखला हो चुका था। भले ही साम्राज्य 150 वर्षों तक और कायम रहा लेकिन उसका वास्तविक पतन उसके जीवनकाल ही में शुरू हो गया था। यही बात फिलिप के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। एक साथ इंग्लैण्ड, फ्रांस और तुर्कों से दुश्मनी और अपने ही देश में पहले मूर और यहूदी फिर नीदरलैण्ड्स के निवासियों का क्षोभ, धर्म को हर कीमत पर मनवाने की जिद—कुल मिलाकर केवल क्षोभ ही बढ़ा। सुखी तो स्पेन में शायद ही कोई हुआ हो।

जहाँ तक अपने कर्तव्य के निर्वाह का प्रश्न है, वह अथक परिश्रम करता था। बात उसके अनुकूल हो रही हो तो वह मानवीय गुणों का भी प्रदर्शन करता था। लगन और आस्था इतनी कि सब कुछ स्पेन के लिए और भगवान के नाम पर करता था। इसलिए कुछ लोग उसे मासूम कह सकते हैं। लेकिन शासक की मासूमियत नहीं देखी जाती। केवल अपनी योग्यता पर विश्वास, केवल अपने धर्म, अपने देश के लिए सही गलत कूटनीति, युद्ध, दमन किसी भी माध्यम का सहारा लेने के कारण असहिष्णुता के क्षेत्र में भी उसने कीर्तिमान स्थापित किया। एक कट्टर नौकरशाह की तरह कागजी कार्यवाही पर उसे विश्वास था, और इस वैज्ञानिक युग में जब नौकरशाही चींटी की चाल से चलती है तो उस समय क्या स्थिति रही होगी, कितना असंतोष रहा होगा, यह कल्पनातीत नहीं है।

उसकी मृत्यु पर वेनिस के राजदूत ने अपनी सरकार को लिखा था : 'वह ऐसा शासक था जो लोहे (हथियार) के स्थान पर सोने (धन) से, शस्त्रों के स्थान पर बुद्धि से, लड़ता था। उसने चुप बैठकर भी, वार्ताओं द्वारा, कूटनीति के माध्यम से वह सब प्राप्त किया जो उसके पिता ने युद्ध से प्राप्त किया था। लेकिन उसकी नौकरशाह और निरंकुश प्रवृत्ति और स्थानीय स्वतन्त्रताओं के अपहरण की नीति ने हर तरफ असंतोष को जन्म दिया था।' इस रपट में एक सहानुभूतिपूर्ण विवेचन था लेकिन यह निश्चित है कि फिलिप अपनी ईमानदारी और लगन के बावजूद अपने देश का भला नहीं कर सका।

नीदरलैण्ड्स का विद्रोह

मनुष्य ने अदम्य साहस से संसार में अनेक कीर्तिस्तम्भ स्थापित किये हैं। उनमें से एक जीवन्त उदाहरण है नीदरलैण्ड्स। फ्रांस के उत्तर और जर्मनी के पश्चिम में स्थित आज के बेल्जियम और हालैण्ड का बहुत बड़ा हिस्सा समुद्र की सतह से नीचा है। इसीलिए इसका नाम पड़ा था नीची जमीन—नीदरलैण्ड्स। लेकिन यहाँ रहने वालों का हौसला बहुत ऊँचा था। उन्होंने धीरे-धीरे बाँध (Dykes) बनाकर जमीन सुखानी शुरू की। एक हिस्सा सूखने पर वे थोड़ा आगे बढ़ जाते थे यह क्रम अब तक जारी है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि यहाँ के लोगों ने समुद्र से लड़कर अपना देश छीना और बचाया है। उन्हें न केवल सागर बल्कि यूरोप की तीन बड़ी नदियों—राइन, मज और शेल्ट से भी निरंतर लड़ते रहना पड़ा है। आज तो विज्ञान ने उन्हें पूरी तरह समर्थ बना दिया है लेकिन यह किस्सा तब शुरू हुआ था जब आदमी केवल हाथों से लड़ता था।

इस संघर्ष के लिए यहाँ के निवासियों ने बाँधों और नहरों का सहारा लिया है। ऊँचे-ऊँचे बाँध और हजारों नहरें एक दूसरे को काटती हुई, हरे-हरे दूर तक फैले मैदान—यही है इस क्षेत्र की दृश्यावली। ये नहरें बाढ़ आने पर पानी बाँट लेती हैं, सिंचाई और यातायात के सबसे सस्ते साधन उपस्थित करती हैं। यही कारण है कि आज भी हालैण्ड नहरों और मैदानों का देश है। यहाँ के निवासी अपने अध्यवसाय और श्रम के लिए विश्वविख्यात हैं। सागर को उन्होंने नावों पर बैठकर भी नापा था। इसलिए ये बहुत कुशल नाविक थे। कुल मिला कर अपने व्यवसाय के कारण उन्होंने अपनी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी बना ली थी। लेकिन लाभ उनसे ज्यादा उनके शासकों को होता था।

यह छोटा-सा प्रदेश दक्षिण में फ्रांस और पश्चिम में जर्मन प्रभावों में रहा है। इस प्रदेश के निवासियों में एकदम दक्षिण के लोग केल्ट जाति के थे और फ्रेंच जैसी भाषा बोलते थे। यहाँ फ्रांसीसी संस्कृति का प्रभाव था। उत्तर के लोग ट्यूटॉन जाति के थे और जर्मन जैसी भाषा बोलते थे। दोनों क्षेत्रों की आर्थिक स्थिति में भी अन्तर था। लेकिन अन्तर स्पष्ट हुआ धार्मिक प्रभाव के कारण। उत्तर में जर्मन लूथरवाद का प्रसार तेजी से हुआ था जब कि दक्षिण कैथोलिक रह गया था। इस प्रकार नीदरलैण्ड्स एक होते हुए भी कुछ सूक्ष्म विभाजक तत्त्वों के कारण दो अस्पष्ट क्षेत्रों में बँटा हुआ था।

मध्यकाल से ही यहाँ कई रियासतें और रजवाड़े थे जिनसे यूरोप के बड़े छोटे राजघरानों का दूर या निकट का सम्बन्ध था। पर यह क्षेत्र पूरी

तरह से कभी अपने को परतन्त्र नहीं समझता था। चार्ल्स पंचम को नीदरलैण्ड्स भी उत्तराधिकार में मिल गया था। उसने जीवन का एक महत्त्वपूर्ण भाग यहीं बिताया था। यहाँ की भाषा बोलता था वह यद्यपि उसके शासन-काल ही में नीदरलैण्ड्स के निवासी यह महसूस करने लगे थे कि वे पूरी तरह स्वतन्त्र नहीं हैं और उनका शोषण हो रहा है। लेकिन चार्ल्स को उन्होंने बर्दाश्त किया। फिलिप के समय में भ्रम टूट गया और धीरे-धीरे विद्रोह की आग प्रज्वलित होने लगी। इस विद्रोह के क्या कारण थे ?

विद्रोह के कारण : नीदरलैण्ड्स के नाविक और किसान यूरोप भर में अपने श्रम और साहस के लिए जाने माने जाते थे। उनका देश हरा भरा उपजाऊ था ही वे दूर दूर तक व्यापार करते थे। स्पेन जैसे बंजर देश के लिए ऐसे क्षेत्र पर प्रभुत्व होना एक वरदान था। स्पेन के शासक नीदरलैण्ड्स को 'कामधेनु' समझने लगे और नतीजा यह हुआ कि श्रम करता था नीदरलैण्ड्स का निवासी डच और फायदा उठाता था स्पेनी। कर-व्यवस्था ऐसी थी कि यहाँ के लोगों पर ही अधिक बोझ पड़ता था। कोशिश यह की जाती थी कि स्पेन के हित पूरे हों, भले ही नीदरलैण्ड्स का नुकसान हो। जब युद्ध शुरू हुआ विशेष कर फ्रांस से तो कर बढने लगे। नीदरलैण्डस की प्रतिनिधि सभा—स्टेट्स जनरल, मनमाना कर लगाने के विरुद्ध थी। बाद में फिलिप ने प्रतिनिधियों की राय लेनी भी छोड़ दी। फिलिप के सम्बन्ध इंग्लैण्ड से खराब थे, इस कारण न चाहते हुए भी नीदरलैण्ड्स को इंग्लैण्ड से अनावश्यक प्रतिद्वन्द्विता करनी पड़ती थी।

इस प्रकार धीरे-धीरे स्पष्ट हो चला था कि स्पेन नीदरलैण्डस के साधनों पर निर्भर है और उसका जी भरकर शोषण करता है। यह चेतना बहुत दिनों तक चुप नहीं रहने देती। विरोध मुखर होने लगा। अन्य कारणों ने उसे और बढ़ाया।

लूथरवाद पहले ही नीदरलैण्ड्स पहुँच गया था। अब तो काल्वैंवाद का भी प्रभाव बढ़ने लगा। चार्ल्स के जमाने में ही धार्मिक न्यायालय द्वारा प्रोटेस्टेण्ट लोगों को नियंत्रित करने की कोशिश होने लगी थी। फिलिप के जमाने में तो धार्मिक आधार पर पूरी तरह दमन शुरू हो गया। धार्मिक न्यायालय किसी भी धार्मिक असहमति को जड़ से मिटा देने के लिए कृत संकल्प था और जितने भी लोग अदालत में पेश किए जाते थे उनकी सुनवाई का नाटक होता था और ज्यादातर एक छोटा सा फैसला अर्थात सजा-ए-मौत सुना दिया जाता था। दमन से विरोध न कभी शान्त हुआ है, न उस समय हुआ। ये लोग खुल कर विरोध करने लगे। ज्यों-ज्योंदमन बढ़ा त्यों-त्यों विरोध विद्रोह का रूप लेता गया।

विरोध के राजनैतिक कारण भी विद्यमान थे। नीदरलैण्डस पर शासन चाहे जिसका रहा हो वहां के लोगों में एक प्रकार की स्वायत्त भावना हमेशा से थी। उनकी प्रतिनिधि सभाएँ थीं और एक प्रकार की संसद भी थी—स्टेट्स जनरल। विभिन्न प्रभावशाली परिवार थे जिनका अपने-अपने क्षेत्रों पर बहुत असर था। स्पेन के प्रभुत्व में केन्द्रीकरण शुरू हुआ। शासन स्पेन से होने लगा। स्थानीय संस्थाओं और व्यक्तियों का प्रभाव घटने लगा। फिलिप ने तो वहां जाना भी छोड़ दिया। उसके प्रतिनिधि गवर्नर की हैसियत से जाते थे और वहाँ के लोगों में बिना घुले-मिले शासन थोपने का प्रयास करते थे। यह स्पष्ट हो चला था कि नीदरलैण्ड्स स्पेन का उपनिवेश है। महत्त्वपूर्ण पदों पर बाहर के स्पेनी लोग नियुक्त होते थे। फ्रांस के विरुद्ध हुए युद्ध के जमाने से अब तो स्पेनी सेना भी यहां रहने लगी थी। स्पेन के लोग यहाँ के लोगों से रूप-रंग में बिल्कुल भिन्न थे। जैसे भारत में शासन करने वाले अंग्रेज अपनी भिन्नता से प्रभाव जमा लेते थे वैसे ही स्पेनी करना चाहते थे। लेकिन वहां स्पेनी नीदरलैण्ड्स के निवासियों के मुकाबले में सांवला और छोटे कद का होता था और यह असम्मानजनक लगता था कि ऐसे लोग अपने से बेहतर लोगों पर शासन करें। अंग्रेजों की तरह वे आम जनता से अलग 'सिविल लाइन्स' और 'छावनियों' में भी नहीं रहते थे। सड़कों पर निर्द्वन्द्व घूमते नीदरलैण्डस की जनता को हर पल महसूस कराते थे कि वे परतन्त्र हैं

फिर भी चार्ल्स के जमाने तक बात निभ गई क्योंकि उससे एक भावात्मक लगाव जैसा था, लेकिन फिलिप के शासन में हर तरह से खाई बढ़ती गई। फिलिप को यहां के लोगों से जरा भी सहानुभूति नहीं थी। वह इनके बारे में सर्वथा अनभिज्ञ था—शायद इसीलिए प्रशासन सम्बन्धी एक के बाद दूसरी भूल करता रहा। उसका और नीदरलैण्ड्स का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से शोषक और शोषित का हो गया। ऐसे में विद्रोह का होना स्वाभाविक था।

शासन के शुरू में ही फ्रांस से सन्धि हो जाने के बाद से फिलिप ने नीदरलैण्ड्स छोड़ा तो कभी नहीं लौटा। उसने अपनी सौतेली बहन पार्मा की मारगरेट को शासन का उत्तरदायित्व सौंपा था। वह यदि कुटिल सलाहकारों से न घिरी होती तो शायद बात न बिगड़ती। लेकिन उसके सलाहकारों को फिलिप ने कठोर शासन की आज्ञा दे रखी थी। **आरेंज परिवार के विलियम** और उसके जैसे अनेक स्थानीय शासकों में भारी असंतोष था कि उन्हें कुछ नहीं समझा जा रहा है।

विद्रोह पहले स्पेनी फौज की उपस्थिति और धार्मिक न्यायालयों के जुल्मों के विरोध के रूप में शुरू हुआ। सबसे पहले राजधानी ब्रुसेल्स में कुछ सामन्तों ने घोषित किया कि धार्मिक न्यायालय 'ईश्वर का भी नाम बदनाम

कर नीदरलैण्ड्स को बर्बाद कर रहा है।' उन्होंने अपने माँग-पत्र में राजा के विरुद्ध कुछ भी नहीं लिखा। केवल शासन के तरीके का विरोध किया। लेकिन उन्हें 'भिखारी' कह कर उनकी खिल्ली उड़ाई गई। वहीं उन्होंने इस मजाक को ही अपना हथियार बनाने का निर्णय ले लिया। उन्होंने भीख का कटोरा अपना प्रतीक मान लिया और अपने को भिखारी घोषित किया। सारे प्रदेश में शासकों की असम्मानजनक नीति का प्रचार हो गया और भिखारी शब्द को शासकों के प्रति व्यंग्य के रूप में इस्तेमाल किया जाने लगा। एक प्रतिनिधि-मंडल स्पेन भेजा गया।

इसी बीच काल्वेंवादियों ने उग्र रूप धारण कर लिया। उन्होंने चर्च पर प्रहार शुरू किया और मूर्तियां तथा तस्वीरें तोड़ डालीं। बहुत बड़ी संख्या में कलाकृतियां नष्ट-भ्रष्ट कर दी गईं। इतिहासकारों ने इसे 'मूर्ति-भंजक रोष' की संज्ञा दी है। इससे फिलिप ने सबक नहीं लिया। उल्टे उसने प्रतिहिंसा की नीति अपनाई और अपने प्रसिद्ध सेनापति आल्वा के ड्यूक को प्रशासक बना कर भेजा।

आल्वा एक कट्टर और धर्मान्ध व्यक्ति था। शासक के रूप में उसने निरंकुश तरीका अपनाया। अपने दस हजार स्पेनी सैनिकों की मदद से उसने हर तरह के विरोध का दमन कर देना चाहा। एक समिति (Council of Trouble) बनाई गई जो अपने कारनामों की वजह से खूनी समिति (Council of Blood) कहलाने लगी। हजारों लोग मारे गए। बहुतों ने देश छोड़ दिया। विलियम तो स्थिति देखकर बच निकला था। लेकिन इगमण्ट जैसे अन्य प्रसिद्ध सरदार जिन्होंने विरोध किया था मारे गए। कर बढ़ा दिए गए। सारे उद्योग धन्धे बन्द हो चले। एक आतंक छा गया।

अब खामोश रहना सम्भव नहीं था। देश के सारे लोगों ने अपने आपसी विरोध भुला दिए और विलियम के योग्य नेतृत्व में संगठित विरोध शुरू हुआ।

विलियम आरेंज परिवार का शासक था। नीदरलैण्ड्स में उसके परिवार की सबसे अधिक प्रतिष्ठा थी। विलियम न तो बहुत बड़ा सेनापति था, न राजनेता लेकिन उसमें निस्सीम धैर्य और लगन थी। वह चुपचाप अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए सचेष्ट रहना जानता था। इसीलिए उसे शान्त विलियम (William, the Silent) कहा जाने लगा था। वास्तविकता यह थी कि वह बहुत शान्त प्रकृति का नहीं था, न ही शान्तिप्रिय था क्योंकि उसे लगातार संघर्ष करना पड़ा। कुछ भी हो उपर्युक्त समय पर उसने अपने देशवासियों को सराहनीय नेतृत्व प्रदान किया। उसके बारे में प्रसिद्ध था कि 'वह सब कुछ सुनता है और कुछ नहीं भूलता।' उसका सबसे बड़ा गुण था देश की

सेवा में, बिना किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के अपना सर्वस्व न्योछावर कर देना। उसने जितने भी साधन उपलब्ध थे उनके सहारे एक छोटी-सी सेना बना कर मुक्ति-संग्राम छेड़ दिया। लेकिन आल्वा का आतंक इतना था कि उसकी सेना छिन्न-भिन्न हो गई। इसी समय आल्वा ने एक और गलती की। उसने दशमांश (Tenth Penny) नामक एक कर लगाया। किसी भी सामान पर चाहे वह रोज की आवश्यकताएँ ही क्यों न हों, उसने दस प्रतिशत कर लगा दिया। जीवन दूभर हो गया और क्षोभ बढ़ चला।

इसी समय डच सामुद्रिक लुटेरों ने अपने को सामुद्रिक भिखारी (Beggar of the sea) के नाम से संगठित किया और हमला करके ब्रिल नामक नगर पर अधिकार कर लिया। सारे देश में बिजली-सी कौंध गई। स्वतःस्फूर्त विद्रोह शुरू हो गए। हालैण्ड और जीलैण्ड प्रान्तों से स्पेनी सैनिक और शासक मार भगाए गए। उन्होंने विलियम को अपना शासक (Stadholder) नियुक्त किया और विद्रोह संगठित ढंग से आगे बढ़ने लगा गया।

आल्वा ने भयंकर दमन शुरू किया। कई स्थानों पर स्पेनी सैनिकों ने नृशंस अत्याचार किए। कई नगर फिर से जीत लिए गए लेकिन अब पूरी तरह विद्रोह का उन्मूलन कर पाना सम्भव नहीं था। फलतः 6 वर्षों के क्रूर शासन के बाद असफल आल्वा को वापस बुला लिया गया।

इसके उत्तराधिकारी के रूप में रेक्जेन्स को भेजा गया जो अपेक्षतया गम्भीर प्रकृति का व्यक्ति था। उसने रक्त परिषद् को भंग कर दिया और क्षमा-दान की घोषणा की। लेकिन बात बहुत आगे बढ़ गई थी। आल्वा के पहले तक यह नीति चल सकती थी। अब तो संघर्ष शुरू हो चुका था। लीडेन नामक नगर पर स्पेनी घेरा डाले हुए थे। कोई चारा न देखकर विलियम ने बांधों को काट देने की आज्ञा दे दी। तूफानी लहरों ने सबको तहस-नहस कर डाला। स्पेनी सेना को भी, जो बच सके, भागना पड़ा। इसी समय रेक्जेन्स की मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी के आने में देर थी। नियन्त्रणविहीन स्पेनी सेना ने गजब ढा दिया। उसने जी-भरकर लूट-खसोट की और उसका रोष (Spanish Fury) परोक्ष रूप से नीदरलैण्ड्स के सभी निवासियों के संगठन का कारण बन गया।

अब तक विद्रोह उन्हीं क्षेत्रों में व्याप्त था जो प्रोटेस्टेण्ट थे। अब तो हर तरह के लोगों ने मिलकर 1576 में गेण्ट नामक नगर में एक समझौता (Pacification of Ghent) कर लिया। उन्होंने घोषणा की कि जब तक धार्मिक न्यायालय समाप्त नहीं किये जाते, स्पेनी सैनिक वापस नहीं बुलाए जाते और उन्हें उनके अधिकार वापस नहीं किये जाते, विद्रोह चलता रहेगा। स्पेन देश के लिए यह एक स्वर्णिम अवसर था, लेकिन वह क्षणभंगुर साबित हुआ

रेक्जेन्स के स्थान पर लेपाण्टो का विजेता **डॉनजान** भेजा गया लेकिन शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई । तब पार्मा का ड्यूक **अलेक्जेण्डर फार्नेस** गवर्नर बनाकर भेजा गया और उसने दण्ड नहीं भेद की नीति से काम लेना शुरू किया । नीदरलैण्ड्स के उत्तरी दक्षिणी क्षेत्रों के बीच के अन्तर पर प्रकाश डाला जा चुका है । अलेक्जेण्डर ने दक्षिण के कैथोलिक लोगों को बहकाने में सफलता पाई । 'भेद डालो और शासन करो' (Divide and Rule) की नीति का परिणाम यह हुआ कि दक्षिण के प्रान्तों ने आरा का संघ (League of Arras) बना लिया और विलियम को मजबूरन केवल प्रोटेस्टैण्ट लोगों का अलग से यूट्रेक्ट का संघ (Union of Utrecht) बनाना पड़ा । विभाजन से विद्रोही आन्दोलन निश्चित रूप से कमजोर पड़ गया था । लेकिन अब उसमें और एकरूपता आ गई ।

विलियम ने जहाँ तक हुआ खुली लड़ाई से बचने की नीति अपनाई क्योंकि अलेक्जेण्डर की शक्ति ऐसी थी कि वह उत्तर के प्रान्तों को सैनिक बल के आधार पर जीत सकता था । लेकिन विलियम ने, हर प्रोटेस्टेण्ट देश से मदद लेते हुए, व्यावसायिक कार्यों को रुकने नहीं दिया ।

अब स्पष्ट हो चुका था कि विद्रोह की रीढ़ विलियम है । उसे रास्ते से हटाना आवश्यक था । उसे घूस देने की कोशिश की गई । असर नहीं हुआ । तब किसी भी सही गलत ढंग से उसे खत्म करना ही था । फिलिप ने उस पर से कानून का संरक्षण हटा लिया । अब उसे कोई कुछ कर दे कानून उसका कुछ नहीं करता । साथ ही उसे समाप्त करने वाले के लिए पुरस्कार की व्यवस्था भी कर दी गई । अब क्या था ? किसके दुश्मन नहीं होते ? और किसे प्रलोभन नहीं होता ? नतीजा यह हुआ कि 1584 में एक कैथोलिक ने विलियम की हत्या कर दी ।

एक ओर विलियम की हत्या ने कुठाराघात किया दूसरी ओर अलेक्जेण्डर की सेनाएँ बढ़ती ही जा रही थीं । लेकिन विलियम के युवा पुत्र **मोरिस** ने अपने शौर्य से, उत्तरी प्रान्तों ने अपनी दृढ़ता और एलिजाबेथ की सामयिक मदद ने विद्रोह को मरने से बचा लिया ।

इंग्लैण्ड की सेना पहली बार खुले आम डच लोगों की मदद के लिए नीदरलैण्ड्स पहुंची । फिलिप ने अपना सारा क्रोध इंग्लैण्ड पर उड़ेल दिया लेकिन उसके अजेय बेड़े के परास्त होने से नीदरलैण्ड्स पर दबाव पड़ना कम हो गया । फ्रांस में हेनरी चतुर्थ जब शासक हुआ तो उसने फिलिप के विरोधियों की मदद की । इधर मोरिस ने अपने शौर्य से हारे स्थान वापस लेने शुरू कर दिए ।

फिलिप ने जीते जी नीदरलैण्ड्स नहीं छोड़ा । उसकी मृत्यु के बाद भी

फिलिप के पुत्र ने युद्ध बन्द नहीं किया। लेकिन अब मोरिस का सितारा बुलन्दी पर था। वह लगातार जीत रहा था। स्पेनी शासन का अन्त हो चुका था लेकिन हार मानना सम्भव नहीं था। इसलिए 1609 में बारह वर्षों के लिए एक युद्ध-स्थगन समझौता हो गया। इसी बीच तीस वर्षीय युद्ध शुरू हो गया और नीदरलैण्ड्स के उत्तरी प्रान्तों ने अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। अब सवाल केवल एक सच्चाई को स्वीकार करने का था। पतनोन्मुख स्पेन तीस वर्षीय युद्ध में और पिटा। जब वेस्टफेलिया की सन्धि हुई तो हालैण्ड नामक नये राज्य के जन्म को औपचारिक रूप से स्वीकार कर लिया गया। एक स्वतन्त्रता-संग्राम को विजय मिली।

इस प्रकार नीदरलैण्ड्स के विद्रोह की सफल परिणति ने यूरोप के एक नये और महत्त्वाकांक्षी राष्ट्र को जन्म दिया। दक्षिणी नीदरलैण्ड्स स्पेन और बाद में आस्ट्रिया का गुलाम बना रहा। बाद में बेल्जियम नाम से उसे भी स्वतन्त्रता मिली। व्यापारियों और नाविकों के देश हालैण्ड ने न केवल अपनी आजादी हासिल की थी बल्कि दुनिया के सबसे बड़े साम्राज्य को नीचा दिखाया था और स्पेन के पतन को अनिवार्य बना दिया था। कुछ ही समय में हालैण्ड एक शक्तिशाली देश बन गया। उसने पहले व्यवसाय और फिर सैनिक शक्ति के सहारे जापान से ब्राजील तक अनेक उपनिवेश पैदा कर लिये। आज का नगर न्यूयार्क भी पहले उसके कब्जे में था और उसने अपनी राजधानी एम्सटर्डम के नाम पर उसका नाम न्यू एम्सटर्डम रखा था। एम्सटर्डम का ऐश्वर्य बढ़ता ही गया और वह वित्तीय मामलों में अपने बैंकों द्वारा सारी दुनिया पर प्रभाव रखने लगा। वह हीरों के व्यापार के लिए दुनिया की सबसे बड़ी मण्डी बन गया।

व्यवसाय में तो हालैण्ड का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था ही रचनात्मक क्षेत्रों में भी वह आगे बढ़ता गया। साहित्य और कला में डच लोगों ने बहुत प्रसिद्धि पाई। **ग्रोशियस** अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रवर्तक कहा जाने लगा। फ्रांसिसी दार्शनिक **देकार्त** बहुत दिनों तक हालैण्ड को ही अपनी रचना-भूमि बनाये रहा। महान् दार्शनिक **स्पिनोजा** भी डच था। हाल्स और रेम्ब्रांट जैसे कलाकार आज भी विश्व की विभूतियों में समझे जाते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी में बनी यह परम्परा आज भी बनी हुई है। आज उपनिवेश नहीं रहे लेकिन छोटा सा देश हालैण्ड दुनिया के सबसे सम्पन्न और व्यवस्थित देशों में से है।

स्पेन का पतन

स्पेन एक धूमकेतु की तरह यूरोप के क्षितिज पर उदित हुआ। उसके

प्रकाश की जगमगाहट फैल गई लेकिन सब कुछ अस्थायी था। एक शताब्दी भी नहीं बीती थी कि स्पेन में उत्कर्ष का अस्तित्व ही मिट गया। केवल इतिहास में याद बाकी रह गई। ऐसा क्यों हुआ ?

वास्तविकता यह है कि स्पेन में महानता का आधार ही नहीं बना। किसी देश की वास्तविक महानता वहाँ की स्थायी आर्थिक उपलब्धियों पर निर्भर करती है। स्पेन को प्रकृति ने गरीब बनाया है। वहां के निवासियों ने भी अपने श्रम से वहां की कमी पूरी करने की कोशिश नहीं की। ऐसा लगता है कि यह मात्र संयोग था कि सोलहवीं शताब्दी में अचानक स्पेन यूरोप का सबसे शक्तिशाली देश हो गया। इस संयोग से हम परिचित हैं। इसी अचानक प्राप्त महानता के बोझ से स्पेन दबा रहा और इतनी बुरी तरह उलझा कि जो स्वाभाविक उन्नति हो सकती थी उससे भी वंचित रह गया।

कास्तील और अरागान के विलय के बाद स्पेन का राष्ट्रीय एकीकरण सम्पन्न भी नहीं हुआ था कि वह एक बहुत बड़े साम्राज्य की उलझनों में फँस गया। इंग्लैण्ड और फ्रांस राष्ट्रीय एकता और व्यवस्था सम्पन्न करने के बाद औपनिवेशिक अभियान की दिशा में उन्मुख हुए थे। स्पेन में सब एक साथ शुरू हो गया। परिणाम यह हुआ कि स्पेन का पहला और अन्तिम सम्राट् चार्ल्स, सम्राट् अधिक स्पेन का राजा कम रह पाया। यातायात के साधनों के अभाव में इतनी सारी भाषाओं और जातियों पर शासन करना एक ऐसा सरदर्द था जिसका कष्ट स्पेन को ही उठाना पड़ा। स्पेन की बहुतेरी कठिनाइयाँ महज इसलिए थीं कि उसका शासक सम्राट् था और साम्राज्य के कारण उसे तमाम दुश्मनों से लोहा लेना पड़ता था। ऐसा न होता तो तुर्कों और लूथर से स्पेन को बहुत कुछ नहीं लेना देना था। नीदर-लैण्ड्स का बोझ न आ पड़ा होता तो सारी शक्ति वहां का विद्रोह दबाने में न लगानी पड़ती। इसी तरह उपनिवेशों का धन लूटने के कारण ही इंग्लैण्ड से दुश्मनी बढ़ी। अन्त में यह भी कह सकते हैं कि गरीब स्पेन के धनी उपनिवेशों ने उसे गरीब ही बनाये रखा। बाहर से आए धन ने स्पेन को आलसी बनाये रखा। और चूँकि वह धन पूंजी बन कर उत्पादक कार्यों में नहीं लगा, वह खर्च होता रहा और जब धन कम आने लगा या उपनिवेश आजाद हो गए तो स्पेन बेसहारा हो गया। इसलिए जो स्पेन की महानता के कारण दिखाई पड़ते हैं वे ही उसके पतन के वास्तविक कारण सिद्ध हुए।

स्पेन में प्राकृतिक साधनों की कमी थी लेकिन मनुष्य उसे पूरी कर सकता था। आधुनिक जापान इस बात का प्रमाण है। जापान में लोहा, कोयला, पेट्रोलियम, यूरेनियम कुछ भी नहीं होता पर वहाँ का निवासी, मानवीय साधन, वहाँ की शक्ति का आधार है और जापान की आर्थिक प्रगति की

रफ्तार दुनिया में सबसे तेज है। स्पेन के मानवीय साधन थे वहाँ के अनुशासित और बहादुर सैनिक, परिश्रमी मूर और चतुर यहूदी। इनमें से किसी का सही इस्तेमाल न हो सका। सैनिक अनावश्यक या थोपे हुए युद्धों में लगे रहे और धार्मिक असहिष्णुता के कारण मूर और यहूदियों का दमन हुआ जिनमें से अधिकांश देश छोड़कर चले गये। बचे हुए स्पेनी इतने पराश्रित थे कि समाज की आर्थिक गतिविधि को संभाल नहीं सके।

स्पेनी समाज का जीवन पूरी तरह संगठित नहीं हो सका। कास्तील और अरागान का राजनैतिक जीवन भिन्न था। उनके विलय पर कोई एक स्वीकृत व्यवस्था नहीं लागू हो पाई। सामन्ती प्रवृत्ति का इतना जोर था कि वास्तव में स्पेन का आधुनिकीकरण हो ही नहीं पाया—आज तक नहीं हो सका है। पुनर्जागरण के प्रभावों से स्पेन पूरी तरह नहीं बदला। इसलिए सामाजिक और आर्थिक उद्वेलन नहीं हो सका। कृषि और उद्योग की वही पुरानी व्यवस्था चलती रही और उस पर भी पूरा ध्यान नहीं दिया जा सका। बाहर के व्यापारी और बैंकर स्पेन में लाभ उठाते रहे क्योंकि स्पेनी स्वयं उस के लिए तैयार ही नहीं था।

स्पेन के शासकों की धार्मिक असहिष्णुता की नीति ने बहुत नुकसान पहुँचाया था। चार्ल्स के समय में सम्राट् होने की वजह से और फिलिप के समय में जान बूझकर स्पेन को कैथोलिकों का नेता होना पड़ा। इसके कारण अपने राज्य में भीषण दमन और अन्यत्र भयंकर युद्ध की दुहरी चक्की में स्पेन पिसता रहा। धार्मिक दमन ने ही नीदरलैण्ड्स के विच्छेद की पृष्ठभूमि बनाई, एक विनाशकारी आतंक को जन्म दिया और स्पेन के आर्थिक ढांचे को डगमगा दिया।

उपनिवेश, जिन्होंने इंग्लैण्ड और फ्रांस जैसे देशों की महानता की नींव रखी, वे ही स्पेन के लिए बोझ बन गए। स्पेन की आर्थिक स्थिति ही ऐसी नहीं थी कि विकास के लिए उपनिवेशों का शोषण कर सके। स्पेन के उपनिवेशों में केवल धर्म-प्रचार होता रहा और लोग ईसाई बनाये जाते रहे। इंग्लैण्ड और फ्रांस के उपनिवेशों में धर्म-प्रचार भी हुआ लेकिन विशेष रूप से बाजार बनाये गए और वक्त आने पर राजनैतिक प्रभुत्व भी कायम किया गया। इनके लिए उपनिवेश विशुद्ध रूप से आर्थिक लाभ के लिए थे। स्पेन ऐसी स्थिति में था ही नहीं। उसे तो जैसे अमेरिकी उपनिवेशों से पेन्शन मिलती रही जिसे वह मौज उड़ाने में खर्च करता रहा। परिणाम यह हुआ कि पूरा समाज विलासी, आलसी और भ्रष्ट हो गया। स्पेन यदि पूँजीवादी हो गया होता तो उपनिवेशों से लाभ होता लेकिन सामन्ती स्पेन के लिए उपनिवेश कैन्सर हो गये।

स्पेन के शासकों की भी जिम्मेदारी कम नहीं थी। विडम्बना यह कि सोलहवीं शताब्दी के दोनों ही शासक योग्य थे और उन्हें अपने देश से प्यार था पर दोनों ही ने अपनी अदूरदर्शिता से अपने देश को कमजोर बनाया। चार्ल्स तो स्पेन का राजा होने का उत्तरदायित्व पूरा ही नहीं कर सका। इतनी सारी समस्याओं में वह उलझा रहा कि स्पेन के हित दबते चले गये। फ़िलिप केवल स्पेन के लिए चिंतित था लेकिन वह समझ ही नहीं सका कि वास्तविक लाभ कैसे हो सकता है। गौरव किसी देश की वास्तविक निधि नहीं होता। वास्तविक उपलब्धियाँ हों तो गौरव मिल ही जाता है। फिलिप ने उल्टा ही काम किया। गौरव का प्यासा वह भागता ही रह गया और मृगतृष्णा का शिकार हो गया। गौरव की तलाश में देश की तात्कालिक आवश्यकताओं और स्थायी उन्नति पर उसने ध्यान ही नहीं दिया। जिस नौकरशाही तन्त्र का जाल उसने बुना उसमें सामान्य प्रशासन भी ठीक से नहीं हो सकता था। केवल भ्रष्टाचार पनप सकता था, असंतोष बढ़ सकता था। शासनतन्त्र को जंग लग सकती थी और वही हुआ।

जब कभी राजनीति और धर्म की खिचड़ी पकी है, विनाश हुआ है। धर्म-सुधार ने बहुत कुछ इसे स्पष्ट भी किया था लेकिन फिलिप ने कभी ध्यान नहीं दिया। वह चर्च और स्पेन दोनों का भला एक साथ करना चाहता था। कभी-कभी वह स्पेन को प्राथमिकता देता भी था तो सवाल इतने उलझे हुए थे कि लाभ हो नही पाता था। उसमें इतनी योग्यता थी कि यदि उसने केवल स्पेन के हित में काम किया होता तो स्थिति इतनी बिगड़ने नहीं पाती। लेकिन वह तो चर्च की लड़ाई लड़ता रह गया।

शासक के लिए समय की पहचान बहुत आवश्यक होती है। सोलहवीं शताब्दी में प्रगति की शक्तियाँ थीं—मध्यवर्ग, पूँजीवाद, सामुद्रिक शक्ति, राष्ट्रीयता आदि। इन्हें जिन शासकों ने पहचाना और बढ़ावा दिया वे आगे निकल गये। स्पेन के शासकों ने इनका महत्त्व ही नहीं समझा। स्पेनी समाज सामन्ती ही रह गया और मध्यवर्ग का पूरा विकास ही नहीं हो पाया। सामुद्रिक शक्ति के सहारे ही स्पेन को उपनिवेश मिले थे। लेपाण्टो की विजय मिली थी, फिर भी उसका महत्त्व नहीं समझा गया। अटलाण्टिक और भूमध्यसागर के तटों की रक्षा के साथ स्पेन को नीदरलैण्ड्स की रक्षा करनी होती थी, उपनिवेशों से यातायात सुरक्षित रखना पड़ता था। लेकिन स्पेन की नौसेना स्थिर रह गई जब कि अन्य देश इस क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ गये।

इस तरह हम यह भी कह सकते हैं कि स्पेन में आधुनिकता की प्रेरक

शक्तियों को प्रोत्साहित और संगठित नहीं किया गया। इस प्रकार प्रतिद्वन्द्विता के युग में अन्य प्रगतिशील देशों से पिछड़ जाना स्वाभाविक ही था। यूरोप के अन्य देश आगे बढ़ते चले गए और स्पेन आज भी आर्थिक विपन्नता और राजनतिक तानाशाही के नीचे दबा कराह रहा है।

छठा अध्याय

फ्रांस का उत्कर्ष

दुनिया के महान् देशों की गणना उनकी सैनिक और आर्थिक शक्ति के आधार पर की जाती है। फ्रांस इस दृष्टि से भी कई शताब्दियों तक महान् रहा। लेकिन उसकी वास्तविक महानता वहाँ की सांस्कृतिक उपलब्धियों के कारण है। इसका एक स्थूल सा उदाहरण इस बात से दे सकते हैं कि द्वितीय महायुद्ध के बाद जब राष्ट्रसंघ बना तो उसका केन्द्र सबसे शक्तिशाली देश अमेरिका के सबसे बड़े नगर न्यूयार्क में बना और उसी राष्ट्रसंघ की सांस्कृतिक शाखा 'यूनेस्को' का केन्द्र फ्रांस की राजधानी पेरिस को बनाना पड़ा।

पिछली तीन शताब्दियों से साहित्य, कला और विचारों के क्षेत्र में फ्रांस अग्रणी रहा है। जहाँ तक सौन्दर्य-बोध का प्रश्न है, रहन-सहन, आचार-व्यवहार के तौर-तरीकों के लिए पहले सारा यूरोप और बाद में सारा विश्व फ्रांस की ओर देखता रहा है। वस्त्राभूषणों के मामले में हर साल दुनिया की नजर लगी रहती है कि देखें इस वर्ष फैशन का क्या रुख है? आधुनिक चित्र-कला का इतिहास फ्रांसीसी चित्रकला का इतिहास है। साहित्य की विधाओं में फ्रांसीसी साहित्यकारों की नकल होती रही है। साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार सबसे अधिक फ्रांसीसी साहित्यकारों को ही मिला है। फ्रेंच दार्शनिकों ने औरों से आगे की ही बात सोची है। रही राजनीति की बात तो लूई चतुर्दश से राष्ट्रपति दगाल तक एक शक्तिशाली राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीति के लिए फ्रांस जाना जाता रहा है। ऐसा कैसे हुआ? यह प्राथमिकता सहज ही में नहीं मिली। इसके पीछे सदियों का इतिहास है। फ्रांस के इतिहास की तीन शताब्दियों की प्रमुख प्रवृत्तियों और घटनाओं का सर्वेक्षण करने पर ही फ्रांस का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा।

पुनर्जागरण के समय फ्रांस का शासक फ्रांसिस था। वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में चाहे जैसा रहा हो, अपने देश को सही दिशा देने में उसका योग-दान महत्त्वपूर्ण था। तत्कालीन अन्य विश्वविद्यालयों की तरह पेरिस का

सॉरबोन विश्वविद्यालय भी कट्टरता का प्रतीक था। उसने उसके समानान्तर कॉलेज द फ्रांस की स्थापना की जो आज तक अपनी उदार और उद्भट परम्पराओं के लिए विश्वविख्यात है। पुनर्जागरण की मुख्य धाराओं को फ्रांस मे प्रवाहित करने में उसने व्यक्तिगत रुचि ली। इसके प्रमाण लुआर प्रदेश के शातो और लेओनार्दो की, जिहोंने अन्तिम दिन फ्रांसिस के संरक्षण में बिताये, कब्र हैं। उसी समय से 'मोनालिसा' फ्रांस के कब्जे में है। पेरिस का वैचारिक धरातल उठाने में भी उसने रुचि दिखाई थी। यद्यपि धार्मिक रूप से वह कैथोलिक ही रहा लेकिन मानववादी विचार फ्रांस में भी फैले।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त से ही लफैव्र जैसे सुधारकों का प्रभाव बढ़ने लगा था। फ्रांसिस के समय में ही लूथर का प्रादुर्भाव हुआ था। काल्वैं को फ्रांस छोड़कर जाना पड़ा था लेकिन बहुत से फ्रांसीसी काल्वैंवादी हो गए थे। विशेष रूप से फ्रांस का नवोदित मध्यमवर्ग जो अटलाण्टिक तट के नगरों में रहता था, प्रोटेस्टेण्ट हो रहा था और अपने धन और सामर्थ्य के कारण संख्या के अनुपात में अधिक प्रभावशाली था। इससे बहुमत के कैथोलिक रुष्ट थे ही, फ्रांस के सामन्त अधिक क्षुब्ध थे क्योंकि मध्यमवर्ग के हाथों उन्हीं को अपनी सत्ता छिनती नजर आ रही थी।

फ्रांसिस और हेनरी के बीच का समय

फ्रांसिस और दूसरे महत्त्वपूर्ण शासक हेनरी के बीच का शासन-काल धार्मिक और पारिवारिक कलह और संघर्ष का काल है जिस पर संक्षेप में विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

यह काल धार्मिक कलह और पारिवारिक षड्यन्त्रों के लिए याद किया जाता है। सामन्ती परिवारों ने अपनी स्थिति बनाये रखने के लिए इस समय जी-तोड़ प्रयास किया। फ्रांस की अधिकांश जनता कट्टर कैथोलिक थी, और है। लेकिन पहले लूथर और फिर काल्वैं के अनुयायी सम्पन्न और महत्त्वाकांक्षी मध्यमवर्ग में बढ़ रहे थे। विशेष रूप से काल्वैं का प्रभाव बढ़ रहा था क्योंकि वह फ्रेंच था और भाषा की निकटता एक निर्णायक निकटता होती है। काल्वैं के विचारों में नये वर्ग को धार्मिक ही नहीं राजनैतिक और आर्थिक सम्भावनाएँ भी दिख रही थीं और उनके प्रोटेस्टेण्ट होने का यही प्रमुख कारण भी था।

फ्रांसिस का उत्तराधिकारी हेनरी खतरे को समझ रहा था। उसने फ्रांस की सेना की मदद से इसका दमन करना चाहा लेकिन अपने जीवन-काल में उसे सफलता नहीं मिली। उसका लड़का फ्रांसिस द्वितीय तो बिल्कुल अयोग्य था। लेकिन सत्ता उसकी माँ कैथरिन के हाथों में थी जो न केवल माँ थी, अपने लड़कों के हितों की रक्षा के लिए सब कुछ करने को तत्पर थी।

कैथरिन इटली के मेडिची परिवार की महिला थी और अपने देश से मेकियावेली की शिक्षाओं के साथ आई थी। उसकी सारी महत्वाकांक्षा अपने अयोग्य पुत्रों की सत्ता बनाये रखने तक सीमित थी। धर्म में उसकी विशेष रुचि नहीं थी। इस मामले में वह बहुत कट्टर भी नहीं थी, लेकिन सत्ता बनाये रखने के प्रश्न पर वह कुछ भी करने को तैयार थी। इतिहास साक्षी है कि जब भी राजनीति हरम से संचालित होती है षड्यन्त्र बढ़ते हैं। फ्रांस में भी यही हुआ।

उस समय तीन गुट सक्रिय थे। एक गुट राजपरिवार से सम्बन्धित नावार के बूर्बों परिवार का था। फ्रांस के दक्षिण-पश्चिम में स्थित नावार की रियासत के परिवार को ही अन्ततोगत्वा सफलता मिली। दूसरा गुट गीज परिवार का था, जिसकी, रानी से सम्बन्धित होने के नाते, महलों तक पहुँच थी। एक तीसरा गुट राजनीति में इतना डूबा हुआ था कि उसका नाम ही राजनैतिक (Politiques) पड़ गया था। कैथोलिक राजनीतिज्ञों का यह गुट अतिशयवादी नहीं था और हर कीमत पर राष्ट्रीय एकता बनाये रखना चाहता था।

इन गुटों में पहले गीज परिवार के ड्यूक को प्राथमिकता मिली। प्रोटेस्टेण्ट लोग, जिन्हें फ्रांस में यूगनो (Hugnenot) कहा जाता था, इस संकट-काल में अपना प्रभाव बढ़ाने लगे। कैथरिन और गीज के ड्यूक ने राजा और रानी की रक्षा के नाम पर प्रोटेस्टेंट लोगों का भयंकर दमन शुरू किया। फ्रांसिस के मरने पर सत्ता पूरी तरह कैथरिन के हाथ में आ गई क्योंकि उसका दूसरा पुत्र नाबालिग था। अब स्थिति और बिगड़ने लगी।

इस बीच बूर्बों परिवार के प्रोटेस्टेण्ट हो जाने और गीज परिवार के कैथोलिक समर्थक होने के नाते इन परिवारों का सामन्ती संघर्ष धार्मिक रूप ले रहा था। कभी-कभी शासकों का ध्यान किये बिना ही ये परिवार आपस में टकराने लगे थे। शासक की कमजोरी के कारण धार्मिक गुटबन्दी ने तनाव-पूर्ण स्थिति पैदा कर दी थी। लालची सामन्त उद्वेलित थे। ऐसे में गृहयुद्ध होना स्वाभाविक था। ऐसे वातावरण में गीज का ड्यूक वास्सी नामक नगर से गुजर रहा था। वहाँ प्रोटेस्टेण्ट लोग प्रार्थना-रत थे। कहा-सुनी के बाद लोग हिंसा पर उतर आये और सैकड़ों यूगनो हताहत हो गये। यह गृहयुद्ध की पूर्व सूचना थी जिसमें सारा फ्रांस बुरी तरह कमजोर हुआ। ऐसा लगता था कि प्रोटेस्टेण्ट और कैथोलिक किसी प्रतियोगिता में शामिल हैं जैसे वे साबित करना चाहते हों कि कौन अधिक नृशंस है और फ्रांस को अधिक बरबाद कर सकता है। इसमें कैथरिन अपने पारिवारिक स्वार्थ के कारण कोई निर्णायक भूमिका नहीं निभा पाई। अन्त में 1570 में सैंजमैं की सन्धि हुई जिसके अनुसार यूगनो लोगों को अपने क्षेत्रों में धार्मिक स्वतन्त्रता मिल गई। 'राज-नैतिक' वर्गों के सरदार कोलिन्यी का प्रभाव बढ़ने लगा और फ्रांस यूगनो और

अन्य प्रोटेस्टेण्ट देशों से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध की ओर बढ़ने लगा। कैथरिन इससे बहुत असन्तुष्ट थी। उसने कोलिन्यी की हत्या करवा दी।

इस बीच यूगनो लोगों के नेता नावार के हेनरी और राजपरिवार के सम्बन्धों को मजबूत बनाने के लिए हेनरी और राजकुमारी मारगरेट का विवाह कर देने का निर्णय किया गया। पेरिस में सारे फ्रांस के प्रोटेस्टेण्ट अपने नेता के विवाह के लिए इकट्ठा होने लगे। कैथरिन ने एक घातक प्रहार करने की योजना बनाई। 24 अगस्त 1572 को सन्त बारथोलोमिउ का त्यौहार था। सुबह के पहले जब गिरजाघर का घंटा बजा तो पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार कैथोलिक लोगों ने उन घरों पर हमला किया जहाँ यूगनो लोग ठहरे हुए थे। हजारों लोग मार डाले गये। दूल्हा बनने आए हेनरी ने झूठ-मूठ धर्म-परिवर्तन करके अपनी जान बचाई। इसका असर प्रान्तों में भी पड़ा। वहाँ भी प्रोटेस्टेण्ट लोग मारे गये। कुल मिलाकर परिणाम यह हुआ कि बारथोलोमिउ के हत्याकाण्ड ने प्रोटेस्टेण्ट लोगों की कमर तोड़ दी। सारे कैथोलिक जगत् में खुशियाँ मनाई गई। इन हत्याओं पर पोप भी प्रसन्न हुआ। स्पेन के शासक फिलिप को भी जैसे एक विजय मिली। लेकिन यूगनो लोगों ने हिम्मत नहीं हारी।

स्थिति बिगड़ती गई और फ्रांस फिर एक गृहयुद्ध के कगार पर खड़ा था। फ्रांस को निरन्तर विनाश की ओर बढ़ता देखकर देशभक्त लोग अत्यन्त दुःखी थे। वे लोग जो कट्टरता के स्थान पर एक सहिष्णु नीति अपनाना चाहते थे, एकजुट होने लगे। वह वर्ग जो 'राजनैतिक' कहलाता था, धीरे-धीरे यूगनो नेता हेनरी के निकट आने लगा। उसे विश्वास था कि हेनरी कट्टर नहीं है और देश के हित को सर्वोच्च स्थान देता है। एक बात और थी। फ्रांस का शासक हेनरी तृतीय निःसंतान था। उसका निकटतम सम्बन्धी जो उत्तराधिकारी हो सकता था, वह नावार का हेनरी ही था। इन कारणों से नावार के हेनरी के नेतृत्व में एक सबल गुट संगठित होने लगा।

इससे कैथोलिक चिन्तित थे। गीज परिवार का ड्यूक जिसका नाम संयोग से हेनरी ही था, कैथोलिक शक्तियों को संगठित करने लगा। उसे पोप और फिलिप द्वितीय का समर्थन और सहयोग प्राप्त था। कैथोलिक बहुमत के फ्रांस में गैर-कैथोलिक शासक न होने पाये इसके लिए हर तरह के प्रयास हो रहे थे। इस तरह कुल मिलाकर फ्रांस में तीन गुट हो गए थे और विडम्बना ऐसी कि तीनों ही गुटों के नेता का नाम हेनरी था।

इन तीन हेनरियों में फ्रांस का शासक हेनरी अपने निकट के सहयोगी गीज के हेनरी से आक्रान्त था क्योंकि वास्तविक सत्ता उसी के पास थी। अन्त में लाचार होकर उसने हेनरी गीज की हत्या करवा दी। इस प्रकार एक हेनरी

समाप्त हो गया। लेकिन इससे सारे कैथोलिक बड़े क्षुब्ध हो गए। उन्होंने राजा की आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। शासक का अपनी राजधानी पर भी प्रभाव नहीं रह गया। अब तो उसे अपनी रक्षा के लिए नावार के हेनरी की शरण लेनी पड़ी। दो विरोधियों को परिस्थितियों ने एक कर दिया था। दोनों ने मिलकर पेरिस पर शासक का प्रभुत्व स्थापित करना चाहा लेकिन इसी समय शासक हेनरी से क्षुब्ध एक कट्टर कैथोलिक ने उसकी हत्या कर दी। हत्याओं ने तीन में से दो हेनरियों को तीसरे के मार्ग से हटा दिया था। अब तो नावार का हेनरी ही उत्तराधिकारी था। लेकिन उसे कैथोलिक लोग कैसे अपना राजा स्वीकार करते? पेरिस पूरी तरह कैथोलिकों के कब्जे में था और राजा को अपनी राजधानी पर कब्जा करने के लिए कई हमले करने पड़े। फिर भी सफलता नहीं मिली। बहुत बड़े अन्तर्द्वन्द्व का समय था। अन्त में हेनरी ने एक ऐतिहासिक निर्णय लिया। उसने अपना प्रोटेस्टेण्ट विश्वास छोड़कर कैथोलिक धर्म स्वीकार कर लिया। अब अन्तिम व्यवधान भी हट गया था। उसकी योग्यता और देशभक्ति लोग जानते ही थे। इसलिए उसके कैथोलिक हो जाने पर उसका स्वागत हुआ। हेनरी शासक तो 1589 में ही बन गया था लेकिन पाँच साल बाद कैथोलिक बन जाने पर शार्त के गिरजाघर में परम्पराओं के अनुसार राजा हेनरी चतुर्थ के रूप में उसका राज्याभिषेक हुआ। वह फ्रांस का पहला बूर्बों शासक था। अपने शासन-काल में उसने शक्तिशाली और गौरवपूर्ण बूर्बों वंश की जड़ें मजबूत कीं।

हेनरी चतुर्थ

नावार का हेनरी जब हेनरी चतुर्थ के नाम से फ्रांस की गद्दी पर बैठा तो अन्य कोई विकल्प न होने के कारण उसे स्वीकार तो किया गया था लेकिन उसकी स्थिति बहुत डांवाडोल थी। उसे एक बुरा प्रोटेस्टेण्ट समझा जा रहा था क्योंकि वह कैथोलिक हो गया था। उसे एक बुरा कैथोलिक समझा जा रहा था क्योंकि वह प्रोटेस्टेण्ट लोगों के प्रति सहिष्णु था। ऐसी स्थिति में वह न घर का हो सकता था न घाट का। लेकिन अपने कार्यों द्वारा उसने साबित कर दिया कि वह बुरा प्रोटेस्टेण्ट या बुरा कैथोलिक भले ही हो वह एक अच्छा फ्रांसीसी है। उसके देशप्रेम और पूरे फ्रांस के हित में किये गए कार्यों ने उसकी तमाम कमजोरियों पर पर्दा डाल दिया और वह बेहद लोकप्रिय और सफल शासक साबित हुआ।

आन्तरिक नीति : हेनरी अपनी नुकीली दाढ़ी, चमकती आंखों, फुर्ती और तत्काल निर्णय लेने की आदत के कारण शीघ्र ही जाना-पहचाना हो गया। यद्यपि वह बहुत स्वार्थी था और कभी-कभी बहुत टुच्चे ढंग से पेश आता था, पर

साधारणतया उसके निर्णय बहुमत के पक्ष में होते थे और उनसे देश का भला होता था। वह स्वयं एक सफल सैनिक और सेनापति था। संघर्षमय जीवन बिताने के कारण उसे व्यावहारिक जीवन के अनुभव प्राप्त थे। अपनी प्रजा के हितों का उसे जितना ध्यान था उससे ज्यादा वह उसके बारे में बातें करता था। परिणाम यह हुआ कि यह प्रचार हो गया कि हेनरी प्रजापालक है। उसे 'नेक राजा हेनरी' (Good King Henry) कहा जाने लगा।

अच्छा कहलाने मात्र से काम चलने वाला नहीं था। फ्रांस पिछले सौ वर्षों से लगातार युद्धरत था। फ्रांसिस ने राजा की सत्ता स्थापित तो की थी लेकिन उसके बाद के लगातार कलह और युद्ध के कारण लालची सामन्त आपस में लड़ने लगे थे। योग्य शासक के अभाव में और कैथरिन की नीतियों के कारण पेरिस षड्यन्त्रों का गढ़ बन गया था। धार्मिक और राजनैतिक समस्याओं की आड़ में व्यक्तिगत और परिवारगत स्वार्थ बुरी तरह टकराने लगे थे। ऐसे में पूरा प्रशासन ठप्प था। खेत उजाड़ पड़े थे। उद्योग निष्क्रिय हो चले थे। राजकोष में धन आये भी तो कहाँ से? कर का बोझ तो बढ़ता ही जा रहा था। दिवालिया और विघटित देश बाहरी दुश्मनों से भी आक्रान्त था। फ्रांस अभी भी यूरोप की राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं कर सका था।

ऐसी समस्याओं से जूझता हेनरी अधिकांशतः सफल हुआ। लेकिन उसकी सफलता का सारा श्रेय उसके मन्त्री सल्ली को है। अपने शासक की ही तरह वह भी स्वार्थी और कुशल था। उसके हेनरी और फ्रांस के प्रति असाधारण लगाव के कारण हेनरी और सल्ली की जोड़ी बहुत कारगर साबित हुई। लेकिन सल्ली एक प्रोटेस्टेण्ट था और बना रहा। उसके लिए काम करना आसान नहीं होता यदि हेनरी ने एक ऐतिहासिक घोषणा न की होती।

उसने 1598 में धार्मिक सहिष्णुता की नीति के सम्बन्ध में नाँत नामक नगर से घोषणा की। इस अध्यादेश (Edict of Nantes) ने यूगनो लोगों को आशातीत सुविधाएँ दे दीं। यूगनो लोगों को व्यक्तिगत रूप से पूरे फ्रांस में धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई। दो सौ नगरों और तीन हजार किलों, जहाँ यूगनो लोग बड़ी संख्या में रहते थे, उन्हें वहाँ सार्वजनिक रूप से भी अपने धर्म के अनुसार कार्य करने की आजादी दे दी गई। उनके स्कूलों को भी राजकीय सहायता देने का वायदा किया गया। प्रोटेस्टेण्ट पुस्तकों पर से प्रतिबन्ध उठा लिया गया। यूगनो लोग अपनी पंचायतें चला सकते थे। इस घोषणा के प्रति यूगनो लोग आश्वस्त हो पायें, इसलिए उन्हें एक निश्चित अवधि के लिए नगरों और गढ़ों की किलेबन्दी करने और अपने को सुरक्षित करने का अधिकार दे दिया गया।

आज के संदर्भ में ये सुविधाएँ भले ही अपर्याप्त लगें लेकिन तत्कालीन

परिस्थितियों में इससे अधिक सम्भव नहीं था। कुछ बातों में तो उन्हें सीमा से अधिक अधिकार दे दिये गए थे। किलेबन्दी के अधिकार के कारण यूगनो लोग राज्य के अन्दर एक और राज्य (State within the State) जैसी खतरनाक स्थिति पैदा करने में सफल हो गए और बाद के शासकों को फ्रांस के विघटन का खतरा दिखाई पड़ने लगा। यूगनो लोगों को नागरिकता के पूरे अधिकार प्राप्त हो गए थे लेकिन केवल काल्वैंवादियों को अधिकार मिलने से अन्य अल्पमत के लोगों में असन्तोष था।

अब हेनरी के सामने प्रश्न यह था कि समयानुकूल एक शक्तिशाली राष्ट्रीय राजतन्त्र की स्थापना कैसे की जाय। इस मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध सामन्त वर्ग बना हुआ था। तब तक की व्यवस्था में सामन्तों पर राजा निर्भर रहता था। धार्मिक गृहयुद्धों के दौरान भी सामन्त परिवारों ने अपनी प्रमुखता बनाये रखने की लड़ाई लड़ी थी। हेनरी अपने मन्त्री सल्ली के सहयोग से एक निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना में जुट गया। प्रसिद्ध सामन्तों—बिरों, बरगन्दी, बुइओं—को एक-एक कर उसने नीचा दिखाया और फ्रांस के सामन्ती विरोध को नियन्त्रित करने में सफलता पाई।

इधर से निश्चिन्त होकर उसने सल्ली को एक स्थायी आधारभूमि बनाने की जिम्मेदारी सौंपी। इस क्षेत्र में एक तरह से हर काम नये सिरे से शुरू करना था, क्योंकि पिछले सौ वर्षों की तबाही में सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। सल्ली चूँकि स्वयं बेहद कंजूस और विलासिता से दूर था, वह एक कठोर अनुशासन का पालन कर और करवा सकता था। उसने यह स्पष्ट रूप से देख लिया कि आर्थिक कमजोरी का कारण कृषि की उपेक्षा और बरबादी है, उसने कृषि योग्य भूमि का विस्तार करवाया और कृषक को हर तरह के प्रोत्साहन दिये। आन्तरिक चुंगी की व्यवस्था समाप्त कर दी गई। विशेष रूप से निर्यात कर समाप्त करके उन्हें उत्पादन बढ़ाने का अतिरिक्त प्रोत्साहन दिया गया।

आर्थिक सुदृढ़ता का दूसरा आधार होता है उद्योग। हेनरी इस क्षेत्र में स्वयं दिलचस्पी लेता था। रेशम उद्योग जिसके लिए आज भी फ्रांस प्रसिद्ध है, उसी समय से बड़े पैमाने पर बढ़ा। **लिओं और नीय** के नगर इस उद्योग के केन्द्र बन गये। आज भी लिओं रेशम का नगर कहलाता है। बढ़ते विलास और शान शौकत के लिए खूबसूरत बर्तनों की आवश्यकता बढ़ रही थी। राजधानी पेरिस और **सैव्र** के नगरों में शीशे और चीनी मिट्टी के सुन्दर बर्तन बनने लगे। आज भी फ्रांस ही नहीं कितने ही विदेशी राष्ट्रपति और शासकों के लिए बर्तन सैव्र में ही बनते हैं। पशु-पालन के क्षेत्र में प्रगति होने से ऊन का उद्योग बढ़ा। पहली बार लोहे के औद्योगिक विकास को संरक्षण मिला।

कृषि और उद्योग दोनों ही के विकास के लिए यातायात के साधन

चाहिए। रोमन विजय के समय से ही फ्रांस में काफी सडकें और पुल बने थे लेकिन बाद के दिनों में उनमें से अधिकांश बेकार हो गए थे। नदियां बहुत थीं परन्तु उनका समुचित उपयोग नहीं हो पाता था। इस दिशा में पुरानी सड़कों और पुलों की मरम्मत और नयों का निर्माण शुरू हुआ। लुग्रार और सैन नदियो से ऐसी नहरें निकाली गईं जो सिंचाई और यातायात दोनों ही काम आ सकती थीं।

आन्तरिक विकास से देश की आर्थिक स्थिति ठीक तो हो सकती है, लेकिन जब विदेशों से व्यापार हो तभी देश में समृद्धि आती है, प्रगति की रफ्तार बढ़ती है। सोलहवीं शताब्दी में नये-नये मार्ग ढूंढ़े गए थे। सामुद्रिक यात्राएँ बढ़ी थीं। इसलिए एक नौसेना और व्यापारी जहाजों का निर्माण और संगठन शुरू हुआ। अतएव धार्मिक विरोध भुलाकर प्रोटेस्टेण्ट इंग्लैण्ड और हालैण्ड तथा मुसलमान तुर्की के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये गए। इन्हीं अनुभवों के आधार पर बाद में अमेरिका और भारत से व्यापार की शुरुआत हुई।

प्रशासन को राजभक्त और योग्य बनाने के लिए ऐसे नये कर्मचारी नियुक्त किये गए जिनकी योग्यता और राजभक्ति असंदिग्ध होती थी। एक कर, 'पोलेत' देकर वे अपने पद अपने उत्तराधिकारियों के लिए सुरक्षित कर सकते थे। इस तरह राजभक्त कर्मचारियों का एक वर्ग पैदा हुआ जो मध्यम-वर्ग का चरित्र रखता था। इस प्रकार राजा और मध्यमवर्ग मिलकर सामन्तों के विरुद्ध खड़े हो सकते थे।

राज्य की आमदनी का मुख्य स्रोत कर होता है। यदि कर-व्यवस्था भ्रष्ट हो तो न केवल पूरा समाज भ्रष्ट होने लगता है, राज्य की आमदनी भी घट जाती है। सल्ली ने असमान कर-व्यवस्था में परिवर्तन की तो हिम्मत नहीं की लेकिन जैसी भी व्यवस्था हो उसे ठीक ढंग से लागू करने की योजना बनाई। इसके लिए कर्मचारियों के मनमाने कार्यों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और राज्य द्वारा स्वीकृत कर ही लगाये जा सकते थे। प्रतिवर्ष स्थानीय और कागजी जाँच का प्रबन्ध किया गया। लगान सम्बन्धी कागजात की जाँच कराई गई और जो भी गलत नाम चढ़े थे या गलत ढंग से छूट दी गई थी वह समाप्त कर दी गई। सारा कर इकट्ठा करके राजकोष में जमा किया जाता था। वहाँ से सैनिक-व्यवस्था या अन्य किसी खर्च के लिए अलग से उसी मद के लिए धन प्राप्त होता था। इस प्रकार एक मद का पैसा दूसरे मद में खर्च करने से जो अनियमितता होती थी उसे कम करके कर्मचारियों के गबन और भ्रष्टाचार की सम्भावना कम कर दी गई। आवश्यकता पड़ने पर कर्मचारियों की छंटनी भी कर दी जाती थी।

सल्ली स्वयं राज्य का दौरा करता था और हर बात का निरीक्षण करता था। चूंकि वह स्वामिभक्त था, दौरे पर अपना व्यक्तिगत लाभ नहीं करता था। सारा लाभ राज्य को होता था। इस प्रकार दिवालिया राजकोष धीरे-धीरे संभल गया और हर साल दस लाख की बचत होने लगी।

विदेशनीति : हेनरी को शासक न बनने देने के लिए स्पेन के शासक फिलिप ने कुछ भी उठा नहीं छोड़ा था। लेकिन अब फिलिप का सितारा गर्दिश में था। उसकी हर कोशिश के बावजूद हेनरी को सफलता मिली। उसने प्रति-हिंसा की नीति नहीं अपनाई और एक दूरदर्शी शासक की तरह स्पेन से सन्धि कर ली। वरवें की सन्धि के द्वारा फिलिप ने उसे फ्रांस का शासक मान लिया और दोनों देशों की पुरानी सीमाएँ स्वीकार कर ली गई। वह सभी दूरदर्शी फ्रांसीसी शासकों की तरह जानता था कि फ्रांस की मुख्य प्रतिद्वन्द्विता हैप्सबर्ग परिवार से है। लेकिन हैप्सबर्ग परिवार का राज्य बहुत विस्तृत था और फ्रांस तो उससे घिरा हुआ था। अकेले फ्रांस को अपर्याप्त देखकर उसने हैप्सबर्ग परिवार से पीड़ित और असंतुष्ट अन्य राज्यों, जैसे हालैण्ड और इटली के राज्यों, से मित्रता शुरू की। डच स्वतन्त्रता-संग्राम को उसने बहुत मदद पहुँचाई। इटली के प्रसिद्ध मेडिची परिवार की राजकुमारी **मारी** से उसने विवाह कर लिया। इटली, स्विट्जरलैण्ड और जर्मनी के बहुत से शासक हेनरी के मित्र हो गए। जब वह पूरी तरह आश्वस्त हो गया कि हैप्सबर्ग परिवार के विरुद्ध वह अकेला नहीं है तो उसने संघर्ष की तैयारी शुरू की। उसका शासन-काल अपेक्षतया शान्तिमय रहा था। अब वह युद्ध के लिए तत्पर था लेकिन इसी समय एक विक्षिप्त कैथोलिक रावाइआक ने उसकी हत्या कर दी।

मूल्यांकन : उसकी योजनाएँ अधूरी छूट चुकी थीं लेकिन उसके देश-वासियों ने उसे वह सम्मान दिया जो बहुत कम शासकों को मिला है। आज भी वह फ्रांस के उत्कर्ष का संस्थापक समझा जाता है। उसका व्यक्तिगत चरित्र आदर्श नहीं था लेकिन शासन की योग्यता, दूरदर्शिता, देश के भविष्य के प्रति चिन्ता और उसे ठीक करने के प्रयास के कारण उसके दोषों पर विशेष ध्यान ही नहीं जाता। अपने समकालीन इंग्लैण्ड की रानी ऐलिजाबेथ और भारत के सम्राट् अकबर की तरह अपने राज्य के हित में किये गए कार्यों के आधार पर ही उसका मूल्यांकन होता है—व्यक्तिगत चरित्र के आधार पर नहीं।

उसे बार-बार मारने के प्रयत्न हुए थे और वह हर बार बच गया था। इसलिए मनोवैज्ञानिक रूप से परिस्थिति उसके बहुत अनुकूल थी। लोग उससे सहानुभूति रखते थे। धार्मिक कलह के युग में जिस साहसपूर्ण ढंग से उसने कैथोलिक धर्म स्वीकार किया और नाँत के आदेश द्वारा यूगनो लोगों के

हितों की रक्षा की वह उसकी दूरदर्शिता का परिचायक था। एक हद तक सभी उससे संतुष्ट हो गए थे। धर्म को उसने राजनीति पर कभी हावी नहीं होने दिया।

व्यक्ति की, विशेषकर शासकों की, सफलता का निर्णय इस बात पर भी हो जाता है कि उन्होंने कैसे सहयोगी चुने। हेनरी ने सल्ली जैसा मन्त्री और सहयोगी चुना। दूसरी ओर उसने बढ़ते हुए महत्त्वाकांक्षी मध्यवर्ग को बढ़ावा दिया। यूरोप के छोटे लेकिन प्रगतिशील देशों से उसने मित्रता की। इस प्रकार आन्तरिक स्थिरता, योग्य प्रशासन, सफल वैदेशिक नीति और कुशल प्रशासन के आधार पर उसने बूर्बों वंश के गौरव की आधारशिला रखी। इसीलिए हेनरी आज भी, फ्रांसीसी गणतन्त्र में भी, प्यार से याद किया जाता है।

लूई त्रयोदश

हेनरी चतुर्थ का उत्तराधिकारी लूई त्रयोदश महज एक नाम बनकर रह जाता और उसका कोई नाम लेवा तक न बचता यदि संयोग से उसका मन्त्री **रिशलिउ** न नियुक्त हुआ होता। लूई अभी बच्चा था और शासन उसकी माँ **मारी** के हाथ में था। इटालियन होने के कारण वह महत्त्वाकांक्षी तो थी लेकिन उसमें न तो क्षमता थी और न योग्यता। हेनरी के कार्यों पर उसने पानी डालना शुरू किया। उसने स्पेन से मित्रता की नीति अपनाई और कैथोलिक चर्च का समर्थन इस प्रकार करना शुरू किया कि धार्मिक समझौतावादी नीति खतरे में पड़ गई और अशान्ति फैलने लगी।

ऐसी अनिश्चितता की स्थिति में फ्रांस की परम्परागत प्रतिनिधि सभा 'स्टेट्स जनरल' का अधिवेशन बुलाया गया। इंग्लैण्ड की तरह फ्रांसीसी प्रतिनिधि सभा न ठीक से प्रतिनिधित्व करती थी, न ही उसके पास कोई शक्ति थी। उसकी अनिवार्यता भी संदिग्ध थी। इंग्लैण्ड में शासक पार्लियामेण्ट को कठपुतली की तरह नचा तो लेता था लेकिन उसे पूरी तरह समाप्त करने की कोशिश में मुँहकी खा जाता था। फ्रांस में ऐसा नहीं था। फ्रांस की सभा में तीन वर्गों—पादरी, सामन्त और तृतीय वर्ग—के अलग-अलग प्रतिनिधि होते थे जो अलग-अलग मत देते थे। यानी वही बात की जाती थी जो कुलीन और शक्तिशाली लोग चाहते थे लेकिन इस समय तो वे आपस में ही बंटे हुए थे। वे मिलकर पूरे देश के बारे में कुछ सोच ही नहीं सकते थे। जिन्हें विशेष अधिकार प्राप्त थे वे यथास्थिति को बदलने के लिए तैयार नहीं थे। इस प्रकार स्टेट्स जनरल शासन के लिए एक नया सरदर्द बन गया। अन्त में उसे खत्म करने का निर्णय लिया गया। एक के बाद दूसरा शासक स्टेट्स जनरल के बिना ही शासन करता रहा। अन्त में 175 वर्षों के बाद जब शासक को

उसका अधिवेशन मजबूरन बुलाना पड़ा तो क्रान्ति का आह्वान हो गया।

रिशलिउ

इस अधिवेशन की एक ही उपलब्धि थी। रानी की नजर प्वातू क्षेत्र के प्रतिनिधि रिशलिउ पर पड़ी थी और वह उसकी वाक्पटुता से बहुत प्रभावित हुई थी। धीरे-धीरे रिशलिउ रानी का विश्वासपात्र बन गया और उसकी राय सबसे अधिक मानी जाने लगी।

रिशलिउ का व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली नहीं था। धार्मिक शिक्षा के बाद वह बिशप बन गया था। लेकिन उसकी प्रमुख रुचि का विषय राजनीति था। उसकी दृष्टि बहुत पारखी थी और समस्याओं को वह बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देख सकता था। एक बार निर्णय लेने के बाद सारी शक्ति वह उसे पूरा करने में लगा देता था। धार्मिक अधिकारी होते हुए भी वह अपने निर्णयों को परम्परागत नैतिकता की ही दृष्टि से नहीं देखता था। उसे देश से प्यार था और देश को शक्तिशाली और प्रतिष्ठित बनाना ही उसका उद्देश्य था। मारी की मदद से वह चर्च में पोप के बाद सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी कार्डिनल बन गया था लेकिन इससे आगे बढ़ने की उसने कोशिश नहीं की।

मारी की अदूरदर्शिता के कारण जब स्थिति बिगड़ी और विशेष रूप से यूगनो वर्ग, जो हर तरह से शक्तिशाली था, विद्रोह पर आमादा हो गया तो लूई ने अपनी माँ से शासन अपने हाथ में ले लिया लेकिन वह तो एक विलासी और आमोदप्रिय शासक था। उसके बूते के बाहर था उस समय की स्थिति को संभाल पाना। उसने भी अपनी माँ के चुने हुए रिशलिउ की योग्यता को पहचाना और उसे धीरे-धीरे अपना सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण सलाहकार और एक तरह से मुख्य और वास्तविक शासक बना दिया। अपने शासक का इतना विश्वास पाने पर उसने लूई के सामने शपथ ली कि उसे जो भी अधिकार दिये जायेंगे, उनका उपयोग 'मैं यूगनो और सामन्तों का दमन करने, प्रजा को अनुशासित और कर्त्तव्यपरायण बनाने और आपको राजपरिवारों में उचित सम्मान दिलवाने में करूँगा।' उसने स्पष्ट कर दिया कि वह फ्रांस में हर तरह के विरोध का अन्त करके शासक को निरंकुश बना देगा और फ्रांस को यूरोप में एक प्रभावशाली शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करेगा। इस प्रकार रिशलिउ पहला व्यक्ति था जिसने फ्रांस की राष्ट्रीय नियति को इतने स्पष्ट शब्दों में समझा और उसे कार्यान्वित करने में अपने जीवन का एक-एक क्षण लगा दिया। मृत्यु तक उसका केवल एक लक्ष्य था, अपनी प्रतिज्ञा पूरी करना और इस कार्य में वह चाणक्य जैसे विचारक मेकियावेली का पक्का शिष्य था। कूटनीति, युद्ध, छल, कपट, दण्ड-दमन, किसी भी माध्यम को वह अनैतिक या

गलत नहीं समझता था। ऐसे व्यक्ति के सामने निश्चित था कि लूई स्वयं गौण हो जाता। ऐसे में लूई का रिशलिउ से कुढ़ना भी स्वाभाविक था लेकिन वह जानता था कि उसकी और फ्रांस की रक्षा और उन्नति रिशलिउ के बिना सम्भव नहीं। इसलिए वह खामोश समर्थक बना रहा।

निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना : रिशलिउ ने अपने वायदे के अनुसार फ्रांस में राष्ट्रीय एकता और एकरूपता स्थापित करने के लिए हर तरह के विरोध और गुट का अन्त कर देना चाहा। उसे सबसे शक्तिशाली गुट यूगनो लोगों का लगा। उसने प्रोटेस्टेण्ट लोगों को दुश्मन इसलिए नहीं माना कि वह स्वयं एक कैथोलिक अधिकारी था। धर्म को तो वह उतना महत्त्व देता ही नहीं था। उसे किसी भी तरह कट्टर या धर्मान्ध कहा ही नहीं जा सकता। फ्रांस के प्रोटेस्टेण्ट लोगों का वह विरोधी इसलिए था कि नाँत के अध्यादेश के बाद से वे बहुत शक्तिशाली हो गए थे। विशेष रूप से अटलाण्टिक तट के नगरों—बोर्दो, लारोशेल, रोशफोर—में उन्होंने अपने प्रभाव से अपनी अलग सत्ता कायम कर ली थी। व्यवसाय के कारण वे धनी तो थे ही उन्हें इंग्लैण्ड का समर्थन और सहयोग भी प्राप्त था। कुछ दिनों तक किलेबन्दी करने और अपने नगरों को सुरक्षित करने की उन्हें जो छूट मिली थी उस छूट को इन लोगों ने स्थायी बना लिया था। उनकी अलग प्रतिनिधि सभाएँ थीं, कानून और न्यायालय थे, सेना थी, धर्म-स्थान थे। अब बचा ही क्या था कि वे अपने को स्वतन्त्र न समझें। किसी भी राज्य के लिए यह एक घातक स्थिति होती। रिशलिउ ने इस खतरे को समझ लिया और फौरन उनका दमन कर उनकी राजनैतिक और सैनिक शक्ति समाप्त कर देने की तैयारी शुरू कर दी।

उसने यह नहीं पता लगने दिया कि वह हर कीमत पर उनका दमन करने को तैयार है। उसने वार्ता भी चलाई, लेकिन यूगनो लोगों का मन बढ़ गया था। उन्होंने राजाज्ञाओं का भी उल्लंघन करना शुरू कर दिया। उनके बढ़ते विद्रोह को देखकर रिशलिउ ने सैनिक कार्यवाही शुरू कर दी। उनके नगरों और किलों पर हमला शुरू हुआ। व्यापारिक और प्रमुख बन्दरगाह लारोशेल अपनी किलेबन्दी के लिए प्रसिद्ध था। बन्दरगाह होने के नाते वहाँ इंग्लैण्ड से सीधी मदद पहुँच सकती थी। लेकिन रिशलिउ ने जबरदस्त घेरा डाला जो पन्द्रह महीने तक चलता रहा। रिशलिउ सेनापति नहीं था, लेकिन वह सेनापतियों और सैनिकों का हौसला बढ़ाने के लिए स्वयं वहाँ मौजूद रहा और संचालन करता रहा। नगर-निवासियों ने अभूतपूर्व धैर्य और वीरता का परिचय दिया। अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में भी वे लड़ते रहे। लेकिन रिशलिउ के दृढ़ निश्चय और व्यवस्था के आगे उन्हें झुकना पड़ा। हजारों लोगों

की बलि भी नगर की रक्षा नहीं कर सकी। लारोशेल के पतन के बाद अन्य प्रोटेस्टेण्ट केन्द्रों का भी वही हाल हुआ।

यदि रिशलिउ धर्मान्ध होता और चाहता तो इस समय फ्रांस से प्रोटेस्टेण्ट लोगों का अन्त कर देता। लेकिन उसका लक्ष्य तो कुछ और था। वह जानता था कि यूगनो लोगों में व्यवसाय और नौकरियों के लिए प्रतिभा है। इसीलिए उसने 1624 में आलें की घोषणा की। उसने उनके वे अधिकार छीन लिये जिनके कारण राज्य के लिए विघटनकारी खतरा पैदा हो गया था। यूगनो लोगों के धर्म और नौकरियों से सम्बन्धित पुराने अधिकार बने रहे। लेकिन सैनिक संगठन भंग कर दिया गया और सुरक्षा सम्बन्धी विशेषाधिकार छीन लिये गए। इस प्रकार उन्हें वे सभी अधिकार प्राप्त थे जो राज्य के अन्य लोगों को प्राप्त थे। जब कि यूरोप के अधिकांश लोग धर्मान्ध हो रहे थे, रिशलिउ ने असाधारण सहिष्णुता का परिचय दिया।

दूसरा मोर्चा सामन्तों का था। फ्रांस में अनेक ऐसे सामन्त परिवार थे जो अपनी शक्ति और प्रभाव के कारण राजा के प्रतिद्वन्द्वी बन जाते थे। राज्य के प्रान्तों का शासन प्रायः इन्हीं के हाथ में होता था। एक निश्चित सीमा में इन्हें राजा के सारे अधिकार प्राप्त थे। इनकी हैसियत शासक की नहीं प्रशासक की होती थी लेकिन अक्सर ये केन्द्रीय सत्ता की परवाह नहीं करते थे और स्वच्छन्द हो जाते थे। इनके पास सेना होती ही थी। सुरक्षा के लिए अनेक गढ़ और शातो थे। ऐसी स्थिति में केन्द्र की पकड़ ढीली होते ही ये विद्रोह कर सकते थे। राजधानी में भी इनके दाँव-पेंच चलते रहते थे। लगातार षड्यन्त्र का वातावरण बना रहता था। रिशलिउ के असाधारण प्रभाव के कारण उससे अन्य सामन्त ईर्ष्या करें यह भी स्वाभाविक ही था।

रिशलिउ इनकी शक्ति से परिचित था। इसलिए उसने इनके दमन की योजना बहुत सूझ-बूझ के साथ बनाई। वह जानता था कि सामन्तों के अत्याचार से जनता पीड़ित थी। नगरों और गाँवों के लोगों के साथ ये मनमाना व्यवहार करते थे। इसलिए उसने यह प्रदर्शित किया कि सामन्तों का दमन राजा के ही नहीं किसानों और मध्यमवर्ग के भी हित में है। और इस तरह जब उसने फ्रांस भर में फैले सामन्ती गढ़ों और दुर्गों को नष्ट करने का आदेश दिया तो जनता ने इसका समर्थन किया। हजारों किले गिरा दिये गए, जिनके भग्नावशेष आज भी लोगों का ध्यान आकर्षित करते हैं। फ्रांस का पर्यटन-विभाग इन स्थानों की यात्रा की व्यवस्था कर के हर साल करोड़ों रुपयों की आमदनी करता है।

सामन्तों में उसने छोटे बड़े का लिहाज नहीं किया। जो भी महत्त्वाकांक्षी था या गड़बड़ी करता था या कर सकता था उसके विरुद्ध उसने जासूस लगा

दिये । खुफिया विभाग ने सामन्तों का व्यक्तिगत जीवन दूभर कर दिया । जो विरोधी गुटों के नेता थे उनकी उसने हत्या करवा दी । धीरे-धीरे उन्हें कार्य-मुक्त कर दिया गया । उन्हें सजावट का सामान बनाकर छोड़ दिया गया । जो हाल अंग्रेजों ने भारत की देशी रियासतों के राजाओं का किया था, वही हाल रिशलिउ ने सामन्तों का कर दिया । पूरे फ्रांस में राजा को चुनौती देने वाली अब कोई ताकत नहीं बची ।

केन्द्रीकरण : विरोध का दमन तो हो चुका था, लेकिन जब तक प्रशासन को उसी के अनुकूल और कारगर न बनाया जाता, यह व्यवस्था स्थायी नहीं हो सकती थी । उसने देखा कि सामन्तों के मुकाबले में मध्यमवर्ग अधिक योग्य और राजभक्त है इसलिए उसने राजा और मध्यमवर्ग को निकट लाना शुरू किया । उसने संस्थाओं में कोई मौलिक परिवर्तन करना और एक सर्वथा नई व्यवस्था लागू करना उपयोगी नहीं समझा । इससे विरोध होने की सम्भावना थी । उसने चालाकी से उन्हीं संस्थाओं से काम लेना शुरू किया जिन्हें वह उपयोगी समझता था । अन्यों को बिना भंग किये उनसे कोई काम ही नहीं लेता था । इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, लेकिन वास्तव में वही होता था जो रिशलिउ चाहता था ।

उसने एक मात्र प्रत्यक्ष परिवर्तन यह किया कि पहले के सामन्त गवर्नरों के स्थान पर मध्यवर्गीय नये प्रशासक ऐतांदां (Intendents) नियुक्त करने लगा । इन नये प्रशासकों के लिए राजभक्ति अनिवार्य शर्त थी । ये कुलीन तो होते नहीं थे इसलिए राजकृपा पर ही अपनी महत्ता बनाये रख सकते थे । इन्हें न्याय, सुरक्षा और प्रशासन सम्बन्धी सारे अधिकार थे । इन पर एक मात्र नियन्त्रण रिशलिउ का था जो इन प्रशासकों से हमेशा सम्पर्क बनाये रखता था और इनके बारे में पता भी लगाया करता था । नये प्रशासकों के अधिकार इतने अधिक थे कि सामन्तों के लिए कुछ करने को ही नहीं बचा । धीरे-धीरे वे राजधानी की शोभा बढ़ाने, राजा के आगे-पीछे घूमने, नाच तमाशों में भाग लेने के अलावा और किसी भी काम के लिए बेकार हो गए ।

यूरोप के अन्य देशों की तरह फ्रांस में भी प्रतिनिधि सभा की परम्परा थी । कई क्षेत्रों में क्षेत्रीय सभाएँ होती थीं । कुछ नगरों में भी म्युनिसिपल सभाएँ थीं । पूरे राज्य के लिए स्टेट्स जनरल थी । वह स्वयं इसी राष्ट्रीय सभा के माध्यम से राजधानी तक पहुँचा था । लेकिन उसने देखा था कि लम्बी बहसों के अलावा वहाँ कुछ होता नहीं । समुद्र पार इंग्लैण्ड में राजा और पार्लियामेण्ट का भयानक संघर्ष चल रहा था । रिशलिउ ने सोचा कि इस तरह की कोई भी संस्था राजा की शक्ति पर अंकुश का काम करेगी । लेकिन उसे भंग करने से देश में विरोध हो सकता था । इसलिए उसने किसी भी प्रति-

निधि सभा से कार्य लेना बन्द कर दिया। उसकी नीति उसके अनुयायियों ने भी अपनाई और धीरे-धीरे लोग भूल गए कि फ्रांस में कोई प्रतिनिधि सभा भी थी। कई पीढ़ियों तक राजा की शक्ति सुरक्षित बनी रही। लेकिन इसके दूरगामी परिणाम राजतन्त्र के लिए घातक हुए। देश में एक प्रकार की राजनैतिक निष्क्रियता आ गई। लोग तटस्थ और निर्लिप्त हो गए, और अन्त में जब राजा निकम्मा साबित हुआ तो देश में कोई विकल्प नहीं था इसलिए क्रान्ति हो गई।

इसी तरह एक न्यायिक संस्था थी पार्लमाँ (Parlement)। सारे देश में पार्लमाँ के न्यायाधीश महत्त्वपूर्ण कार्य करते थे। पेरिस की पार्लमाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। कोई भी राजाज्ञा तब तक मान्य नहीं होती थी जब तक पेरिस की पार्लमाँ उसे स्वीकार न कर ले। रिशलिउ ने पार्लमाँ के अधिकार समाप्त न कर सदस्यों को वश में करके पार्लमाँ को भी नियन्त्रित कर लिया।

उसने फ्रांस के परम्परागत प्रशासन में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया। आधार वही बने रहे लेकिन ऊपर से उसने अपनी व्यवस्था थोप दी। इसलिए परिवर्तन सैद्धान्तिक और वैचारिक स्तर पर हुआ। सामन्तवाद को जबरदस्त धक्का पहुँचा। मनुष्य के विकासक्रम में सामन्तों की अपेक्षा मध्यवर्ग अधिक प्रगतिशील था और मध्यवर्ग को बढ़ावा देकर रिशलिउ ने प्रगतिशील शक्तियों को अपने संघर्ष में मदद पहुँचाई। अब राजा फ्रांस का नाम मात्र का शासक नहीं, वास्तविक शासक हो गया। सारे वित्तीय और सैनिक साधन उसके हाथ में आ गए। इस प्रकार जो काम इंग्लैण्ड में एलिजाबेथ ने किया था, रिशलिउ ने फ्रांस में किया और राजा के नेतृत्व में शक्तिशाली राष्ट्रीय राजतन्त्र की स्थापना हुई। लेकिन इंग्लैण्ड में मध्यवर्ग अधिक शक्तिशाली था। इसलिए वहां शक्ति सामन्तों के हाथ से निकल कर पार्लियामेण्ट के हाथों में आ गई। फलतः जब कि फ्रांस में राजा की तानाशाही का सूत्रपात हुआ जिसमें मध्यवर्ग उसका पिछलग्गू बन गया।

वैदेशिक सम्बन्ध : आन्तरिक संगठन और केन्द्रीकरण तो रिशलिउ की नीति का एक पक्ष था। वह फ्रांस को यूरोप में शक्तिशाली और प्रतिष्ठित बनाने के लिए कृत-संकल्प था। वह जानता था कि जब तक फ्रांस को प्राकृतिक सीमा नहीं मिल जाती और उत्तर में राइन नदी और दक्षिण पश्चिम में पिरेनीज के पहाड़ों तक फ्रांस का विस्तार नहीं हो जाता, फ्रांस न तो पूरी तरह सुरक्षित होगा न शक्तिशाली। यह लक्ष्य तब तक पूरा नहीं हो सकता था जब तक हैप्सबुर्ग परिवार कमजोर न हो जाय। पवित्र रोमन साम्राज्य और स्पेन के राज्यों से फ्रांस बुरी तरह घिरा हुआ था। इसलिए उसी पर प्रहार करने की आवश्यकता थी।

रिशलिउ ने देखा कि हैप्सबर्ग परिवार के राज्यों में विघटनकारी शक्तियाँ बढ़ रही हैं। उसने नीदरलैण्ड्स के डच और जर्मनी के प्रोटेस्टेण्ट लोगों की मदद करनी शुरू की। तीस वर्षीय युद्ध चल रहा था। फ्रांस के लिए यह स्वर्णिम अवसर था। रिशलिउ ने साम्राज्य के दुश्मनों की पूरी मदद की। समर्थन और सहयोग के लिए एक ही आधार था— हैप्सबर्ग परिवार से दुश्मनी। जब **डेनमार्क** और **स्वीडन** ने युद्ध में प्रवेश किया तो उन्हें फ्रांसीसी मदद प्राप्त थी लेकिन परोक्ष मदद का पूरा परिणाम नहीं निकल रहा था। कैथोलिक लोग और साम्राज्य की सेनाएँ हर बार भारी पड़ जाती थीं। अन्त में रिशलिउ ने ऐतिहासिक निर्णय लिया। उसने प्रोटेस्टेण्ट लोगों का पक्ष लेकर खुले आम युद्ध में हिस्सा लेने का निर्णय किया।

फ्रांस की राजसत्ता को अक्षुण्ण बनाने के लिए ही उसने फ्रांस के प्रोटेस्टेण्टों का दमन किया था और उसी के लिए उसने जर्मनी के प्रोटेस्टेण्ट संघ की मदद की। फ्रांस की सेना संगठित हो चुकी थी। **त्यूरेन** और **कोंदे** जैसे योग्य और बहादुर सेनापति मिल चुके थे। फ्रांसीसी सेनाओं ने हर तरफ से हैप्सबर्ग राज्यों की सेनाओं से लोहा लिया और उसके दुश्मनों की मदद की। शुरू में सफलता मिलती नहीं दिखी लेकिन रिशलिउ का निश्चय और लगन असाधारण थे। उसने ऐसी-ऐसी चालें चलीं, कूटनीति और युद्ध का ऐसा इस्तेमाल किया कि सात वर्षों के सतत प्रयास से अंत में फ्रांसीसी सेनाओं को विजय मिलने लगी।

युद्ध का समापन देखने के लिए वह जिन्दा नहीं बचा लेकिन 1642 में जब वह मरा तो युद्ध के रुख का पता चल गया था। यह निश्चित हो चुका था कि स्पेन अब नहीं उठ सकेगा। साम्राज्य की नींव हिल गई थी। वेस्ट-फेलिया की सन्धि में जो निर्णय लिये गए उनका आधार रिशलिउ ने ही बनाया था। इस प्रकार राजा और अपने राष्ट्र की सेवा में रत उसे यह संतोष रहा होगा कि उसने अपने वायदे का पूरी तरह पालन किया था।

मूल्यांकन : इतिहास राजाओं को याद करता रहा है। राजाओं के शासन-काल के आधार पर ही विभिन्न कालों का नामकरण होता रहा है। लेकिन इतिहास में ऐसे भी उदाहरण हैं कि शासक इतना निकम्मा हुआ है कि उसे कोई भी याद नहीं करता। भारत के इतिहास में चन्द्रगुप्त से अधिक उसका सलाहकार चाणक्य याद किया जाता है। बलवन सुल्तान बनने के पहले किस का मन्त्री था, यह बहुतों को याद नहीं होगा। इसी प्रकार अठारह वर्षों तक रिशलिउ फ्रांस का विधाता बना रहा। जिस राजा की सत्ता के लिए उसने अथक प्रयास किया, उसे बस इसलिए जाना जाता है कि रिशलिउ उसका मन्त्री था।

रिशलिउ शारीरिक रूप से बहुत प्रभावशाली नहीं था। अक्सर बीमार रहता था। लेकिन अपने मनोबल के कारण वह सारी कमियां पूरी कर लेता था। लोगों के बीच जाने से पहले वह अपनी वेश-भूषा पर विशेष ध्यान देता था। प्रायः लाल रंग के वस्त्र पहनता था जो फौरन उसे औरों से भिन्न कर देते थे। व्यक्तिगत स्वार्थ और महत्त्वाकांक्षा को अपने उद्देश्यों के रास्ते में नहीं आने देता था। पुनर्जागरण ने जिन नई प्रवृत्तियों को जन्म दिया था, उसने उन्हें आत्मसात् कर लिया था। इसीलिए वह धार्मिक मामलों में सहिष्णु और धर्म निरपेक्ष था। स्वयं कार्डिनल होते हुए भी कैथोलिक चर्च को राजनीति और विशेष कर फ्रांस की राजनीति से अलग करके देखता था। अपने देश और अपने राजा के लिए वह चर्च के हितों की भी परवाह नहीं करता था।

वह जानता था कि देश तभी शक्तिशाली होगा जब सारी शक्ति एक जगह केन्द्रित हो। सामन्तों की शक्ति को वह विघटनकारी समझता था, इसलिए उसने उन्हें निष्क्रिय और बेकार कर दिया। मध्यवर्ग को वह उपयोगी समझता था। उनसे उसने सहयोग किया। प्रजातान्त्रिक संस्थाओं को उसने कोई महत्त्व नहीं दिया। फ्रांस में स्टेट्स जनरल के लड़ाई झगड़े उसने देखे ही थे। इंग्लैण्ड में भी पार्लियामेण्ट राजा का विरोध कर रही थी। इसीलिए हर प्रतिनिधि संस्था को उसने बेकार समझा। इससे तात्कालिक परिणाम तो अच्छा निकला। राजतन्त्र शक्तिशाली होता गया और लूई चतुर्दश स्वयं को ही राज्य कहने लगा—मैं ही राज्य हूँ। लेकिन इसके दूरगामी परिणाम बहुत बुरे हुए। घोर केन्द्रीकरण और तानाशाही का परिणाम यह हुआ कि सौ साल के बाद ही विरोध शुरू हुआ। और रिशलिउ की मृत्यु के डेढ़ सौ वर्षों के बाद ही फ्रांस के राजा को सूली पर चढ़ा दिया गया।

वैदेशिक सम्बन्धों के विषय में रिशलिउ की नीति दूरदर्शी थी। हैप्सबर्ग परिवार को कमजोर बनाकर उसने फ्रांस का मार्ग प्रशस्त किया। स्पेन और पवित्र रोमन साम्राज्य का पतन ही होता गया। अन्त में स्पेन फ्रांस के राजपरिवार के ही हाथ में आ गया और साम्राज्य को फ्रांस के ही शासक नेपोलियन ने भंग कर दिया। अतः फ्रांस को महान् शक्ति बनाने का सूत्रपात रिशलिउ ही ने किया।

रिशलिउ के कार्यों पर विहंगम दृष्टि डालने पर ऐसा लगता है कि उसके कार्य जन-विरोधी थे। उसने केवल राजा का भला किया। फ्रांस की कृषि और उद्योग तिरस्कृत रहे। आर्थिक दृष्टि से फ्रांस कमजोर होता गया। राजा की शान-शौकत बढ़ती गई। जनता गरीब होती गई। उसने सांस्कृतिक महत्त्व के भी कार्य किये। अकादमियाँ स्थापित हुईं। राष्ट्रीय पुस्तकालय को संगठित किया गया। यह सच है। लेकिन वह उन व्यक्तियों में

से था जो देश की अमूर्त महिमा के प्रशंसक होते हैं। फ्रांसीसी एक शब्द से बहुत प्यार करता है—ग्लुआर (Gloire), जिसका अर्थ होता है महिमा। रिशलउ से लेकर फ्रांस के विश्वविख्यात राष्ट्रपति दगाल तक बहुत से फ्रांसीसी शासक हुए हैं जिन्होंने फ्रांस को महान् बनाये रखने के लिए ऐसे भी काम किये हैं जिनसे जनता का वास्तविक लाभ कुछ भी नहीं हुआ है, लेकिन फ्रांस की प्रतिष्ठा बढ़ी है। रिशलिउ को इसी संदर्भ में देखना चाहिए। कुछ भी हो, रिशलिउ फ्रांस में हमेशा याद किया जायेगा क्योंकि उसने फ्रांस को शक्तिशाली और प्रतिष्ठित बनाने के लिए अथक प्रयास किया था।

लूई चतुर्दश

रिशलिउ की मृत्यु के एक वर्ष के अन्दर ही उसके शासक की भी मृत्यु हो गई। उत्तराधिकारी लूई, जो लूई चतुर्दश के नाम से फ्रांस के इतिहास का सब से प्रसिद्ध शासक हुआ, केवल पाँच वर्ष का था। रिशलिउ के काम अधूरे थे और उसके किये-कराये पर पानी पड़ सकता था। लेकिन उसने भी अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। उसका शिष्य माजारैं इस काम के लिए सर्वथा उपयुक्त था।

माजारैं

उस जमाने में राष्ट्रीयता की जकड़ इतनी मजबूत नहीं थी। लोग नौकरी करने दूसरे देशों में चले जाते थे और ऊँचे-ऊँचे पदों पर सुशोभित होते थे। आज तो दूसरे देश में कोई मजदूरी भले ही कर ले, राज्य के महत्त्वपूर्ण पदों पर देश के ही आदमी रखे जाते हैं।

माजारैं इटालियन था और चर्च की नौकरी करता था। पोप ने ही उसे पेरिस में नियुक्त किया था। रिशलिउ ने उसकी योग्यता को पहचान कर उसे राज्य की नौकरी दी थी और लगातार आगे बढ़ाया था। माजारैं की रिशलिउ से तुलना नहीं की जा सकती। रिशलिउ के मुकाबले में वह एक साधारण व्यक्ति था जिसमें न मौलिकता थी न दूरदर्शिता। लेकिन वह यह जानता था कि रिशलिउ के कार्यों को पूरा करना है। सामन्तों का दमन और हैप्सबर्ग परिवार को नीचा दिखाना रिशलिउ के प्रमुख कार्य थे। इन्हें माजारैं ने पूरा किया। जैसे किसी खत को पूरा करने के बाद कुछ याद आ जाये और 'पुनश्च' के बाद कुछ और लिखकर उसे पूरा किया जाय वैसे ही माजारैं ने रिशलिउ को उसकी परिणति तक पहुँचाया। इसलिए उसे Post script to Richelieu कहते हैं।

माजारैं को ठीक से फ्रेंच बोलना कभी नहीं आया और इस प्रकार वह

विदेशी बना रह गया। फिर भी रिशलिउ की मृत्यु से अपनी मृत्यु पर्यन्त वह उन्नीस वर्षों तक फ्रांस का वास्तविक शासक बना रहा। रिशलिउ जिस कार्य को निर्दय होकर आवश्यकता पड़ने पर हिंसा और युद्ध के द्वारा पूरा करता था उसे माजारैं जहाँ तक हो सकता था कूटनीति से पूरा करता था। इसीलिए विरोधों के बावजूद वह फ्रांस का मन्त्री और चर्च का कार्डिनल बन सका।

आन्तरिक व्यवस्था : रिशलिउ ने सामन्तों को दबा तो दिया था लेकिन उनकी शक्ति समाप्त नहीं हुई थी। कह सकते हैं कि साँप तो मर गया था लेकिन उसका सिर नहीं कुचला गया था। रिशलिउ के मरते ही वे सिर उठाने लगे। मध्यवर्ग के लोगों ने सामन्तों के विरुद्ध रिशलिउ का साथ दिया था लेकिन वे माजारैं से असन्तुष्ट थे। यह बढ़ती राष्ट्रीयता का युग था और एक ऐसे विदेशी का मन्त्री होना जो अपने राज्य की भाषा भी ठीक से न जाने, लोगों को बहुत खलता था। दूसरे माजारैं दाँव-पेच करता रहता था। स्वार्थी होने के कारण उसने बहुत सारा धन भी इकटठा कर लिया था। इन कारणों से मध्यवर्ग भी ईर्ष्यालु हो गया था। सामन्तों को इससे सहारा मिला और उन्होंने अन्तिम बार राजा की सत्ता को ललकारा। उनके विद्रोह को इतिहास में फ्रोंद् (Fronde) के नाम से जाना जाता है। फ्रोंद पेरिस के बच्चों का एक खेल था जो वे सड़कों पर खेलते थे। इसीलिए अक्सर पुलिस वाले उन्हें रोक देते थे।

इस विद्रोह का स्वरूप पाँच वर्षों में कई बार बदला। पहले तो ऐसा लगा कि यह राजा की बढ़ती निरंकुशता के विरोध में परम्परागत वैधानिक संस्थाओं, जैसे पार्लमाँ, का विद्रोह है। फिर इसने दमन के विरुद्ध जन-आन्दोलन का स्वरूप धारण कर लिया। कभी यह षड्यन्त्रकारियों द्वारा उकसाया हुआ व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए किया गया आन्दोलन लगा। अन्त में निश्चित हो गया कि यह सामन्तों का मध्यवर्ग और राजा के विरुद्ध शक्ति प्राप्त करने का, अस्तित्व की रक्षा का संघर्ष है।

पेरिस की पार्लमाँ एक शक्तिशाली संस्था थी। जब से 'पोलेत' नामक कर लगा था, जिसे देकर पद अपने उत्तराधिकारी के लिए सुरक्षित किया जा सकता था, पार्लमाँ के सदस्य और शक्तिशाली हो गये थे। वे ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की शक्ति देखकर अपने लिए भी वे ही अधिकार चाहने लगे थे। वास्तविकता यह थी कि दोनों में कोई समानता नहीं थी। एक व्यवस्थापिका थी, कानून बनाने का कार्य करती थी। दूसरी न्यायपालिका थी। लेकिन कानून बनने पर पार्लमाँ की स्वीकृति लेने की परम्परा के कारण पेरिस की पार्लमाँ के सदस्य प्रभावशाली थे तथा अपना प्रभाव और भी बढ़ाना चाहते थे।

1648 में पेरिस में एक नया कर लगाया गया। इस चुँगी को जनता ने

पसन्द नहीं किया। शासक अभी वयस्क नहीं था। मन्त्री विदेशी था और जनता नये कर के विरुद्ध थी। अवसर अनुकूल था। पार्लमाँ ने इस कर को स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया। ऐसी परिस्थिति में परम्परा थी कि राजा स्वयं पार्लमाँ में आये और अपने स्थान (Lit de Justice) से कर को मान्य करने की घोषणा कर दे। शिशु लूई ने माजारैं के निर्देश पर ऐसा किया भी लेकिन पार्लमाँ का विरोध बना रहा। उसने एक समिति बना दी जिसने २७ माँगें रखीं। इन माँगों में प्रमुख थीं—ऐताँदाँ के पद का अन्त, भूमि-कर में कमी, गिरफ्तार व्यक्तियों को निश्चित समय के भीतर न्यायालय के सामने प्रस्तुत करना और करों पर पार्लमाँ का नियन्त्रण। पेरिस में विरोध इतना बढ़ा कि लोगों ने सड़कों पर विद्रोह करना शुरू कर दिया। कुछ माँगें स्वीकार करनी पड़ीं। कुछ ऐताँदाँ हटाये गए और भूमि-कर भी कम कर दिया गया। लेकिन कुछ ऐसी भी माँगें थीं जिनके मानने पर सैद्धान्तिक परिवर्तन करने पड़ते। इसी बीच फ्रांसीसी सेनाओं को विजय मिली और इस उपलक्ष्य में प्रसिद्ध गिरजाघर 'नात्रदाम' में एक समारोह आयोजित हुआ। माजारैं ने देखा कि अवसर आ गया है। उसने विरोध के प्रमुख नेता ब्रूसेल को गिरफ्तार करवा दिया। लेकिन विरोध इतना बढ़ा कि लगा कि पेरिस की सड़कों पर भयंकर हिंसात्मक मुठभेड़ें होंगीं। सेनापति कोंदे और त्यूरेन पर भरोसा नहीं किया जा सकता था कि वे किसका साथ देंगे। इसलिए ब्रूसेल को छोड़ना पड़ा और अधिकांश माँगें स्वीकार करनी पड़ीं। इस तरह फ्रोंद का पहला अध्याय राजा और माजारैं के विरुद्ध सफल हो गया।

फिर भी शान्ति नहीं स्थापित हो सकी। पेरिस में छुटपुट वारदातें होती रहीं। व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए कुछ सामन्त षड्यन्त्र करते रहे। राजदरबार ने एक समझौता भी किया लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। कोंदे भी षड्यन्त्र में शामिल था। निराश माजारैं कुछ दिनों के लिए पेरिस से दूर चला गया। लोगों ने समझा कि उसका पतन हो गया और उन्होंने खुशियाँ मनाईं। लेकिन विद्रोह दबा नहीं। फ्रांस भर में तरह-तरह के दंगे होने लगे। माजारैं लौटा और उसने राजा के समर्थकों और त्यूरेन की मदद से पेरिस के विद्रोहियों को दबाने का कार्य शुरू किया। कोंदे स्वयं विद्रोहियों का नेतृत्व कर रहा था। जब माजारैं को लगा कि अधिकतर विद्रोह उसी के प्रति है तो वह अलग चला गया। पेरिस पर राजा का नियन्त्रण हो गया। कोंदे को देश छोड़कर भागना पड़ा। धीरे-धीरे विरोधियों को पकड़-पकड़ कर सजा दी गई और फ्रोंद का अन्त हो गया। माजारैं फिर अपने पद पर लौट आया।

पाँच वर्षों की अशान्ति का कोई परिणाम नहीं निकला। सामन्त अपनी खोई शक्ति वापस नहीं पा सके। पार्लमाँ की महत्त्वाकांक्षा भी पूरी नहीं हो

सकी। उसका क्षेत्र केवल न्याय निर्धारित कर दिया गया। पेरिस पर शासन का नियन्त्रण बढ़ा दिया गया। राजा की निरंकुशता का जहाँ से विरोध हुआ था वहीं नियंत्रण बढ़ता गया और इस संघर्ष से, जो गृहयुद्ध का रूप ले रहा था, अन्ततोगत्वा राजतन्त्र शक्तिशाली हुआ।

वैदेशिक नीति : तीस वर्षीय युद्ध के परिणाम फ्रांस के पक्ष में हो चुके थे। तभी रिशलिउ मर गया। माजारैं ने युद्ध जारी रखा और जब वेस्टफेलिया की सन्धि हुई तो बहुत-सी शर्तें फ्रांस के पक्ष में थीं। (देखिये वेस्टफेलिया की सन्धि)। फ्रांस की सीमा उत्तर-पूर्व में आगे बढ़ी और साम्राज्य में फ्रांस का महत्त्व बढ़ गया। दक्षिण में स्पेन से पूरी तरह समझौता हो नहीं पाया था। माजारैं ने इंग्लैण्ड के शासक क्रॉमवेल से समझौता किया और उसकी मदद से स्पेन में युद्ध शुरू हुआ। अन्त में पिरेनीज की सन्धि के द्वारा युद्ध का अन्त हो गया। इस सन्धि की विशेष बात यह थी कि हैप्सबर्ग और बूर्बों जैसे प्रतिद्वन्द्वी परिवारों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो गया। स्पेन की राजकुमारी का विवाह फ्रांस के शासक लूई से सम्पन्न हुआ। इसी विवाह के कारण बाद में स्पेन का राज्य भी बूर्बों वंश के कब्जे में आ गया।

मूल्यांकन : माजारैं की मृत्यु ठीक समय से हुई, क्योंकि लूई ने शासन अपने हाथ में लिया तो निश्चित था कि माजारैं से सम्बन्ध बिगड़ सकते थे। माजारैं की विशेष उपलब्धि सामन्तों का अन्तिम रूप से दमन करना थी। पार्लमाँ कोई जन-प्रतिनिधि संस्था नहीं थी। फ्रोंद के दौरान जो विद्रोह हुए उनमें से अधिकांश स्वार्थी लोगों द्वारा भड़काये हुए थे। वैसे भी यह इतिहास-क्रम के विरुद्ध था कि सामन्तों को शक्ति वापस मिल जाये। इस तरह माजारैं ने अपने समय के लिए एक उपयुक्त कार्य ही किया। लेकिन इसके अतिरिक्त उसे कोई सफलता नहीं मिली। सारे देश में अराजकता और अव्यवस्था बढ़ गई। कोई स्थायी सुधार नहीं हुए। सल्ली द्वारा किये गए सुधार समाप्त हो गए। विदेशों से सम्बन्ध के क्षेत्र में अवश्य फ्रांस को सफलता मिली। उसके मन्त्रित्वकाल में हुई वेस्टफेलिया और पिरेनीज की सन्धियाँ फ्रांस के बढ़ते प्रभाव की साक्षी थीं।

इस तरह माजारैं का एकमात्र कार्य रिशलिउ के अधूरे कार्यों को पूरा करना था। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इतने विरोध के बावजूद विदेशी होते हुए भी उसने अपना प्रभाव बनाये रखा। अपने में यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। उसकी सबसे बड़ी यादगार फ्रांस की सब से प्रतिष्ठित संस्था इन्स्टीट्यूट है जिसकी इमारत का नाम उसी के नाम पर रखा गया है।

लूई चतुर्दश का शासन

आधुनिक इतिहासकारों में वोल्तेयर का नाम सब से पहले आता है। उसने

ही इतिहास में बीते हुए दिनों की समग्रता का, विशेषकर सांस्कृतिक उपलब्धियों का महत्त्व बताया था। उसने अपनी इतिहास पुस्तक का नाम रखा, 'लूई चतुर्दश का काल'। उसने लूई के काल में जो कुछ भी हुआ उसे करीब से देखा समझा था। उसने भी माना कि पूरी अर्धशताब्दी में जो भी हुआ उस पर उसके व्यक्तित्व की छाप थी। राजनीति से दैनिक कार्यों, आचार-व्यवहार, वेशभूषा तक ऐसा कुछ भी नहीं था जिस पर उसका प्रभाव न हो। वह प्रभाव राजधानी से विकसित होता-फैलता धीरे-धीरे सारे यूरोप तक पहुँच गया था। राजनीति में उसे सफलता भी मिली और असफलता भी। लेकिन फ्रांस की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ हर कहीं विजयी हुईं। यही कारण है कि व्यक्तिगत जीवन बहुत प्रतिभाशाली न होते हुए भी लूई को महान् शासक (Le Grand Monarque) कहा जाता है।

राजत्व का सिद्धान्त : इतने विस्तृत शासन-काल में उसने बहुत कुछ किया। उसके पूर्ववर्तियों ने जिस एकतन्त्र की नींव रखी थी उस पर उसने एक आलीशान अट्टालिका खड़ी की। राजा और उसकी राजधानी की चमक से सभी चकाचौंध थे। उसकी तुलना सूरज से की जाती थी। उसे Roi Soleil या Sun King कहा जाता था। यह बात बड़ी सारगर्भित थी। जैसे पूरे सौर-मण्डल का केन्द्र सूरज होता है वैसे ही पूरी व्यवस्था का केन्द्र वह स्वयं था। और जिस प्रकार सौर-मण्डल के सभी ग्रह सूरज का चक्कर लगाते हैं उससे प्रकाश और जीवन पाते हैं उसी प्रकार उसके राज्य में जीवन और प्रकाश उसी से प्रवाहित होता था।

जब से राजतन्त्र का जन्म हुआ है राजाओं ने अपनी विशिष्टता को सैद्धान्तिक रूप देने का प्रयास किया है ताकि दूसरे उसे बिना विरोध किये स्वीकार कर लें। समाज में अधिकांश लोग भाग्यवादी होते हैं इसलिए राजाओं ने यह स्थापित करने की कोशिश की है कि उन्हें राजा के रूप में ही ईश्वर ने पैदा किया है और इस स्थिति में मनुष्य चाहकर भी परिवर्तन नहीं कर सकता। परिणामत: राजा की आज्ञाओं का पालन करना जनता की नियति है। इस काम में राजाओं का साथ पुरोहितों ने हमेशा से दिया है। राजा की सत्ता को धार्मिक लबादा पहनाकर पुरोहित अपनी विशिष्टता भी सुरक्षित कर लेता था। यह हमेशा और हर देश में हुआ है।

लूई ने इसी काम को बड़ी धूमधाम और गरिमा के साथ सम्पन्न किया। उसे अपने लड़के के शिक्षक बोस्सुए पर भरोसा था। बोस्सुए एक पटु पादरी था और इतिहास तथा दर्शन में उसका विशद अध्ययन था। रोज जब वह चर्च में भाषण करता था तो राजा की सर्वोच्चता की हिमायत करता था। उसके अनुसार राजतन्त्र 'सबसे प्राचीन, सबसे उपयुक्त और सबसे स्वाभाविक

शासनतन्त्र है।' राजा पूरे राष्ट्र का मूर्त रूप होता है। वह कहता था कि राजा को ईश्वर अपने विशेष कार्य के लिए पैदा करता है। राजा के माध्यम से ही ईश्वर संसार पर नियन्त्रण रखता है। इसलिए राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। राजा प्रजा का पिता तुल्य होता है। प्रजा को शासन में कोई हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। जैसे सारे गुण, सारी पूर्णता ईश्वर में निहित होती हैं। वैसे ही किसी समाज के व्यक्तियों की सारी शक्तियाँ राजा में निहित होती हैं। (As in God are united all perfection and every virtue so all the power of all the individuals in a community is united in the person of the King)। इस प्रकार राजा के मन्त्री भी उसके कर्मचारी हो गए। मन्त्री स्वतन्त्र रूप से कोई निर्णय नहीं ले सकते थे। रिशलिउ जैसे मन्त्री अब सम्भव नहीं थे। लूई का योग्य मन्त्री कोल्बेर भी पूरी तरह स्वतन्त्र नहीं था। राज्य के हर कार्य का राजा प्रतिमूर्ति हो गया, यहाँ तक कि वह कहने लगा कि 'मैं ही राज्य हूँ' (L'etatc'est moi या State ? It is I.)

शक्ति के इतने केन्द्रीकरण के कारण उसने जिन व्यक्तियों के माध्यम से शासन किया, वे न तो अपनी पूरी प्रतिभा प्रदर्शित कर सकते थे, न अपने शासक की बराबरी कर सकते थे। लूई का कोई विरोध तो कर ही नहीं सकता था, वह स्वयं हर विभाग, हर कार्य का शीर्षस्थ व्यक्ति था। अन्य लोगों की हैसियत बस मातहत कर्मचारी की थी।

आन्तरिक प्रशासन : उसे किसी रिशलिउ जैसे मन्त्री की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि अन्तिम निर्णय वह स्वयं लेता था। मन्त्रियों को उन्हें बस कार्यान्वित करना होता था। कर्मचारियों की नियुक्ति और उनके कार्य की निगरानी वह स्वयं करता था। राजधानी में मन्त्रियों से स्थानीय कर्मचारियों तक सब पर उसका व्यक्तिगत नियंत्रण था। वह स्वयं परिश्रम करता था और कहा करता था कि 'शासन कार्य के माध्यम से कार्य के लिए ही होता है।' (One reigns by work and for work)। शासन को वह पेशेवर पटुता प्रदान करना चाहता था। जैसे अन्य पेशे होते हैं वैसे ही राजा का भी एक पेशा होता है और राजा अपने अध्यवसाय और योग्यता के अनुसार उसमें दक्ष हो सकता है। लूई ने वास्तव में अभूतपूर्व दक्षता प्राप्त की और राज्य को एक संगठित तन्त्र बनाने में सफल हुआ।

उसकी छत्रछाया में उसकी जैसी ही प्रतिभा वाला व्यक्ति पनप नहीं सकता था। फिर भी उसे ऐसे व्यक्तियों का सहयोग मिला जो पहले से ही राज्य के सेवक थे। उसके अन्तिम दिनों में तो प्रतिभाओं का अकाल पड़ गया। अत्यन्त साधारण लोगों की मदद से उसे शासन करना पड़ा।

उसके शासन काल में एकमात्र अपवाद हम कोल्बेर को समझ सकते हैं। कोल्बेर आर्थिक मामलों में असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न था। लूई को व्यक्तियों की पहचान थी। आन्तरिक प्रशासन को कोल्बेर के हाथों छोड़कर वह निश्चिन्त हो गया। युद्ध, कूटनीति और दरबार की शान-शौकत सम्बन्धी कार्यों में रुचि लेने की उसे फुरसत मिल गई।

कोल्बेर का प्रशासन : कोल्बेर एक मध्यवर्गीय परिवार में जन्मा था। एक व्यापारी का लड़का होते हुए भी माजारैं की कृपा से वह उन्नति करता चला गया और अन्त में लूई ने भी उसकी योग्यता पहचान कर युद्ध मन्त्रालय के अलावा सारे महत्त्वपूर्ण मन्त्रालय उसे सौंप दिये। वह एक स्वामिभक्त मन्त्री साबित हुआ और बीस वर्षों तक अपने राजा, अपने देश और अपने वर्ग के हितों के लिए अथक परिश्रम करता रहा। लूई और कोल्बेर का सहयोग राजतन्त्र और मध्यवर्ग के सहयोग का चरमोत्कर्ष था।

कोल्बेर के सामने तात्कालिक और सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या राजकोष से सम्बन्धित थी। रिशलिउ और माजारै ने ऊपर से राजतन्त्र को मजबूत किया था लेकिन उसके आर्थिक आधार पर विशेष ध्यान नहीं दिया था। उसने देखा कि राज्य ने ऊँची दरों पर बहुत-सा कर्ज ले रखा है। कर-वसूली ठीक से न होने से कम धन राजकोष में जा पाता है। जैसे अंग्रेजों ने कर-वसूली जमींदारों को सौंप दी थी और वे मनमाने ढंग से वसूली करते थे वैसा ही फ्रांस में होता था। बहुत बड़ी मात्रा में कर वसूली हुई ही नहीं थी। राज्य के पदों की बिक्री होती थी और हिसाब-किताब सही रूप से नहीं रखा जाता था।

उसने वित्तीय समस्याओं को प्राथमिकता दी। एक बहुत बड़ा वर्ग विशेषाधिकारों के नाते सबसे प्रमुख भूमि-कर (Taille) देता ही नहीं था। यह कर वह सब पर नहीं लगा सका क्योंकि वह जानता था कि इसका कितना विरोध होगा। लेकिन बहुत से करों से मुक्त लोगों को फिर से कर देने की व्यवस्था की गई। राज्य को उधार देने में बहुत बेईमानी हुई थी। इसलिए उसने बहुत-से कर्जों की वैधता को समाप्त कर दिया। सूद की दरें कम कर दी गई। जिन लोगों ने कर-वसूली में बेईमानी की थी उनका पता लगाया गया और उनसे सात करोड़ बकाया वसूला गया। विश्वासपात्र कर्मचारियों की नियुक्ति की गई। प्रान्तों के प्रशासकों को कर-वसूली की जिम्मेदारी सौंप दी गई। राज्य के खर्चों में कमी की गई। वह दरबार के खर्चे को भी नियन्त्रित करना चाहता था लेकिन लूई ने जो शाहखर्ची शुरू की उसमें वह कमी नहीं कर सका। उसने कोई नया कर नहीं लगाया। चुंगी और सीमा-कर की दरें घटा दीं। इस प्रकार केवल व्यवस्था ठीक कर देने से राजकोष का घाटा समाप्त हो

वह जानता था कि जब तक अर्थव्यवस्था का कोई स्थायी आधार नहीं होगा ऊपरी सुधारों से काम नहीं चलेगा। इसीलिए उसने कृषि और उद्योग पर विशेष ध्यान दिया। इस सम्बन्ध में उसने कोई मौलिक नीति नहीं अपनाई। उसने वही किया जो इंग्लैण्ड जैसे देश में हो रहा था और जिसे मरकैण्टिलिज्म (Mercantilism) कहा जाता था। इस वाद का अर्थ था कि सारी आर्थिक गतिविधि पर राज्य का नियन्त्रण रहे। इसके अनुसार किसी एक व्यक्ति, क्षेत्र या वर्ग का हित महत्त्वपूर्ण नहीं था, सारे राज्य का हित सर्वोच्च था। इसके लिए आवश्यक था कि राज्य किसी चीज के लिए दूसरे देशों पर निर्भर न हो क्योंकि हर पड़ोसी सम्भावित दुश्मन समझा जाता था।

इस नीति के अनुसार आत्मनिर्भरता पर जोर दिया गया। उसने कृषि पर विशेष ध्यान दिया। किसानों की सुरक्षा के लिए यह कानून बना कि किसी परिस्थिति में खेती के उपकरण उनसे छीने नहीं जा सकते। चौपायों के पालन को प्रोत्साहित किया गया। नहरें बनवाई गईं। आन्तरिक व्यापार अनेक तरह के करों के कारण अवरुद्ध रहता था। उन्हें वह पूरी तरह तो समाप्त नहीं कर सका, लेकिन बहुत-सारी चुंगियाँ समाप्त कर दी गईं ताकि सामान एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक आवश्यकतानुसार निर्बाध रूप से पहुँच सके।

उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए उसने फ्रांसीसी कारीगरों के विदेश जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इंग्लैण्ड, हालैण्ड और इटली के कारीगरों को विशेष सुविधाएँ और पुरस्कार देकर फ्रांस आने का निमन्त्रण दिया गया। धातुओं, कपड़े और शीशे का उद्योग बढ़ा। 100 औद्योगिक प्रतिष्ठानों को शाही मुहर लगाने की आज्ञा दे दी गई। उस समय दरबारी शान-शौकत का जमाना था। इसलिए भोग-विलास की चीजों का उत्पादन और व्यापार बहुत बढ़ा। नगरों, विशेषकर राजधानी में, ऐसी वस्तुओं के लिए खुला बाजार था। धीरे-धीरे ये चीजें विदेशों में भी जाने लगीं। उसने आयात पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगा दिये और निर्यात को हर तरह का प्रोत्साहन दिया। मूल्य राज्य की ओर से निर्धारित किया जाता था और इन्स्पेक्टर लोग बराबर निगरानी करते थे।

उद्योग के विकास के लिए यातायात के साधनों की उन्नति आवश्यक थी। कोल्बेर ने सड़कों के निर्माण को बहुत महत्त्व दिया। उसे रोमन लोगों के बाद इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण सड़कों का निर्माता (Greatest road maker in France since the time of Romans) कहते हैं। उसने ऐसी नहरें भी बनवाईं जो यातायात के काम आयें। उसने उस समय की सब से बड़ी, एक सौ साठ मील लम्बी, **लाँग दॉक** नहर बनवाई जिससे फ्रांस का दक्षिणी समुद्र तट पश्चिमी समुद्र तट से जुड़ गया।

कोल्बेर इतना दूरदर्शी था कि औद्योगिक विकास के लिए स्थायी बाजारों की आवश्यकता समझता था। ऐसे स्थायी बाजार, जहाँ से कच्चा माल मिले और जहाँ बने हुए सामान बेचे जा सकें, केवल उपनिवेश ही सकते थे। उसी के प्रोत्साहन से फ्रांस की 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' और पश्चिमी देशों से व्यापार करने के लिए 'कोंपानी द लुएस्त' की स्थापना हुई। उत्तरी देशों, अरब देशों और अफ्रीका से व्यापार करने के लिए अलग-अलग कम्पनियाँ बनाई गईं। इन कम्पनियों पर अत्यधिक राजकीय नियन्त्रण था जो बाद में कमजोर शासकों के समय घातक साबित हुआ। कुछ भी हो, कोल्बेर की नीतियों के परिणामस्वरूप भारतवर्ष, अफ्रीका में सेनेगाल और मादागास्कर और अमेरिका में लूसियाना, ग्वादलूप और मारतिनिक जैसे स्थानों पर फ्रांसीसी व्यापार केन्द्र स्थापित हो गए।

उपनिवेशों के लिए एक शक्तिशाली नौसेना की आवश्यकता थी। उसने जहाजों के निर्माण और बन्दरगाहों के विकास को प्रोत्साहन दिया। अपने शासन के दस वर्षों के अन्दर उसने दो सौ से अधिक जहाज बनवाये। अटलाण्टिक तट पर अच्छे बन्दरगाह नहीं थे। उसने कैले, ब्रेस्ट और ल हाव्र नामक बन्दरगाहों को विकसित किया और फ्रांस के दोनों तटों पर नौ सेना रहने लगी। जहाजों को चलाने का काम अपराधी, युद्धबन्दी और अमेरिका में पकड़े गये कैदी करते थे। फ्रांस की नौसेना इंग्लैण्ड और हालैण्ड की उन्नत नौ सेनाओं की बराबरी करने लगी। सैनिक जहाजों के साथ-साथ व्यापारी जहाजों को भी विकसित किया गया। सैनिक शक्ति के लिए लूई स्वयं और युद्ध-मन्त्री लूबुआ जिम्मेदार थे। फिर भी कोल्बेर ने धन की व्यवस्था की जिससे सेना का पुन:संगठन हो सका। पैदल सेना का महत्त्व बढ़ा, संगीनों का इस्तेमाल शुरू हुआ। नई रणनीतियाँ विकसित की गई और घायल तथा पंगु सैनिकों के लाभ के लिए एक विशेष संस्था ऐंवालिद (Invalides) की स्थापना की गई।

कोल्बेर ने स्थायी महत्त्व के सांस्कृतिक कार्यों में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। रिशलिउ द्वारा स्थापित अकादमी को और अच्छी तरह संगठित किया गया। विज्ञान के लिए अलग से अकादमी स्थापित की गई। पेरिस में नक्षत्रों के अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण वेधशाला का निर्माण हुआ। सारे विश्व में कलात्मक कालीनों के निर्माण के लिए विख्यात संस्थान गोबलैं खरीद लिया गया। आज भी गोबलैं के कालीन और टैपस्ट्री दुनिया में सब से अधिक प्रसिद्ध माने जाते हैं। लेखकों को राजकीय संरक्षण दिया गया और विदेशी लेखकों को भी फ्रांस आने के लिए प्रोत्साहित किया गया। बहुत सारे निर्माण के लिए कोल्बेर व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार था।

एक प्रकार से उस सारी शान शौकत के लिए वही जिम्मेदार था जिसका केन्द्र वर्साई था और जिसका श्रेय लूई को मिला। वर्साई का वैभव कोल्बेर द्वारा बचाये गये धन पर ही आधारित था। लूई की कूटनीति और युद्धों के लिए धन कहां से आता था? निश्चित ही कोल्बेर द्वारा भरे गये राजकोष से।

बीस वर्षों के संघर्षमय शासन में कोल्बेर ने फ्रांस की महानता की नींव रख दी थी। इसीलिए जब वह 1682 में मरा तो एक शून्य छोड़ गया जिसे न लूई भर सका, न उसके उत्तराधिकारी, न और कोई मन्त्री। लूई को फिर कोई ऐसा योग्य प्रशासक नहीं मिला। उसने अपनी नीतियाँ नहीं बदलीं, जब कि उनकी पूर्ति के लिए आवश्यक धन मिलना बन्द हो गया था। नतीजा हुआ कि फ्रांस की आर्थिक स्थिति, जिसे सुधारने में कोल्बेर का इतना बड़ा हाथ था, बिगड़ती चली गई।

कोल्बेर का मूल्यांकन : यह इतिहास की विडंबना रही है कि काम कोई और करता है और नाम किसी और का होता है। फ्रांस का सारा वैभव, आर्थिक समृद्धि पर निर्भर था और उस समृद्धि के लिए लूई नहीं कोल्बेर जिम्मेदार था। लूई के जिन युद्धों ने फ्रांस की सीमाओं का विस्तार किया और जिनके कारण फ्रांस यूरोप की महान् शक्ति बन गया, वे भी कोल्बेर की आर्थिक नीति के बिना संभव नहीं थे। लेकिन कोल्बेर का उतना नाम नहीं हुआ जितना लूई का।

कोल्बेर की नीतियों ने फ्रांस के उद्योग और व्यवसाय को बहुत आगे बढ़ाया। फ्रांस के शीशे, सिल्क और जरी के सामान दुनिया के बाजारों में आज भी प्रतिष्ठित हैं। फ्रांस के मध्यवर्ग को भी बहुत प्रोत्साहन मिला। लेकिन राजकीय नियन्त्रण की नीति से नुकसान भी हुआ। अनाज के निर्यात को रोककर वह हमेशा के लिए फ्रांस को आत्म-निर्भर बनाना चाहता था किन्तु उसका परिणाम उल्टा हुआ। जब फसल अच्छी होती थी तो बाजार पट जाते थे। निर्यात न होने के कारण भाव गिर जाते थे और बहुत सारे खेत खाली छोड़ दिये जाते थे। फिर जब फसल बुरी होती थी तो दाम बढ़ते थे और अकाल की स्थिति आ जाती थी। निर्यात होता रहता था तो फ्रांस के किसानों को बहुत लाभ होता क्योंकि पड़ोस के अधिकांस देश अनाज के मामले में आत्म-निर्भर नहीं थे और हमेशा फ्रांस पर निर्भर रहते।

कुछ भी हो, उसकी नीतियों ने फ्रांस को समृद्ध बनाया। कर-व्यवस्था अपेक्षतया ठीक की, राजकोष पर बढ़ा कर्ज घटाया। करों का बोझ कम किया और सारे प्रशासन की दुर्व्यवस्था बहुत हद तक दूर की। राज्य के अनावश्यक खर्च कम हुए।

फ्रांस को कुछ स्थायी लाभ जरूर हुए लेकिन कोल्बेर की अदूरदर्शिता के

कारण जितना लाभ पहुँच सकता था उतना नहीं हो सका। कोल्बेर ने कभी नहीं समझा कि कोई राज्य अकेले समृद्ध नहीं हो सकता। आत्मनिर्भरता की एक सीमा होती है। सभी राज्य पूर्णतया आत्मनिर्भर हो जायें और केवल निर्यात को प्रोत्साहित करें तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बहुत बड़ा धक्का पहुँचेगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार परस्परावलम्बी होता है यह कोल्बेर की समझ में नहीं आया। वह हमेशा यही समझता रहा कि एक देश की समृद्धि दूसरे की गरीबी पर निर्भर होती है। इसीलिए जब लूई जैसा शासक और कोल्बेर जैसा प्रशासक नहीं रहा तो फ्रांस का उद्योग लड़खड़ाने लगा। उपनिवेशों में भी फ्रांस को मुँह की खानी पड़ी। इंग्लैण्ड की व्यक्तिगत कम्पनियां राज्य के झगड़ों से परे लगातार व्यापार और फिर राजनीति में सफल होती गईं। दूसरी ओर फ्रांस की राजकीय कम्पनियां राज्य के ऊंच नीच से सीधे प्रभावित होती गईं। ज्यों-ज्यों शासन बिगड़ा त्यों-त्यों फ्रांस का विदेशी प्रभाव भी घटता गया।

सब कुछ देखने के बाद भी कोल्बेर का महत्त्व घटता नहीं। वह एक अर्थ में वक्त से पीछे था। वह दुनिया के धन को सीमित समझता था और चाहता था कि फ्रांस के धनी होने के लिए दूसरे देशों को गरीब बनाना और उनके धन को छीनना जरूरी है। वह उत्पादन के महत्त्व को नहीं समझता था। दूसरी ओर वह मध्यवर्ग का संरक्षक था और उनके हितों को उसने काफी आगे तक बढ़ाया। उसने एक योग्य वित्तमन्त्री का कार्य उत्कट स्वामिभक्ति के साथ सम्पन्न किया। वह फ्रांस के सांस्कृतिक विकास में भी महत्त्वपूर्ण सहयोग देता रहा। इसीलिए तमाम सफलताओं और असफलताओं के बावजूद इतिहासकार उसकी ऐतिहासिक भूमिका को कभी नहीं नकारते। योग्य मन्त्रियों की परम्परा में कोल्बेर आखिरी नाम था। लूई और कोल्बेर की टीम फ्रांस के इतिहास की अन्तिम योग्य राजा और योग्य मन्त्री की टीम थी।

फ्रांस का वैभव : अपनी शक्ति और सामर्थ्य का प्रदर्शन करना मानव स्वभाव है। यदि व्यक्ति वैभव सम्पन्न हुआ तो यह अभिव्यक्ति बड़ी भड़कीली और शानदार होना चाहती है। विशेष रूप से राजाओं और तानाशाहों में हमेशा ही महल और स्मारक बनवाने की प्रवृत्ति रही है। कभी-कभी कुछ भवनों से शासक संतुष्ट नहीं हो पाते और अलग से एक नगर बसा डालते हैं। आगरा और दिल्ली जैसे उस समय के खूबसूरत शहरों से भी अकबर संतुष्ट नहीं हुआ था। उसने फतहपुर सीकरी में अलग से एक राजधानी ही बनवा ली थी। उसी तरह लूई ने अपने वैभव, अपनी महिमा की, अभिव्यक्ति के लिए पेरिस को अपर्याप्त पाया और बारह मील दूर वर्साई नामक स्थान पर एक नई राजधानी की नींव रखी। इस कार्य के लिए अपने समय के प्रख्यात

कलाकारों और इंजीनियरों को उसने इकट्ठा किया। शिल्पी **मांसार,** मूर्तिकार **जिरारदों,** चित्रकार **लबें** की मदद से उसने एक भव्य योजना बनाई। उसकी व्यक्तिगत देख-रेख में वर्साई के उजाड़ और दलदली क्षेत्र में एक विशाल राज-प्रासाद बना। उसकी दीवारें मूर्तियों और छतें चित्रों से सजाई गईं। बीच में एक विशाल शीशों का हाल बना जिसमें बाद में कई ऐतिहासिक सन्धियां हुईं। बाहर खूबसूरत फव्वारे, नकली झील, दूर-दूर तक फैले बागीचे और जगल बनवाये गये। मनुष्य की कल्पना और उपलब्ध साधनों के माध्यम से जितनी भव्यता की सृष्टि की जा सकती थी की गई। राज्य के कर्मचारियों और मुसाहिबों के रहने का इंतजाम हुआ। कुछ लोग स्वयं ही आकर बसने लगे। धीरे-धीरे एक खूबसूरत राजधानी बस गई। शाहजहां को अपने निर्माण पर इतना गर्व था कि उसने लिखवाया। 'अगर धरती पर कहीं स्वर्ग है तो यहीं है, यहीं है।' लूई भी वर्साई की दीवारों पर यही खुदवा देता तो सभी इसे उपयुक्त ही मानते।

पेरिस की उथल-पुथल और उपद्रवों से दूर वर्साई का दरबार हर तरह के कलाकारों के संरक्षण का केन्द्र बन गया। फ्रेंच भाषा के युग-प्रवर्तक साहित्य-कारों ने लूई के शासन-काल को गौरवान्वित किया। **मोलिएर** फ्रांस का सबसे बड़ा नाटककार माना जाता है। **कोरनर्ड और रासीन** जैसे सामाजिक नाटकों के रचयिता मौजूद थे। इन तीनों नाटककारों ने फ्रेंच भाषा को वही गरिमा प्रदान की जो **शेक्सपीयर** ने अंग्रेजी भाषा को। उनके नाटक समकालीन समाज के चित्र और व्यग्य प्रस्तुत करते हैं। इनका महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि इनका दुनिया की सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और ये नाटक सारी दुनिया में आज भी खेले और पढ़े जाते हैं। **मादाम सेविन्येचे** अपने चुटीले पत्रों और **ला फोतैन** अपनी गीतात्मक कहानियों के लिए प्रसिद्ध हैं। **सँसीमों** लूई से असंतुष्ट था और एक सीमा तक कटाक्ष करता रहता था। फिर भी उसकी दरबार तक पहुँच थी और उसकी डायरी में दरबार के विलासी और षड्यन्त्रों से भरपूर वातावरण की सुन्दर और विश्वसनीय तस्वीर मिलती है। प्रसिद्ध लेखक और वैज्ञानिक **पास्काल** ने भी लूई के जीवन-काल में ही अपनी रचनाओं से फ्रेंच भाषा और विचारों को संवारा। **फेनलों** और **बोस्सुए** के दार्शनिक और धार्मिक विचार उस समय की चिन्तनधारा के सुन्दर प्रमाण हैं। इन सारे लेखकों ने फ्रेंच भाषा को इतनी प्रतिष्ठा दी कि राज-शक्ति से अधिक सफलता भाषा को मिल गई। फ्रांसीसी सेनाओं ने केवल एक बार, नेपोलियन के समय में, यूरोप जीता था। लेकिन फ्रेंच भाषा ने तीन सौ वर्षों तक यूरोप पर अपना प्रभाव बनाये रखा। फ्रेंच कूटनीति और दरबारों की भाषा बन गई। सुसंस्कृत कहलाने के लिए फ्रेंच जानना आवश्यक हो

गया। आज भी फ्रांस की राजनैतिक शक्ति घट जाने के बावजूद फ्रेंच भाषा का महत्त्व तनिक भी नहीं घटा है।

वर्साई नाच रंग का केन्द्र हो चुका था। यहाँ तक कि पाक-कला में भी बहुत प्रगति हुई। **वातेल** लूई का मुख्य खानसामा था और एक से एक स्वादिष्ठ चीजें बनाता था। एक दिन लूई को उसके बनाये भोजन से संतोष नहीं हुआ तो वातेल ने आत्महत्या कर ली। आज भी सारे पश्चिमी यूरोप में फ्रेंच खाना सबसे बढ़िया समझा जाता है। वर्साई में नये फर्नीचर, वस्त्राभूषण बनते रहते थे और पार्टियों, स्वागत समारोहों में उनका प्रदर्शन होता था। सारे फ्रांस और यूरोप के लोग उनकी नकल करते थे।

रिशलिउ ने सामन्तों के सारे कार्य प्रशासकों को सौंप दिये थे। उनके पास धन था, समय था, पर करने को कुछ नहीं था। धीरे-धीरे सारे फ्रांस के धनी मानी कुलीन सामन्त वर्साई में ही बसने लगे और दरबार को खुश रखने और सजाने में व्यस्त रहने लगे।

लूई की दिनचर्या भी एक कर्मकाण्ड की तरह निश्चित नियमों के अनुसार चलती थी। सुबह होते ही खिड़कियों पर लगे मोटे मखमली पर्दे हटाये जाते थे और घोषणा की जाती थी कि 'धूप को अंदर आने की इजाजत है।' कमरे में राजपरिवार के सदस्य, सामन्त, उच्च कर्मचारी और राज्य के गण्यमान्य लोग उपस्थित रहते थे। कोई पानी लिये, कोई कपड़े लिये सेवा में तत्पर अपने को धन्य समझता था, यदि उसे लूई के तैयार होने मे कोई कार्य सम्पन्न करने का अवसर मिल जाता था।

अपने प्रमुख कर्मचारियों से घिरा हुआ वह शासन के हर क्षेत्र में व्यक्तिगत रुचि लेता हुआ स्वयं परिश्रम करता था। कोल्बेर अधिकांश विभागों के कार्य देखता था। **लूबुआ** युद्धमन्त्री और **बोबां** सैनिक इंजीनियर था। **त्यूरेन** और **कोंदे** जैसे विख्यात सेनापतियों की सेवा उसे प्राप्त थी। सेना के कार्यों में वह स्वयं दिलचस्पी लेता था। इस प्रकार लुबुआ, बोबां, कोंदे और त्यूरेन जैसी सैनिक टीम शायद ही कभी एक साथ जुट पाई हो। इन्होंने जिस तरह सेना को संगठित किया और उसे लड़ाकू तथा गतिशील बनाया, जितने नये कार्य और आविष्कार किए उन्हीं के बल पर लूई को युद्धों में सफलता मिली। फ्रांस के इस नये सैनिक तन्त्र का पूरा लाभ नेपोलियन ने उठाया। लूई स्वयं बहुत योग्य कूटनीतिज्ञ था और **लिओन** की मदद से परराष्ट्र नीति का स्वयं संचालन करता था।

लूई की बढ़ती प्रतिष्ठा के कारण वर्साई पर फ्रांस ही नहीं सारे यूरोप की नजर रहती थी। फ्रांस की शान सब जगह चर्चित थी। फ्रांसीसी को इस पर थोड़ा गर्व भी होता था। लेकिन इस सब से वह स्वयं वंचित था। आज छोटा

बड़ा हर कोई टिकट खरीद कर वर्साई की सैर कर सकता है। उस समय वर्साई नगर में ही रहने वाले साधारण लोगों को प्रवेश नहीं मिल पाता था। सेवकों और परिचारकों को छोड़कर कोई भी गरीब आदमी राजधानी के ऐशो-आराम की झलक तक नहीं पा सकता था। राजधानी पेरिस में तो हर तरह की गतिविधि का पता चलता था। राजा और प्रजा की निकटता कम से कम भौतिक रूप से बनी हुई थी। अब तो राजा और राजधानी लोगों से हर तरह दूर हो गए। राजा जनता से कटा हुआ अपनी ही दुनिया में रहने लगा। यह दूरी शासन की दृष्टि से तो घातक थी ही। जनता को भी यह महसूस होने लगा कि राजा को उनसे केवल कर वसूलने से मतलब है। विशेष कर पेरिस के प्रबुद्ध लोग इससे बहुत क्षुब्ध हुए। धीरे-धीरे वर्साई के विरुद्ध जनमत बनने लगा और जब फ्रांस में क्रान्ति हुई तो जनता ने फौरन राजपरिवार और शासन को वर्साई छोड़ कर पेरिस आने पर मजबूर किया।

धार्मिक नीति : फ्रांस यूरोप का वह देश है जहाँ एक से एक क्रान्तिकारी विचारक पैदा हुए हैं। कभी-कभी तो शासन एकदम नास्तिक लोगों के हाथों में रहा है, लेकिन फ्रांस का बहुमत आज भी कैथोलिक है। दूसरी ओर कैथोलिक होते हुए भी फ्रांस ने पोप का प्रभुत्व पूरी तरह कभी नहीं स्वीकारा। रोम को हमेशा विदेश समझा गया और चर्च के हस्तक्षेप से फ्रांसीसी शासक बराबर कुढ़ते रहे। पुनर्जागरण के बाद की बढ़ती राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति के कारण पोप का हस्तक्षेप और बुरा लगने लगा। लूई जैसे निरंकुश शासक के लिए तो यह और भी अमान्य और अस्वीकार्य था कि किसी भी मामले में उसके अतिरिक्त कोई दखल रखे। फ्रांस के राष्ट्रीय चर्च (Gallican Church) का अपना अलग अस्तित्व था ही। यह सर्वथा लूई की नीतियों के अनुकूल था कि फ्रांस की जनता भी फ्रांस में रोम के प्रभाव से असन्तुष्ट हो।

उसे धर्म में कोई विशेष रुचि नहीं थी। उसका व्यक्तिगत जीवन तो परम्परागत मानदण्ड के अनुसार घोर अनैतिक था फिर भी वह पूरी तरह अधार्मिक नहीं था। वास्तव में जब से उसने महलों की प्रमुख परिचारिका **मादाम द मैंतनों** से विवाह किया, उसका धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप बढ़ गया। कुछ इतिहासकारों का यह मत है कि ऐसा मैंतनों के प्रभाव के कारण हुआ। फ्रांस की धार्मिक उथल-पुथल के लिए वही पूरी तरह जिम्मेदार थी ऐसा कहना मुश्किल है।

फ्रांसीसी चर्च पर किसका कितना अधिकार है इस प्रश्न को लेकर पोप और लूई में ठन गई। एक परम्परा 'रेगाल' (Regale) के अनुसार जब किसी बिशप का स्थान रिक्त रहता था तो इस क्षेत्र की आमदनी राजकोष में चली जाती थी। यह परम्परा जो दक्षिण फ्रांस में मान्य नहीं थी, वहाँ भी

लागू कर दी गई। कुछ बिशप लोगों ने इसका विरोध किया। पोप ने उनका पक्ष लिया और विरोध स्पष्ट हो गया। फ्रांस में हर वर्ग लूई के साथ था। यह एक राष्ट्रीय प्रश्न बन गया था। पोप लूई को धर्मच्युत तक करने की सोचने लगा। संघर्ष चलता रहा। अन्त में धर्म के अधिकारियों की एक सभा ने रेगाल के संदर्भ में लूई के पक्ष की पुष्टि कर दी और **बोसुए** के नेतृत्व में चार महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किये गए। इन प्रस्तावों के अनुसार कहा गया कि पोप का अधिकार केवल धार्मिक मामलों तक सीमित है और वह राजा को न च्युत कर सकता है, न उसके कार्यों में हस्तक्षेप कर सकता है। इसमें यह भी स्पष्ट किया गया कि चर्च की 'साधारण सभा' का अधिकार पोप से अधिक होता है और पोप को 'गैलिकन चर्च' की परम्पराओं और नियमों का उल्लंघन करने का कोई अधिकार नहीं है। अन्त में धर्म के क्षेत्र में पोप का अधिकार माना गया लेकिन उसकी राय अन्तिम और अपरिवर्तनीय नहीं मानी गई।

पोप इन शर्तों को कैसे मानता? ऐसा लगने लगा कि गैलिकन चर्च भी ऐंग्लिकन चर्च की तरह रोम से अलग हो जायेगा और जैसे इंग्लैण्ड में ट्यूडरवंश के शासक की सर्वोच्चता मानकर अलग एक राष्ट्रीय चर्च स्थापित कर लिया गया था वैसे ही फ्रांस में भी हो जायेगा। लेकिन दोनों ही पक्ष इस परिणति के लिए तैयार नहीं थे। 1691 में जब पोप बदला तो समझौता सम्भव हुआ। लूई ने चारों प्रस्ताव वापस ले लिये और पोप ने लूई द्वारा प्रस्तावित व्यक्तियों को धर्माधिकारी नियुक्त कर दिया। इस प्रकार पोप का सम्मान बचा रहा और राजा का फ्रेंच चर्च पर प्रभाव बढ़ गया।

धर्म के क्षेत्र में एकरूपता की तलाश में लूई यूगनो लोगों से भी टकरा गया। रिशलिउ ने जब से उनसे राजनैतिक अधिकार छीने थे, वे उद्योग और व्यवसाय में लग गए थे। ये लोग नौकरियों और व्यवसाय में अपने श्रम से धाक जमा चुके थे। फ्रांस की समृद्धि में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान था। सहिष्णुता की नीति अपनाने से सब का लाभ था लेकिन लूई तो हर कीमत पर एकरूपता लाने के लिए उतारू था। उसने एक के बाद दूसरा आदेश जारी किया और यूगनो लोगों का जीवन दूभर होता गया। अपने धर्म का पालन करने में उन्हें कठिनाई होने लगी। धर्म-परिवर्तन के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया जाने लगा। एक समिति बना दी गई जो प्रोटेस्टेण्ट लोगों को कैथोलिक बनाने के लिए हर तरह से सचेष्ट थी। जो इस कार्य में जितना मदद करता था उतना ही पुरस्कृत होता था। यूगनो लोगों को सरकारी नौकरियों से भी निकाल दिया गया। सात साल की उम्र में ही यूगनों माँ-बाप के बच्चे अपने को कैथोलिक घोषित कर सकते थे और इसके लिए उन्हें हर तरह का लालच दिया जाता था। बहुत सारे प्रोटेस्टेण्ट स्कूल और चर्च बन्द कर दिये गए। यूगनो को साम,

दाम और दण्ड तीनों ही तरह से कैथोलिक बनाने का प्रयास होने लगा। आतंक फैल गया। अन्त में ये लोग देश छोड़कर इंग्लैण्ड, हालैण्ड और जर्मनी भागने लगे। इनके पलायन पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। फिर भी लुकछिप कर हजारों लोग भागते रहे। अन्त में इन लोगों ने **सेवान्न** नामक स्थान पर विरोध प्रकट किया। इस प्रदर्शन के साथ लूई के सैनिकों ने वैसा ही व्यवहार किया जैसा जनरल डायर ने जलियाँवाला बाग में हजारों शान्तिपूर्ण स्त्री-पुरुष और बच्चों को गोली से भून कर किया था। लूई के सैनिकों ने प्रोटेस्टेण्ट नारियों और बच्चों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया। कुछ ने हार मानकर कैथोलिक होना स्वीकार कर लिया। लूई को बताया गया कि काम पूरा हो गया और उसने नाँत के अध्यादेश को रद्द कर दिया क्योंकि उसके ख्याल से अब न प्रोटेस्टेण्ट बचे थे न उनके प्रति सहिष्णुता की जरूरत थी। इतने आतंक के बावजूद लाखों लोग जान बचाकर भागने में सफल हो गए और हजारों फ्रांस में ही अपनी आस्था अपने मन में संजोये अच्छे दिनों के इन्तजार में घुटते रहे।

इस धर्मान्ध नीति की जिम्मेदारी कुछ इतिहासकार मादाम मैंतनों पर टालकर लूई को अपेक्षतया कम जिम्मेदार ठहराने की कोशिश करते हैं। पर यह सर्वथा अमान्य है। जिम्मेदारी पूरी तरह उसी की थी। विशेषकर इसलिए कि फ्रांस को यूगनो लोगों के दमन और पलायन से बहुत नुकसान हुआ। व्यवसाय और उद्योग को तो भारी नुकसान पहुँचा ही, ये कुशल नाविक विदेशों में जाकर फ्रांस के विरुद्ध लड़ने लगे। इस प्रकार इस नीति से आर्थिक और सैनिक रूप से फ्रांस कमजोर हुआ उसके दुश्मन पड़ौसी मजबूत हुए।

फ्रांस में कुछ ऐसे कैथोलिक थे जो चर्च की मूलभूत बातों को तो स्वीकार करते थे, लेकिन उसके आडम्बर और प्रचार को बेकार समझते थे। वे व्यक्तिगत पवित्रता को बहुत महत्त्व देते थे और इसीलिए उन्हें कैथोलिक चर्च में वही स्थान प्राप्त था जो आँग्ल चर्च में विशुद्धतावादी (Puritans) लोगों को प्राप्त था। **जांसां** नामक प्रोफेसर के इन अनुयायियों को **जांसांनिस्ट** कहते थे। इनके कट्टर विचार न तो चर्च को स्वीकार थे, न राजा को। लूई के समय इस आन्दोलन के नेता **आर्नो** नामक भाई-बहन थे। ये निरन्तर अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे। अन्त में सॉरबान विश्वविद्यालय ने इनके कुछ विचारों को धर्म विरोधी घोषित कर दिया और पोप ने भी इसकी पुष्टि कर दी। हार मान कर जांसांनिस्ट लोगों ने पोप का निर्णय स्वीकार किया, लेकिन उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि उनके विचारों को गलत ढंग से समझा गया है। लूई ने उनका भी पूरी तरह दमन शुरू कर दिया। यद्यपि उन्हें हिंसात्मक ढंग से नहीं दबाया गया जिस प्रकार यूगनो वर्ग को दबाया गया था, फिर भी उन्हें

परम्परागत कैथोलिक मत मानने के लिए मजबूर किया गया। आर्नो को फ्रांस छोड़कर भागना पड़ा। मरने से दो वर्ष पहले लूई ने एक आदेश द्वारा उनके सारे कार्यों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। उनका केन्द्र 'पोर रोय्याल' बंद कर दिया गया। फिर भी इन्हें पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सका।

लूई की धार्मिक नीति कट्टर थी लेकिन फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह धर्मान्ध था। उसके धर्म के नाम पर अतिशयवादी नीति अपनाने का कारण राजनैतिक था। वह एक तो अपनी सत्ता पर कोई अंकुश नहीं चाहता था, दूसरे फ्रांस को एकरूपता प्रदान करने के लिए कैथोलिक चर्च को एक माध्यम समझता था। यही कारण था कि उसने यूगनो और जांसांनिस्ट लोगों का भी दमन किया। यह सच है कि अन्तिम दिनों में वह मादाम मैंतनों जैसी कट्टर और धर्मान्ध महिला के प्रभाव में था, लेकिन उसकी नीतियों के लिए किसी और को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। यह एक बड़ी विडम्बना थी कि जब यूरोप के अन्य देश धर्मयुद्ध लड़ रहे थे तो हेनरी ने सहिष्णुता की नीति अपनाई थी और वेस्टफेलिया की सन्धि के बाद जब अन्य देशों में सहिष्णुता की नीति अपनाई जा रही थी तो फ्रांस में धर्म के नाम पर तरह-तरह के अत्याचार होने लगे थे।

वैदेशिक नीति : लूई जैसी प्रवृत्ति के व्यक्ति के लिए वैदेशिक सम्बन्धों में आक्रामक होना स्वाभाविक था। जब से बूर्बों वंश की स्थापना हुई थी, हर शासक ने फ्रांस को प्राकृतिक सीमा (Natural Frontiers) देने के लिए प्रयास किया था। दक्षिण में भूमध्यसागर और पश्चिम में अटलाण्टिकसागर फ्रांस की अपरिवर्तनीय सीमाएँ बनाते थे। लेकिन दक्षिण पश्चिम में पिरेनीज पहाड़ों तक के बहुत से क्षेत्रों पर फ्रांस की नजर थी ताकि पिरेनीज स्पेन और फ्रांस की सीमा बन जाये। इसी प्रकार आल्प्स पर्वत के पश्चिम के क्षेत्रों को भी फ्रांस हड़पना चाहता था। फ्रांस की उत्तरी सीमा पर कोई प्राकृतिक व्यवधान नहीं था। राइन नदी जर्मन क्षेत्र से बहती हुई हालैण्ड को चीरती हुई उत्तरी सागर में गिरती है। राइन नदी को फ्रांस की उत्तरी सीमा बनाने का मतलब था, हैप्सबर्ग परिवार के राज्यों से एक बहुत बड़ा हिस्सा छीनना। लूई इन सीमाओं के लिए कुछ भी करने को तैयार था।

दूसरी ओर सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में उस जैसा प्रतिभाशाली और कोई शासक नहीं था। फिलिप द्वितीय के बाद स्पेन पतनोन्मुख था। इटली विभाजित और कमजोर था। इंग्लैण्ड के स्टुअर्ट शासक कमजोर थे और पार्लियामेण्ट से निरन्तर संघर्षरत थे। लूई ने देखा कि इन सब पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो सकता है। पवित्र रोमन साम्राज्य में भी उसने महसूस किया कि एलेक्टर लोगों को वश में करके सम्राट् बना जा सकता

था। ऐसी हालत में सारे पश्चिमी यूरोप का वह एकछत्र शासक बन सकता था और **शार्लमन** जैसा शासक बनने का सम्मान पा सकता था।

उसकी यह महत्त्वाकांक्षा खोखली नहीं थी। कोल्बेर के सुधारों ने कुछ ही वर्षों में फ्रांस की आर्थिक स्थिति ठीक कर दी थी। उसकी शान बढ़ने लगी थी और सारा यूरोप उसकी ओर सम्मान की दृष्टि से देखने लगा था। **लुवुआ** और **बोवों** ने फ्रांस की सेना को ऐसी शक्ति दे दी थी कि वह किसी से भी लोहा लेने की बात सोच सकता था। इसके अलावा सभी इतिहासकार एक मत हैं कि वह अपने समय का सबसे बड़ा कूटनीतिज्ञ था। कूटनीति और सैनिक शक्ति के सहारे वह कमजोर और विघटित पड़ोसियों को नीचा दिखा सकता था।

कहते हैं कि सफलता से अधिक कुछ भी सफल नहीं होता। एक सफलता मिलने पर व्यक्ति दूसरी के लिए तत्पर हो जाता है। ज्यों-ज्यों लूई सफल होता गया त्यों-त्यों उसका घमण्ड और महत्त्वाकांक्षा बढ़ती गई। सबसे पहले उसने अपने लक्ष्यों का आभास तब दिया जब लन्दन में स्पेन और फ्रांस के दूतावासों में कहा-सुनी हो गई। उसने फ्रांस के राजदूतों को आदेश दिया कि वे कहीं भी साम्राज्य के दूतों के बाद प्रथम स्थान को ही स्वीकारें। इसका स्पष्ट मतलब था कि साम्राज्य के अलावा वह अन्य किसी भी राज्य को फ्रांस के बराबर दर्जा देने के लिए तैयार नहीं था। कुछ ही दिनों में उसकी योजनाएँ स्पष्ट हो गईं। अपने शासन में केवल शुरू के छः वर्ष वह शान्ति से रह सका। बाकी आधी शताब्दी तक वह निरन्तर युद्धरत रहा। शुरू की जीतों से उसके उद्देश्य का पता चलता गया और यूरोप के शासक सशंकित और संगठित होते गए। अन्त में लूई को हार और असम्मान भी उठाना पड़ा। लेकिन वह अपने उद्देश्य से हटने वाला नहीं था। इस प्रकार उसने कुल चार बड़े युद्ध किये। कभी जीता, कभी हारा। सारे लक्ष्य तो पूरे नहीं कर सका, पर फ्रांस की सीमाओं के विस्तार में वह अवश्य सफल हुआ।

डिवोल्यूशन का युद्ध : उसका पहला युद्ध जोर-आजमाइश का युद्ध था। वह जानना चाहता था कि उसकी शक्ति कितनी है और उसकी नीति के प्रति यूरोप के राज्य कैसा दृष्टिकोण अपनाते हैं।

युद्ध पर कोई आमादा हो तो बहाना मिल ही जाता है। शेर झरने के ऊपर बैठ कर भी नीचे पानी पीते मेमने पर पानी झूठा करने का आरोप लगा सकता है। सारे यूरोप में उत्तराधिकार के मामले में पुत्रों को वरीयता मिलती थी। लेकिन स्पेनी नीदरलैण्ड्स (बेल्जियम) के एक क्षेत्र में एक परम्परा थी कि यदि किसी की कई शादियाँ हों तो पहली शादी से हुई सन्तान को, भले ही वह लड़की हो, उत्तराधिकार में प्राथमिकता मिलती थी। यह क्षेत्रीय

परम्परा थी और केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति के मामले में लागू होती थी। लूई ने इसका बड़ा इस्तेमाल किया। स्पेन के शासक की पहली पत्नी से हुई लड़की उसकी पत्नी थी। इसलिए जब वह मरा तो अपनी पत्नी की ओर से उसने पूरे स्पेनी नीदरलैण्ड्स पर अपना हक बताया। अगर किसी से न्याय करने को कहा जाय तो वह लूई की दलील को हास्यास्पद मानेगा। लेकिन उसकी दलील के पीछे सैनिक शक्ति थी। उसने हमला कर शक्ति के बल पर कब्जा करना चाहा। यूरोप के अन्य राज्य अपनी समस्याओं में उलझे हुए थे। हालैण्ड, स्वीडन और अन्य कई प्रोटेस्टेण्ट राज्यों को उसने कूटनीति से तटस्थ बना लिया था। पतनोन्मुख स्पेन में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह लूई की विजयिनी सेनाओं को रोक सके। लूई की सेना जीतती चली गई।

उसकी जीत से उत्तर के राज्यों के कान खड़े हुए। उन्हें अपनी सुरक्षा खतरे में दिखाई पड़ी और एक अप्रत्याशित बात हो गई। हालैण्ड और इंग्लैण्ड ने, जो परस्पर लड़ रहे थे, आपस में समझौता कर लिया। स्वीडन, हालैण्ड और इंग्लैण्ड—तीन प्रोटेस्टेण्ट देशों ने मिलकर अब तक के अपने शत्रु कैथोलिक स्पेन की मदद करने के लिये त्रिगुट बना लिया। लूई समझ गया कि अब युद्ध रोक देना चाहिए। उसने 1668 में **ऐक्स-ला-शापेल** की सन्धि कर ली। सन्धि के द्वारा उसे फ्रांसकोंते का क्षेत्र लौटा देना पड़ा, लेकिन उत्तरी सीमा पर एक बहुत बड़ा भू-भाग फ्रांस को मिल गया। आज के फ्रांस के औद्योगिक नगर **लील्ल, तूर्नें** और **शार्लरुआ** इसी सन्धि की उपलब्धि हैं।

हालैण्ड से युद्ध : लूई को लगा था कि एक बहुत बड़ी विजय से उसे वंचित कर दिया गया। उसकी भूख बढ़ गई। उसने हालैण्ड को ही जिम्मेदार ठहराया क्योंकि यदि हालैण्ड ने पहल करके उसके विरुद्ध संगठन न बनाया होता तो उसका विश्वास था कि उसकी जीत पूरी होती। इसके अलावा वैसे भी हालैण्ड की प्रगति से सभी पड़ौसी ईर्ष्यालु थे। हालैण्ड का व्यापार तेजी से बढ़ रहा था और अन्य देशों के लोग भी—जैसे फ्रांस के सताये हुए यूगनो, वहाँ आकर बसने लगे थे। ऐसी स्थिति में हालैण्ड को नीचा दिखाना लूई ने आवश्यक समझा।

इस बार भी लड़ाई कूटनीति से शुरू हुई। लूई ने पहले त्रिगुट को तोड़ा। इंग्लैण्ड के कमजोर शासक चार्ल्स को उसने खरीद लिया। स्वीडन भी धन पाकर अलग हो गया। हालैण्ड में आन्तरिक संघर्ष चल रहा था कि वह राजतन्त्र हो या गणतन्त्र। लूई ने तभी प्रहार किया।

लूई ने स्वय नेतृत्व किया। **कोंदे, त्यूरेन** और **लक्जेमबर्ग** के नेतृत्व में तीन सेनाओं ने हमला किया। फ्रांस की सेनाएँ जीतती चली गईं। हताश डच लोगों ने अपने परम्परागत अन्तिम अस्त्र का इस्तेमाल किया। बाँध काट

दिये गये और देश के बहुतेरे क्षेत्र तबाह होने लगे। इसी बीच आरेंज परिवार के **विलियम** ने भी कूटनीति से काम लिया। उसने आस्ट्रिया, ब्रैण्डेनबर्ग और स्पेन से सन्धि कर ली। इंग्लैण्ड की प्रोटेस्टेण्ट पार्लियामेण्ट ने भी शासक की मर्जी के विरुद्ध हालैण्ड की मदद करने का निर्णय लिया। अब हालैण्ड अकेला नहीं था। लूई की जीत भी निर्बाध सम्भव नहीं थी। त्यूरेन मारा जा चुका था। इसलिए थक कर एक बार फिर सन्धि का निर्णय लिया गया।

1678 में मिजमेगेन की सन्धि हो गई। फ्रांस की सीमा राइन की ओर कुछ और खिसकी। फ्रांसकोंते उसे मिल गया लेकिन न तो वह डच लोगों को सबक सिखा सका, न वे सारे क्षेत्र ही पा सका जिन पर उसकी नजर थी। वह विजय को जितना आसान समझता था उतनी आसानी से विजय मिल नहीं रही थी। आर्थिक स्थिति खराब होने लगी थी। ऐसी स्थिति में उसने युद्ध तो बन्द नहीं किये लेकिन बाद के युद्धों में उसे इतनी भी सफलता नहीं मिली। इसीलिए इस सन्धि को ही उसकी शक्ति का चरमोत्कर्ष कह सकते हैं। अब तक वह आक्रामक लड़ाइयाँ लड़ता रहा था, उसकी सेनाएँ जीतती रही थीं। बाद में तो उसे रक्षात्मक युद्ध भी करने पड़े और फ्रांस की सेनाएँ हारीं भी।

ऑग्सबर्ग की लीग से युद्ध : दस वर्षों तक वह एक ऐसे युद्ध में फंसा रहा जिसमें सेनाएँ नहीं उसकी कुटिल बुद्धि रत थी। वेस्टफेलिया, ऐक्स-ला-शापेल और मिजमेगेन की सन्धियों से फ्रांस को उत्तरी-पूर्वी और पूर्वी सीमाओं पर कई नगर और क्षेत्र प्राप्त हुए थे। इनके साथ के क्षेत्रों पर भी वह कब्जा करना चाहता था। यह देखने के बहाने कि इन सन्धियों की शर्तें किस हद तक लागू की गई हैं उसने इस सम्बन्ध में निर्णय देने के लिए न्यायालय शांब्र द रेयूनिओं (Chambres de Reunion) संगठित किये। ये न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय या निष्पक्ष न्यायालय नहीं थे। लूई की आज्ञा से लूई के कर्मचारी लूई के राज्य के बारे में फैसला करते थे। फैसला क्या होता यह पहले से तय था। एक के बाद एक क्षेत्र के बारे में फैसला होता गया और इन पर फ्रेंच सेनाएं कब्जा करती चली गईं। स्त्रासबुर्ग, लुक्सेमबुर्ग जैसे बीसों नगरों पर फ्रांस का अधिकार हो गया।

सम्राट् बनने की लालसा पूरी करने की दिशा में वह लगातार बढ़ रहा था। लेकिन उसके दुर्भाग्य से सम्राट् का पद 1705 में खाली हुआ। तब तक वह बूढ़ा और कमजोर हो चुका था। यूरोप के सभी राज्य आतंकित हो गए। लूई अपनी धार्मिक नीतियों के कारण एक तरफ पोप को नाराज कर चुका था दूसरी ओर यूगनो लोगों को समाप्त करने की नीति के कारण प्रोटेस्टेण्ट देश नाराज थे। ऐसी स्थिति में हालैण्ड के विलियम ने जर्मनी के

प्रोटेस्टेण्ट राज्यों, स्वीडन, स्पेन और आस्ट्रिया को ऑग्सबर्ग की लीग के नाम से संगठित किया। इंग्लैण्ड के अलावा यूरोप के सभी प्रमुख राज्य इसमें शामिल थे।

युद्ध की शुरूआत पैलेटिनेट और कोलोन के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर हुई। दोनों ही स्थानों पर लूई ने फ्रांस का दावा प्रस्तुत किया। मामला पोप की मध्यस्थता के लिए सुपुर्द हुआ। फैसला जब लूई के विरुद्ध हुआ तो उसने सम्राट् पर आरोप लगाया। इसी बीच 1688 में इंग्लैण्ड में राजा और पार्लियामेण्ट के संघर्ष की परिणति यह हुई कि हालैण्ड के विलियम को इंग्लैण्ड का शासक बनने का निमन्त्रण दिया गया। लूई चाहता तो ऐसा नहीं होने दे सकता था। लेकिन उसने गलत हिसाब लगाया। वह समझता था कि विलियम इंग्लैण्ड में सफल नहीं हो सकेगा, हुआ उल्टा। विलियम इंग्लैण्ड का राजा हो गया और अब लूई का विरोध करने में और समर्थ हो गया।

लूई ने पैलेटिनेट पर हमला किया। उसे आंशिक सफलता भी मिली लेकिन कई मोर्चों पर लड़ना था। जब उसे सेना वापस बुलानी पड़ी तो उसने पूरे क्षेत्र को नष्ट कर देने की आज्ञा दे दी। ऐसा विनाश हुआ कि तीस वर्षीय युद्ध की याद ताजा हो गई। इंग्लैण्ड से भागे जेम्स की मदद के लिए लूई की सेना आयरलैण्ड में भी युद्धरत थी। फ्रांस को कई महत्त्वपूर्ण सफलताएँ मिलीं। फ्रांसीसी नौसेना ने इंग्लैण्ड और हालैण्ड की मिली-जुली नौसेना को परास्त किया। लेकिन इंग्लैण्ड पर हमला नहीं हो सका। दक्षिण पूर्व में खूबसूरत नगर नीस पर भी फ्रांस का कब्जा हो गया।

लेकिन इन लाभों को लूई स्थायित्व नहीं प्रदान कर सका। पासा पलटने लगा। इंग्लैण्ड पर हमले की योजना बनती ही रह गई और इंग्लैण्ड ने अपनी हार का बदला ले लिया। नीदरलैण्ड्स में भी उसकी सेनाओं की प्रगति रुक गई। कोल्बेर की मृत्यु के बाद फ्रांस की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी थी। युद्ध के लिए धन जुटाना मुश्किल हो रहा था। युद्ध को बढ़ाने की किसी में क्षमता नहीं बची थी और न कोई जीतने की स्थिति में था। अन्त में सन्धि की तैयारी होने लगी। 1697 में **रिजविक** नामक स्थान पर एक सन्धि हो गई। सवाय के जो भी क्षेत्र जीते गए थे वे वापस करने पड़े। अल्सास और स्त्रासबुर्ग के अलावा सारे जीते हुए क्षेत्र छोड़ने पड़े। विलियम को इंग्लैण्ड के शासक के रूप में मान्यता मिल गई और लूई ने जेम्स या उसके वंशजों की कोई मदद न करने का वायदा किया।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि इस सन्धि ने साबित कर दिया कि लूई के अच्छे दिन बीत चुके थे। इतने धन-जन के नुकसान के बाद भी वह अपनी विजयों को कायम न रख सका। उसके लिए सबसे बड़े असम्मान की बात तो

यह थी कि उसका सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी विलियम अब इंग्लैण्ड का शासक था और इसे लूई को मानना पड़ा था। यह स्पष्ट हो चुका था कि अब लूई की विस्तारवादी नीति सफल नहीं हो सकेगी, लेकिन अभी लूई की शक्ति बनी हुई थी। उसकी सेनाओं को अभी भारी हार नहीं खानी पड़ी थी। अभी भी उसकी दुर्दम्य महत्त्वाकांक्षा शान्त या पराजित नहीं हुई थी। मौका आने पर वह फिर एक बार कोशिश करने को तत्पर था। शीघ्र ही घटनाओं ने एक और मौका दे दिया।

स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध : स्पेन के उत्तराधिकार का प्रश्न एक बीमार और निःसन्तान धनी के उत्तराधिकार जैसा प्रश्न था। जैसे किसी ऐसे धनी के बहुत से रिश्तेदार निकल आते हैं। बहुतेरे उसके सलाहकार बन जाते हैं। लगातार उनकी गीध दृष्टि उसकी जायदाद पर लगी रहती है। इन्तजार होता है कि वह कब मरे। उसी प्रकार स्पेन जैसे राज्य के, जिसके उपनिवेश दूर-दराज तक फैले हुए थे, शासक चार्ल्स द्वितीय के मरने से पहले ही सारे यूरोप के दरबारों में उत्तराधिकार की चर्चा होने लगी थी।

स्पेन का शासक तो निःसन्तान था लेकिन इसकी दो बहनों का विवाह लूई और बवेरिया के शासक मैक्सीमिल्यिन से हुआ था। इन दोनों ने अलग-अलग कारणों से विवाह के समय ही उत्तराधिकार का हक छोड़ने की बात मान ली थी। लेकिन अब लूई का पौत्र आंजू और मैक्सीमिलियन का पुत्र फर्डिनेण्ड स्पेन के नजदीक के और सीधे उत्तराधिकारी थे। रिश्ता एक पुश्त और पीछे से जोड़ा जाता तो सम्राट् लेओपोल्ड के पुत्र का भी हक बनता था। इस प्रकार स्पेन के राज्य के दो बड़े, लूई और सम्राट् लेओपोल्ड तथा एक छोटा बवेरिया का शासक दावेदार थे। लेकिन लूई ने ही जिसने हमेशा स्पेन के विरुद्ध लड़ाई की थी अपनी कूटनीतिक प्रतिभा के कारण स्पेन के शासक और प्रजा का स्नेह जीता था।

प्रश्न परिवार या रिश्तेदारों तक ही सीमित नहीं था। सारा पश्चिमी यूरोप अन्तिम निर्णय में दिलचस्पी रखता था। लूई या लेओपोल्ड के परिवार में यदि स्पेन जैसा विशाल राज्य चला जाता तो सारा शक्ति सतुलन बिगड़ जाता। इनमें से जिसे भी इतने साधन मिल जाते सारे यूरोप पर उसका हावी हो जाना निश्चित था। इसे यूरोप के छोटे लेकिन उन्नतिशील देश जैसे इंग्लैण्ड और हालैण्ड कभी पसन्द नहीं करते। स्पेन के उपनिवेशों से आये धन की भी खूब लूट मचती थी। स्पेन का शासन ठीक हो जाने पर यह सम्भावना भी कम हो जाती। स्पेनी उपनिवेशों से व्यापार की निस्सीम सम्भावना के कारण भी इसमें दिलचस्पी थी। इसलिए भी ज्यादातर देश यह चाहते थे कि स्पेन बवेरिया के परिवार में चला जाय। लेकिन दो बड़े और

शक्तिशाली दावेदार दूसरों का या पूरे यूरोप का हित ध्यान में रखकर क्यों अपना हक मारते ? नतीजा यह हुआ कि स्पेन के बीमार शासक को मरने से पहले ही अपनी मृत्यु स्वीकार करके बाद के इन्तजाम के बारे में सोचना पड़ता था।

यह तय था कि जो भी होगा वह शान्तिपूर्ण ढंग से नहीं हो सकेगा। लूई को पूर्वाभास था। उसने पहले सम्राट् से स्पेन के राज्य का विभाजन करने की योजना बनाई फिर इंग्लैण्ड के शासक से अपनी पुरानी दुश्मनी ताक पर रख कर इस विषय में समझौता वार्ता शुरू कर दी। इसी बीच तीसरा दावेदार फर्डिनेण्ड मर चुका था। अब तो सीधे दो बड़ी ताकतों के बीच का सवाल था। जिसका राज्य था उसे पता ही नहीं था और दूसरे अपनी-अपनी रिश्तेदारी के बल पर उसका राज्य आपस में बांट खाने की सन्धियां कर रहे थे। जब उसे इस षड्यन्त्र का आभास मिला तो वह बहुत खिन्न हुआ। उसने वसीयत कर दी कि पूरा राज्य लूई के पौत्र आंजू को मिले। यदि वह किन्हीं कारणों से न पा सके तो पूरा का पूरा राज्य आर्चड्यूक चार्ल्स को मिल जाय। वसीयत के कुछ ही दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गई।

लूई ने राज्य के विभाजन की विभिन्न योजनाएं बनाई थीं क्योंकि उसे विश्वास नहीं था कि पूरा राज्य उसे मिल सकेगा। अब उसे वैधानिक रूप से पूरा राज्य मिल गया था। लेकिन उन समझौतों का क्या हो जो उसने स्वयं यूरोप के अन्य राज्यों के साथ किये थे ? लूई जैसे व्यक्ति के लिए किसी नैतिक बन्धन का कोई महत्त्व नहीं था। स्पेन का एक दूत वसीयत की खबर लेकर फ्रांस आया और लूई ने आंजू को फौरन स्पेन की राजधानी भेज दिया और घोषित कर दिया कि 'पिरेनीज़ का अब कोई अस्तित्व नहीं रहा'—(The Pyrannes no longer exist)। उसका मतलब था कि पिरेनीज़ पहाड़ों के दोनों ओर उसी के परिवार का राज्य होने से अब सीमा के रूप में उनका कोई महत्त्व नहीं रहा।

वैधानिकता लूई के पक्ष में थी और सम्भव था कि वसीयत के कारण यूरोप के अन्य राज्य चाह कर भी कोई विरोध न कर पाते। लेकिन लूई का मन बढ़ गया था। उसने बढ़-बढ़ कर बातें करनी शुरू कीं, पुराने समझौते तोड़ने शुरू किये और ऐसा आभास देने लगा कि फ्रांस और स्पेन का सम्मिलित राज्य यूरोप में सर्वशक्तिशाली होकर रहेगा। उसने ऐसी योजना बनाई कि उसके बाद आंजू भी फ्रांस का राजा हो सके, इस प्रकार दोनों राज्य एक हो जाएं। रिजविक की सन्धि में उसने विलियम को इंग्लैण्ड का राजा मान कर स्टुअर्ट वंश को कोई समर्थन न देने की बात स्वीकार कर ली थी। लेकिन पदच्युत जेम्स के मरते ही उसके पुत्र को लूई ने इंग्लैण्ड का वास्तविक राजा

मान लिया। सीमाओं पर भी उसने सन्धि विरोधी कार्य करने शुरू किये। यूरोप भर में यह बात स्पष्ट हो गई कि लूई अन्तिम बार फ्रांस को सबसे शक्तिशाली बनाने के लिए पुराने सारे समझौतों का उल्लंघन करेगा।

इंग्लैण्ड में हर दल लूई की नीतियों के विरोध में अपने राजा के साथ था। जैसे ही इस आकस्मिक परिवर्तन के आघात से राहत मिली, कूटनीतिक गतिविधि बढ़ गई। विलियम ने सम्राट् से मिलकर 1701 में एक महासंघ बनाया, जिसमें नीदरलैण्ड्स, इंग्लैण्ड और प्रमुख जर्मन शासक शामिल थे। बाद में पुर्तगाल और सवाय भी इसमें सम्मिलित हो गए। इस संघ ने निश्चित किया कि हो सके तो इटली और नीदरलैण्ड्स के स्पेनी राज्य सम्राट् को और उपनिवेशों से व्यापार करने का अधिकार सारे सामुद्रिक देशों को दिलाने का प्रयास होगा—सम्भव हुआ तो समझौते द्वारा नहीं तो युद्ध के माध्यम से भी। युद्ध शुरू होने के पहले ही इंग्लैण्ड का शासक विलियम और लूई का सबसे प्रमुख और पुराना प्रतिद्वन्द्वी मर गया लेकिन इससे संघ की योजनाओं पर कोई असर नहीं हुआ।

युद्ध 1702 में शुरू हुआ और बारह वर्षों तक चलता रहा। इस बार यद्यपि लूई की व्यक्तिगत क्षमता ह्रासोन्मुख थी, साधनों की दृष्टि से वह अधिक सम्पन्न था। यद्यपि अब त्यूरेन और कोंदे जैसे विजेता नहीं बचे थे फिर भी फ्रांसीसी सैनिकों की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण थी। वह स्पेन और फ्रांस के साधनों का एक साथ सुनियोजित ढंग से इस्तेमाल कर सकता था। दूसरी ओर संघ के सदस्य एकमत नहीं थे। सभी के अलग-अलग स्वार्थ थे। स्पेन का राज्य अकेले लूई हड़प जाय इससे उनका विरोध था लेकिन उससे छीनकर कौन कितना हड़पे इसमें सहमति नहीं थी। इस तरह वे एक होकर मुकाबला नहीं कर सकते थे। लेकिन कुछ बातें उनके पक्ष में भी थीं। इनकी नाविक शक्ति बेहतर थी। साधनों के क्षेत्र में भी इनका मिला-जुला सहयोग भारी पड़ सकता था। जहाँ फ्रांस में सेनापतियों की कमी थी, संघ को इंग्लैण्ड के **मार्लबरो** और सवाय के **इउजीन** जैसे प्रतिभाशाली सेनापति मिल गए थे। इन दोनों सेनापतियों ने परस्पर ईर्ष्या के स्थान पर परस्पर सहयोग और समन्वय से काम लेकर निर्णायक भूमिका अदा की।

तीस वर्षीय युद्ध भी इतना भयानक नहीं साबित हुआ था। इस युद्ध ने तो विश्वव्यापी रूप धारण कर लिया क्योंकि जहाँ जहाँ युद्ध में सम्मिलित देशों के उपनिवेश थे वहाँ वहाँ इसका प्रभाव पड़ा। इस युद्ध के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। पहली महत्त्वपूर्ण लड़ाई ब्लेन हाइम में हुई जब फ्रांसीसियों से वियेना की रक्षा करने के लिए मार्लबरो ने अद्भुत शौर्य का परिचय दिया। जर्मनी को चीरता हुआ वह समय पर पहुँच गया। उसने और

इउजीन ने फ्रांस की सेना को काट फेंका। कुछ ही दिनों बाद मार्लबरो ने नीदरलैण्ड्स में और इउजीन ने इटली में फ्रांसीसी सेना को पराजित किया। संघ की सेनाएँ स्पेन में घुसकर मैड्रिड पर कब्जा करने में सफल हो गईं। लूई समझौते के लिए तैयार हो गया। फ्रांस और स्पेन की जनता भी उसके पक्ष में पूरा समर्थन करने लगी। संघ की सेनाएँ सीधे फ्रांस की ओर बढ़ सकती थीं लेकिन कुछ अप्रत्याशित घटनाओं ने हवा का रुख बदल दिया।

इंग्लैण्ड में मन्त्रिमण्डल बदल गया। टोरी दल के मन्त्री हर कीमत पर शान्ति के पक्ष में थे। इसलिए मार्लबरो के हाथ कट गए। दूसरी घटना और महत्त्वपूर्ण थी। संघ चार्ल्स को नीदरलैण्ड्स और इटली के राज्य दिलाने के पक्ष में था। 1711 में सम्राट जोसेफ के मरने पर चार्ल्स ही सम्राट् चुन लिया गया। अब यदि उसे स्पेन के कुछ राज्य भी मिल जाते तो उसकी शक्ति बहुत बढ़ जाती और यूरोप में शक्ति का संतुलन फिर बिगड़ जाता। अब लूई बहुत शक्तिशाली हो गया था। बाद में चार्ल्स की वही स्थिति हो जाती। इसलिए संघ में फूट पड़ गई। इंग्लैण्ड और हालैण्ड का उत्साह कम हो गया। और वे अब एक समझौते के पक्ष में हो गए। लूई भी बूढ़ा हो चला था। उसकी शक्ति क्षीण हो चली थी। फ्रांस की लगातार हार ने उसके मंसूबे तोड़ दिये थे। अन्त में सन्धि वार्ता शुरू हुई और 1713 में यूटरेक्ट की सन्धि हो गई। आस्ट्रिया इसमें सम्मिलित नहीं था लेकिन साल भर बाद उसने भी यूटरेक्ट की शर्तें मान लीं।

यूटरेक्ट की सन्धि : जैसे लूट का बँटवारा हो रहा हो, सभी अपने लिए कुछ पाना चाहते थे। स्पेन के राज्य का विभाजन कर दिया गया। आंजू को स्पेन का राजा स्वीकार कर लिया गया लेकिन इस शर्त पर कि फ्रांस और स्पेन के राज्य हमेशा अलग रहेंगे। सम्राट् को नेपल्स और मिलान, सार्डीनिया तथा नीदरलैण्ड्स दे दिये गए। हालैण्ड को सीमा के कुछ क्षेत्र मिले ताकि वह फ्रांस के विरुद्ध मजबूत हो सके। स्केल्ट नदी के व्यापार पर उसका एकाधिकार स्वीकार किया गया। इंग्लैण्ड ने हालैण्ड की सुरक्षा का वचन दिया। इंग्लैण्ड की कभी यूरोप में राज्य-विस्तार में रुचि नहीं रही। उसे केवल भूमध्यसागर के द्वार पर स्थित छोटा सा टापू **जिब्राल्टर और मिनोरका** दे दिया गया। अमेरिका में उसे **नोवा स्कोशिया और हडसन की खाड़ी** के क्षेत्र प्राप्त हुए। सवाय के ड्यूक की पदवी 'राजा' स्वीकार कर ली गई और उसे सिसली का टापू भी मिला। इंग्लैण्ड में स्टुअर्ट वंश के बाद जो परिवर्तन हुए थे वे मान्य करार दिये गए। स्टुअर्ट वंश के लोगों को फ्रांस छोड़ देने की आज्ञा दे दी गई ताकि वे इंग्लैण्ड का सिंहासन पाने के लिए षड्यन्त्र न करें। उसे हब्शियों का व्यापार करने की तीस वर्षों के लिए छूट दी गई और साल में एक व्यापारी

जहाज अमेरिका के स्पेनी उपनिवेशों में भेजने की स्वीकृति मिल गई। ब्रेण्डेन-बर्ग की रियासत को एक राज्य—प्रशा—के रूप में स्वीकार कर लिया गया। फ्रांस की सीमाओं में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया।

इस सन्धि की समीक्षा करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि इस सन्धि ने शक्ति का संतुलन बनाए रखने का ही प्रयास किया। यद्यपि फ्रांस का शासक लूई इस उत्तराधिकार के युद्ध में हताश हो गया था, उसकी शक्ति जर्जर हो गई थी, और उसे कोई लाभ नहीं बल्कि नुकसान ही हुआ था, फ्रांस के सम्मान में कमी नहीं आई। लूई भले ही कमजोर हुआ हो बूर्बों परिवार का प्रभाव बढ़ा ही था। सन्धि की शर्तों के बावजूद स्पेन और फ्रांस के शासक एक ही परिवार के होने के कारण एक-जैसी नीति अपनाकर सहयोग करते रहे।

हैप्सबर्ग परिवार के हाथ से स्पेन अवश्य निकल गया लेकिन उसकी शक्ति बनी रही। सवाय और ब्रेण्डेनबर्ग अवसर पा राज्य बन गए। दोनों ही ने बाद में ऐतिहासिक काय किए। उन्नीसवीं शताब्दी में सवाय के नेतृत्व में इटली और प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण सम्पन्न हुआ।

सबसे अधिक लाभ इंग्लैण्ड को हुआ। क्षेत्रीय दृष्टि से कम दिखने वाला लाभ सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साबित हुआ। अमेरिका में मिले क्षेत्रों का विस्तार हुआ और अधिकांश उत्तरी-पूर्वी अमेरिका पर इंग्लैण्ड का कब्जा हो गया। जिब्राल्टर पर कब्जा होने के कारण इंग्लैण्ड का पूरे भूमध्य-सागर पर नियन्त्रण हो गया। अब तक हालैण्ड से प्रतिद्वन्द्विता थी लेकिन अब निर्विवाद रूप से इंग्लैण्ड की नाविक शक्ति सबसे अधिक हो गई। हब्शियों के व्यापार में इंग्लैण्ड को बहुत लाभ पहुँचा।

इस सन्धि में कुछ विचित्र बातें भी हुईं। संघ ने चार्ल्स का पक्ष लेकर युद्ध शुरू किया था, पर सन्धि में उन्होंने आंजू को मान्यता दे दी। युद्ध लड़ा था इंग्लैण्ड की ह्विग पार्टी ने लेकिन सन्धि में इंग्लैण्ड के हितों की रक्षा करने का श्रेय टोरी दल को मिला। स्पेन में काटालन प्रदेश के लोगों ने चार्ल्स का समर्थन किया था लेकिन उन्हें आंजू को सौंप दिया गया जिसने उन से खुल कर बदला लिया।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि स्पेन के उत्तराधिकार ने यूरोप में जो शक्ति की समस्या पैदा कर दी थी उसका यथासम्भव ठीक हल निकाला गया। आने वाली शताब्दी में यूरोप की व्यवस्था का आधार यूटरेक्ट की सन्धि रही। लूई की महत्त्वाकांक्षाओं की असफलता और इंग्लैण्ड की सफलता की भी यह सन्धि साक्षी थी। एक युग जैसे इसके साथ बीत गया। सम्बन्धों का आयाम विस्तृत हो गया। अब सारी दुनिया की बात सोची जाने लगी और यूरोप के उपनिवेश अमेरिका से एशिया तक बनने लगे।

लूई का मूल्यांकन : यूटरेक्ट की सन्धि के दो वर्षों के बाद ही लूई की मृत्यु हो गई। उसने आधा शताब्दी से अधिक तक राज्य किया और फ्रांस के ही नहीं सारे यूरोप के जीवन को पूरी तरह झकझोर डाला। लेकिन शायद उसकी प्रजा निश्चित न कर पाई हो कि वह अपने सूरज जैसे राजा के अस्त होने पर खुश हो या उदास। उसने फ्रांस को गौरव दिया था, उसकी सीमाओं का विस्तार किया था और यह फ्रांसीसी चरित्र को सन्तुष्ट करने के लिए पर्याप्त था, किन्तु उसने देश को जर्जर कर दिया था। ऊपरी चमक-दमक के नीचे खोखली अर्थ-व्यवस्था लड़खड़ा रही थी। मध्यवर्ग, जिसने बूर्बों वंश का बराबर साथ दिया था, असन्तुष्ट हो चला था। ऐसी गम्भीर अवस्था में देश कैसे खुश रहता ?

लूई स्वयं केवल एक दो बातों में असाधारण था। कूटनीति का वह पारंगत था। उसकी चालों से सारा यूरोप चकित रह जाता था और कभी-कभी उसने शब्दों से वह कर लिया जो सेनाएँ भी नहीं कर पातीं। स्पेन से जीवन भर की दुश्मनी के बाद भी उसने जिस प्रकार वहां अपना प्रभाव बनाये रखा वह साधारण शासक नहीं कर सकता था। दूसरे जितना उसने सिंहासन का सम्मान बढ़ाया उतना शायद ही किसी राजा ने किया हो। उसने वर्साई को सारे यूरोपीय दर्शकों के लिये एक मंच बना दिया। जहां के हर अभिनय का उनके जीवन पर असर पड़ता था। हर शासक अपनी सीमाओं में अपने लिए एक वर्साई का निर्माण करने लगा। उसके समय में वर्साई उस मन्दिर की तरह था जिसका वह स्वयं देवता हो। मन्दिर की ही तरह दरबार की हर बात नियमित और नियन्त्रित थी। आचार-व्यवहार से लोग अधिक सम्भ्रान्त और सुसभ्य हो गए, भले ही इससे कृत्रिमता ही बढ़ी।

वह श्रम करने से नहीं घबड़ाता था और दूसरों से भी मेहनत करवाता था। योग्य व्यक्तियों पर उसकी नजर आसानी से पड़ती थी, लेकिन उसके अहम् के आगे अन्य किसी प्रतिभा को पूरा अवसर ही नहीं मिलता था। उसके दरबार का जो चित्र सैंसीमों ने प्रस्तुत किया है उससे वहां की भ्रष्टता, षड्यन्त्र, चापलूसी और विलासीपन का पता चलता है। यह सच है कि साहित्य और कला को संरक्षण देकर उसने सांस्कृतिक वातावरण को बेहतर बनाया, लेकिन सब कुछ दरबार और एक वर्ग विशेष तक सीमित था।

उसकी नीतियां पूरी तरह जनविरोधी थीं। कोल्बेर के जीवन में किसी हद तक साधारण लोगों का भी भला हुआ लेकिन बाद में तो कृषि और उद्योग पूरी तरह उपेक्षित रहे। राज्य के खर्चों में कोई कमी नहीं आई और सही आमदनी न होने से कर्ज बढ़ते गये। लूई का जीवन वर्साई तक सीमित हो गया। उसे पता भी नहीं रहता था कि उसके राज्य में क्या हो रहा है।

उसकी स्वेच्छाचारिता इतनी बढ़ गई कि राज्य की सारी राजनैतिक कार्यवाही का केन्द्र वह स्वयं बन गया। नगरों और प्रान्तों की प्रतिनिधि सभा को कौन कहे, स्टेट्स जनरल तक का कभी इस्तेमाल नहीं हुआ। राजनैतिक जिम्मेदारी समाप्त सी हो गई और प्रशासन भ्रष्ट होता चला गया।

उसकी धार्मिक नीति तो पूरी तरह इतिहास-क्रम की विरोधी थी। वेस्टफेलिया की सन्धि के बाद ज्यादातर देशों में शासक सहिष्णु हो गए थे। इस संदर्भ में फ्रांस का शासक हेनरी वेस्टफेलिया के पहले ही नांत के आदेश द्वारा एक पहलकदमी कर चुका था। लेकिन लूई ने पोप और प्रोटेस्टेण्ट दोनों ही से झगड़ा मोल लिया और धर्म के नाम पर जो दमन उसने किया वह उस समय बेमिसाल था। इससे न केवल देश में अशान्ति फैली, फ्रांस का दीर्घकालीन नुकसान हुआ। फ्रांस में यूगनो समाज के सबसे प्रगतिशील और अध्यवसायी लोग थे। उद्योग, व्यवसाय और नौकरियों में उन्होंने कीर्तिमान स्थापित किया था। हजारों की संख्या में उनके बाहर चले जाने से फ्रांस की अर्थव्यवस्था को बहुत क्षति पहुँची।

वह कर्मचारियों से तो काम ले लेता था लेकिन किसी वर्ग का सही इस्तेमाल करना उसे नहीं आया। न तो वह पादरियों का इस्तेमाल कर सका, न सामन्तों का। सामन्त समाज के लोग, उसी की तरह खर्चीले बोझ बन गए। वह स्वयं तो कुछ करता भी था, सामन्त तो पूरी तरह अकर्मण्य हो गए। मध्यवर्ग से समझौता करके ही सल्ली से कोल्बेर तक के प्रशासकों ने फ्रांस के हितों को आगे बढ़ाया था। लेकिन लूई इस दिशा में असफल रहा।

अपनी महिमा के अनुकूल ही उसने जो आक्रामक नीति अपनाई थी वह बहुत महंगी साबित हुई। यह सच है कि फ्रांस की सीमाएँ बढ़ीं लेकिन बहुत बड़ी कीमत चुका कर। उसने उपनिवेशों का महत्त्व नहीं समझा। इस क्षेत्र में फ्रांस को इंग्लैण्ड के मुकाबले में बराबर नुकसान उठाना पड़ा और कोल्बेर की दूरदर्शिता ने जो योजना शुरू की थी वह न केवल अधूरी रह गई, उस पर विशेष ध्यान ही नहीं दिया गया।

इस प्रकार अन्त में हम यह कह सकते हैं कि उसने भले ही अपने को राज्य की प्रतिमूर्ति करार दिया हो, भले ही उसके पादरी उसे 'धरती पर ईश्वर का स्वरूप' कहते हों, उसके कार्यों और उसके आचरण में कुछ भी ऐसा नहीं था जो उसे इतिहास-पुरुष बनाता। पुनर्जागरण के बाद जो राष्ट्रीय प्रतिभा उद्वेलित हुई थी उसका उसे लाभ अवश्य पहुँचा। लेकिन इंग्लैण्ड की एलिजाबेथ की तरह फ्रांस के स्थायी हितों पर उसने विशेष ध्यान नहीं दिया। मरने से पहले उसने अपने उत्तराधिकारी से कहा था, 'मेरी गलतियाँ न दुहराना। प्रजा के हित में काम करना। ईश्वर को ध्यान में रखना और

पड़ोसियों से युद्ध की नीति न अपनाना। हमेशा ऐसे लोगों की सलाह मानना जो बुद्धिमान् और समझदार हों।' इस प्रकार उसने अपने जीवन के सारे कार्यों को नकार दिया था। इससे कठोर आत्मलोचना हो नहीं सकती थी। लेकिन काश उसने यही पहले किया होता। कुछ इतिहासकारों का यह मत है कि 'वह महान् व्यक्ति हो या न हो महान् राजा अवश्य था।' यह बात भी एक सीमा तक ही स्वीकार की जा सकती है। राजा की चमक-दमक में वह अद्वितीय अवश्य था लेकिन राजा केवल राज्य की शोभा नहीं बढ़ाता, उस शोभा का स्थायी आधार भी तैयार करता है। इसीलिए कहा गया है कि 'अपनी ही दुनिया का सूरज, लूई उन कृषकाय, क्षुब्ध और नाराज चेहरों से अपरिचित था जो नीचे के उस अंधेरे से उसे देख रहे थे जहाँ उसकी रोशनी कभी पहुँच ही नहीं पाती थी।' (Great Louis, the sun of his world, was unaware of the meagre, sulky and bitter faces that watched him from those lower darknesses to which his sunshine did not penetrate.)

इसीलिए जब वह मरा और उसे शाही कब्रगाह में ले जाया जा रहा था तो क्षुब्ध जनता ने रास्ते के शराबघरों में बैठ कर रोज से ज्यादा शराब पी। नशे मे सारा आक्रोश उबल पड़ा। यह थी सूर्य जैसे प्रतापी राजा की परिणति।

सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड और स्वीडन

इंग्लैण्ड में राजा और पार्लियामेण्ट का संघर्ष

सोलहवीं शताब्दी में राष्ट्रीय शक्तियों के विकास के दौरान ट्यूडर वंश ने इंग्लैण्ड को एक शक्तिशाली और गरिमामय शासन की परम्परा दी थी। विशेष रूप से एलिजावेथ ने इंग्लैण्ड को एक ऐसा शासन दिया जो उस समय शायद सारे विश्व में बेमिसाल था। उसके नाम से ही वह काल जाना जाने लगा। इतनी अभूतपूर्व प्रगति हुई कि इतिहास उसे स्वर्ण काल कहता है। उन्नति बहुमुखी थी। आर्थिक सम्पन्नता के साथ सांस्कृतिक उपलब्धियों का भी युग था। अकेले शेक्सपियर किसी देश-काल को अमर बनाने के लिए पर्याप्त है। एलिजाबेथ से पूरा राष्ट्र इतना आश्वस्त था कि अन्य शक्तियों का समुचित विकास नहीं हुआ था। विशेपकर पार्लियामेण्ट, एलिजावेथ की हर इच्छा, हर आज्ञा के अनुकूल व्यवहार करती थी। यह हमेशा नहीं चल सकता था। पार्लियामेण्ट को नियन्त्रित करने के लिए सारे राष्ट्र से एकरूप होने की आवश्यकता थी जो वाद के शासक नहीं कर सके। इंग्लैण्ड में पार्लियामेण्ट की परम्परा यूरोप में सबसे पुरानी और सशक्त थी। ट्यूडर काल में पार्लियामेण्ट ने राष्ट्रीय समस्याओं और शासकों के प्रभाव के कारण ही अपने अधिकारों को लेकर संघर्ष की नीति छोड़ी थी। धार्मिक समस्याओं का भी पूरी तरह समाधान नहीं हुआ था। इसलिए ऐसे शासक की आवश्यकता थी जो इंग्लैण्ड की ऐतिहासिक शक्तियों को और तात्कालिक समस्याओं को समझ कर ऐसी समन्वयवादी और दूरदर्शी नीति अपनाये कि इंग्लैण्ड निरन्तर अपनी शक्तियों का विकास कर सके। स्टुअर्ट वंश ऐसा एक भी शासक नहीं दे सका। इसलिए संघर्ष मुखर हो गया।

एलिजावेथ निःसन्तान थी। निकटतम उत्तराधिकारी स्काटलैण्ड का शासक जेम्स था। जब वह इंग्लैण्ड का भी शासक घोषित हुआ तो इस नये स्टुअर्ट

वंश ने इंग्लेण्ड और स्काटलैण्ड के भावी एकीकरण की पृष्ठभूमि बनाई।

जेम्स प्रथम : अब तक एक द्वीप पर स्थित दो राज्य, इंग्लैंड और स्काटलैण्ड, अलग-अलग परम्पराओं के सहारे दो भिन्न देशों की तरह विकसित हुए थे। एक ही व्यक्ति के दोनों देशों का राजा होने के नाते फौरन दोनों का विलयन नहीं हुआ पर इस निकटता ने कई समस्याएँ खड़ी कर दीं। जेम्स बहुत गलत समय पर इंग्लैण्ड का शासक हुआ। वैसे भी किसी महान् व्यक्ति का उत्तराधिकारी होना एक कठिन कार्य होता है। एलिजाबेथ के बाद जेम्स बिल्कुल बौना साबित हुआ।

वह शरीर से प्रभावहीन था। उसमें शासक के कोई गुण नहीं थे। उसे यह भी नहीं पता था कि इंग्लैण्ड की परिस्थितियाँ स्काटलैण्ड से थोड़ी भिन्न हैं। उसने इन परिस्थितियों को समझने और तदनुकूल अपने को बदलने की कोशिश नहीं की। उसे विश्वास था कि राजा ईश्वर प्रदत्त अधिकार के आधार पर शासन करता है। राजत्व के इस दैवी सिद्धान्त के अनुसार वह कोई विरोध बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं था। प्रतिनिधि सभाओं के अस्तित्व और उनकी उपयोगिता पर उसे विश्वास नहीं था। इंग्लैण्ड की धार्मिक समस्याओं के बारे में भी वह दूरदर्शिता से काम लेने की स्थिति में नहीं था।

सबसे पहली समस्या विश्वासों को लेकर खड़ी हुई। इंग्लैण्ड के राष्ट्रीय चर्च का स्वरूप प्रोटेस्टेण्ट हो गया था। इससे कैथोलिक तो अप्रसन्न थे ही कुछ प्रोटेस्टेण्ट भी असन्तुष्ट थे क्योंकि चर्च शुद्ध रूप से प्रोटेस्टेण्ट नहीं हुआ था। ये लोग 'प्युरिटन' (Puritan) कहलाते थे। बीच का रास्ता अपनाने के कारण दोनों ही तरह के उग्रवादी असन्तुष्ट थे। जेम्स ने पहले प्युरिटन लोगों को नाराज किया। उसने उन्हें आंग्ल चर्च का विरोधी करार दिया और वह उनकी प्राप्त सुविधाएँ छीनने लगा।

दूसरी ओर कैथोलिक लोग, जो वंश परिवर्तन से बेहतर स्थिति की आशा लगाये हुए थे, जेम्स से निराश ही हुए। कुछ हताश कैथोलिक उग्रवादियों ने हिंसात्मक कार्यवाही करने का निर्णय किया। उन्होंने एक ही साथ राजा और पार्लियामेण्ट को नष्ट कर देने की योजना बनाई। परम्परानुसार हर साल शासक पार्लियामेण्ट को एक बार सम्बोधित करता है। 5 नवम्बर, 1605 को जेम्स पार्लियामेण्ट में भाषण देने वाला था। संसद् भवन के नीचे बारूद लगा दिया गया, लेकिन षड्यन्त्र का पता चल गया और षड्यन्त्रकारियों का नेता **गी फॉक्स** अपने कुछ साथियों के साथ रंगे हाथों पकड़ लिया गया। उन्हें फाँसी दे दी गई। स्तब्ध राष्ट्र एक बार फिर कैथोलिक लोगों को देशद्रोही मानने पर मजबूर हो गया। अब तक इस षड्यन्त्र (Gun Powder

Plot) की याद में हर साल फॉक्स दिवस मनाकर इंग्लैण्डवासी अपना विरोध प्रकट करते हैं।

इंग्लैण्ड में कोई लिखित संविधान आज तक नहीं है, लेकिन परम्पराओं का विकास होता रहा है और सारा शासन उन्हीं से निर्देशित होता रहा है। 1215 में कुछ सामन्तों के माँग-पत्र (Magna Carta) को इंग्लैण्ड के शासक ने स्वीकार किया था और संसद् की नींव पड़ी थी। तब से राजा और पार्लियामेण्ट के अधिकार पूरी तरह परिभाषित नहीं हो सके थे। विभिन्न राजाओं ने अपनी तरह से पार्लियामेण्ट से सम्बन्ध स्थापित करके शासन किया था। जेम्स ने इंग्लैण्ड की शासकीय परम्पराओं की उपेक्षा करके स्वेच्छाचारी ढंग से अपनी आज्ञाएँ थोपनी शुरू कीं। जब आर्थिक संकट उपस्थित हुआ तो पार्लियामेण्ट से सम्पर्क किये बिना उसने अध्यादेश द्वारा नये कर लगा दिए। उसने सोचा था कि पार्लियामेण्ट थोड़े विरोध के बाद अन्त में अपनी स्वीकृति दे ही देगी। परिणाम उल्टा ही निकला। वह पार्लियामेण्ट को प्रस्ताव भेजता था और वह उसे अस्वीकार कर देती थी। राजा संसद् को भंग कर देता था। फिर से नई पार्लियामेण्ट बुलाई जाती थी जो प्रस्ताव फिर अस्वीकार कर देती थी। धीरे-धीरे यह प्रश्न उभरने लगा कि राज्य के धन पर किसका नियन्त्रण है (Who controls the nation's purse ?)। इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ना स्टुअर्ट वंश की प्रमुख समस्या थी।

उसकी विदेश नीति ने भी आन्तरिक समस्या को उलझाया ही। एलिजाबेथ के समय स्पेन का विरोध और प्रोटेस्टेण्ट लोगों की मदद इंग्लैण्ड की विदेश नीति का आधार था। जेम्स ने इसे उलट दिया। उसने सोचा कि प्रमुख कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट देशों की मित्रता से शान्ति स्थापित होगी। उसने दोस्ती का हाथ स्पेन की ओर बढ़ाया। स्पेन की पराजय के लिए जिम्मेदार प्रमुख लोगों में से एक सर वाल्टर रैले को उसने स्पेन विरोधी कार्य करने के लिए फांसी दे दी। स्पेन ने जेम्स की नीति की खिल्ली उड़ाई। दूसरी ओर तीस वर्षीय युद्ध में प्रोटेस्टेण्ट लोगों का नेतृत्व उसका अपना दामाद फ्रेडरिक कर रहा था। जेम्स ने मदद करने के बजाय तटस्थ रहने का निर्णय किया। उसकी नीति से सभी असन्तुष्ट थे। फिर भी वह स्पेन के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार नहीं था।

जब 1625 में जेम्स मरा तो उसके पक्ष में केवल एक बात कही जा सकती थी कि उसने आयरलैण्ड और अमेरिका में इंग्लैण्ड के उपनिवेशों की नींव रख दी थी और भारत से व्यापार को बढ़ावा दिया था। इसके अलावा सारी समस्याएँ और जटिल छोड़ कर वह मरा था। उसके उत्तराधिकारियों के लिए इंग्लैण्ड पर शासन करना और मुश्किल हो गया था।

चार्ल्स प्रथम : जेम्स का पुत्र चार्ल्स योग्य और प्रभावशाली व्यक्तित्व का

शासक था। वह सही निर्णय लेने और उसे लागू करने की क्षमता रखता था लेकिन वह पार्लियामेण्ट से किसी समझौते के लिए तैयार नहीं था। उसने भी प्युरिटनों और पार्लियामेण्ट के दमन की नीति अपनाई। पार्लियामेण्ट जो विरोध करते समय भी जेम्स से असम्मानजनक व्यवहार नहीं करती थी अब स्पष्ट रूप से आधारभूत प्रश्न करने लगी : इंग्लैण्ड में अब सार्वभौम कौन है ? राजा या पार्लियामेण्ट ? (Who is Sovereign in England, Parliament or King ?)

चार्ल्स के शासन का पहला कार्य ही बहुमत के विरुद्ध था। उसने फ्रांस की कैथोलिक राजकुमारी से विवाह कर लिया और कैथोलिक समर्थन की नीति अपनाई। वह प्रोटेस्टेण्ट विरोधी नहीं था लेकिन उसकी धार्मिक उदारता इतने गलत ढंग से अभिव्यक्त होती थी कि पार्लियामेण्ट सशंकित हो गई। उसने कट्टर प्रोटेस्टेण्ट दृष्टिकोण अपना लिया। अब राजा और पार्लियामेण्ट के संघर्ष का स्वरूप राजनैतिक होने के साथ-साथ धार्मिक भी हो गया।

स्पेन के साथ हो रहा युद्ध लोकप्रिय था और उसके लिए धन स्वीकृत करने में पार्लियामेण्ट का विरोध नहीं था। लेकिन वह युद्ध का संचालन योग्य व्यक्तियों द्वारा चाहती थी। चार्ल्स ने यह काम **बकिंघम** नामक सेनापति को सौंपा था जिसके कारण इंग्लैण्ड की सेनाओं को पराजय सहनी पड़ रही थी। ऐसे में पार्लियामेण्ट ने और धन देना अस्वीकार कर दिया। चार्ल्स उसे भंग करके अपने अनुकूल पार्लियामेण्ट का चुनाव करवा कर अपनी नीतियाँ मनवाना चाहता था लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। इसी बीच उसने रिशलिउ द्वारा ला रोशेल में घेरे गये फ्रेंच प्रोटेस्टेण्ट लोगों की मदद करने का निर्णय किया। इस कार्य में उसे देश का सहयोग मिल सकता था। लेकिन इस बार भी उसने जबर्दस्ती की नीति अपनाई। उसने धनिकों से उधार लेकर मदद भेजी। कोई फायदा नहीं हुआ और ला रोशेल का पतन हो गया। एक बार फिर बदनामी उठानी पड़ी।

1628 में पार्लियामेण्ट ने अपने अधिकारों का मांगपत्र (Petitions of Rights) रखा और स्पष्ट कर दिया कि जब तक वह स्वीकार नहीं होगा राजा से तनिक भी सहयोग असम्भव है। हर तरफ से उलझा चार्ल्स अपनी स्वीकृति देने पर मजबूर हो गया। पार्लियामेण्ट की यह पहली जीत थी। चार्ल्स ने ऐसा मजबूरियों में किया था। उसकी नीतियों में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं आया। इसलिए संघर्ष की स्थिति बनी रही।

राजकोष की आमदनी का एक बहुत बड़ा जरिया चुंगी-कर था। परम्परा के अनुसार हर शासन के शुरू में ही पार्लियामेण्ट इस कर (Tunnage and Poundage) को शासक के जीवनकाल के लिए स्वीकृत कर देती थी।

चार्ल्स के शासन के प्रारम्भ में यह औपचारिकता पूरी नहीं हो सकी थी। पार्लियामेण्ट के लिए यह एक सुनहरा मौका था। उसने बिना राजा का आश्वासन पाये स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया। चार्ल्स के क्रोध की सीमा न रही। उसने पार्लियामेण्ट भंग करने का निर्णय किया। सदस्यों को सुराग मिल गया। उन्होंने बहुत से प्रस्ताव पास कर दिये और 'टनेज और पाउण्डेज' को अनियमित घोषित कर दिया।

पार्लियामेण्ट भंग करने के पश्चात् ग्यारह वर्षों तक चार्ल्स ने निरंकुश शासन किया। वह नये कर नहीं लगा सकता था लेकिन जो आमदनी थी उसका इस्तेमाल मनमाने ढंग से कर सकता था। इसके लिए खर्चों को नियन्त्रित करके शासन को सुचारु रूप से चलाने की आवश्यकता थी जो उसके बस की बात नहीं थी। उसने धार्मिक मामलों के लिए **लॉड** और प्रशासनिक कार्यों के लिए **वेण्टवर्थ** नामक व्यक्तियों को सलाहकार नियुक्त किया और वह अपने ढंग से शासन करता रहा। उसने नौसेना को शक्तिशाली करने की योजना बनाई। परम्परा थी कि समुद्र तट के इलाकों से राजा मांग करता था कि वे राज्य को जहाज दें। पहले के छोटे जहाज उन इलाकों में तैयार करके राज्य को भेंट कर दिये जाते थे। चार्ल्स ने घोषित किया कि वे चाहें तो जहाज के स्थान पर धन (Ship Money) दे सकते हैं। यह पार्लियामेण्ट के बिना कर लगाने की चाल थी। उसने शीघ्र ही सभी क्षेत्रों पर यह अनियमित कर लगा दिया। इसका विरोध शुरू हुआ। गांव के साधारण से व्यक्ति **हैम्पडन** ने कर देने से इन्कार कर दिया और उसे गिरफ्तार कर लिया गया। इसका इतना विरोध हुआ कि हैम्पडन जनता में अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। उसे 'राष्ट्रीय हीरो' बना दिया गया यहां तक कि **मिल्टन** जैसे कवि ने उसकी प्रशंसा की।

इसी बीच चार्ल्स ने स्कॉटलैण्ड में वे ही नियम लागू करने चाहे जो इंग्लैण्ड में स्वीकृत थे। वहां विरोध हुआ और युद्ध छिड़ गया। अब वह दो मोर्चों पर एक साथ नहीं लड़ सकता था। मजबूरन उसने पार्लियामेण्ट से समझौता करने का निश्चय किया। पार्लियामेण्ट (Short Parliament) बुलाई गई। उसने फिर पुरानी नीति दुहराई और वह भंग कर दी गई लेकिन कोई और समाधान नहीं था। फिर नई पार्लियामेण्ट (Long Parliament) बुलाई गई जो बहुत दिनों तक ऐतिहासिक भूमिका अदा करती रही।

सबसे पहले चार्ल्स के दोनों सलाहकारों को फाँसी दी गई। राजा की उपेक्षा करके सारे निर्णय पार्लियामेण्ट स्वयं लेने लगी। मजबूर चार्ल्स अपमान बर्दाश्त करता रहा। वह मौके की तलाश में था। पार्लियामेण्ट राजा के विरोध में तो एकजुट थी लेकिन धार्मिक प्रश्न पर उसमें मतभेद था। इस मतभेद के सहारे उसने पार्लियामेण्ट के पांच प्रमुख नेताओं को, जिनमें हैम्पडन भी था,

भरी सभा में गिरफ्तार करना चाहा। सफलता नहीं मिली। चार्ल्स डर गया। राजधानी लन्दन में विद्रोह हो गया। चार्ल्स राजधानी छोड़कर नॉटिंघम भाग गया और अपने समर्थकों का आह्वान करने लगा। संघर्ष ने अब दूसरा रूप ले लिया था। दोनों ओर से सैनिक तैयारी होने लगी।

राजा के समर्थक कैवेलियर्स (Cavaliers) कहलाते थे और पश्चिम में संगठित हो रहे थे। दूसरी ओर पार्लियामेण्ट के समर्थक 'राउण्डहेड्स' (Roundheads) एक प्रतिभाशाली नेता **ऑलिवर क्रॉमवेल** के नेतृत्व में लन्दन में संगठित होने लगे। राजा को विशेष रूप से सामन्तों का समर्थन प्राप्त था और पार्लियामेण्ट के साथ विशेष रूप से मध्यमवर्ग के लोग थे। शुरू के युद्धों में राजा सफल होता दिखाई पड़ा लेकिन क्रॉमवेल ने पासा पलट दिया। कट्टर अनुशासन प्रेमी और अध्यवसायी क्रॉमवेल ने अपने अनुयायियों को एक जुझारू सेना में परिवर्तित कर दिया। उन्हें Ironsides कहा जाने लगा। उसकी सेनाओं को पहली महत्त्वपूर्ण विजय मार्सटनमूर नामक स्थान पर मिली। कुछ ही दिनों बाद नेजबी की लड़ाई में चार्ल्स बुरी तरह हार गया। उसने स्कॉटलैण्ड में आत्मसमर्पण कर दिया। स्कॉटलैण्ड के लोग चार्ल्स से पहले से ही नाराज थे। उन्होंने पार्लियामेण्ट से समझौता कर लिया और राजा को उन्हें सौंप दिया। राजा ने सोचा था कि धार्मिक समस्या को लेकर स्काटलैण्ड और इंग्लैण्ड में पट नहीं सकेगी और उसकी जान बच जायेगी। उसका विश्लेषण अंशतः सही भी था। दोनों देशों में संघर्ष शुरू हो गया लेकिन विद्रोही शीघ्र ही दबा दिये गये और चार्ल्स बच नहीं सका।

इस दौरान सेना पार्लियामेण्ट पर हावी हो गई थी। उसने राजा पर मुकदमा चलाने का निर्णय लिया। पार्लियामेण्ट ने एक न्यायालय संगठित किया जिसने चार्ल्स को मौत की सजा दे दी। इंग्लैण्ड के इतिहास में पहली और अन्तिम बार राजा को फांसी दे दी गई। ऐसे देश में जहाँ अब भी राजतन्त्र कायम है जिद्दी और अदूरदर्शी राजा ने वक्त के खिलाफ चल कर स्वयं अपनी मौत को निमन्त्रण दिया था। राजा मर चुका था। हाउस ऑफ लॉर्डस भंग किया जा चुका था। कामन्स अस्त व्यस्त था। समस्या थी कि राज्य का शासन किस आधार पर हो।

क्रॉमवेल और कॉमनवेल्थ : सेना ने पार्लियामेण्ट के विरोधी सदस्यों को बर्खास्त कर दिया था। अब बची खुची रम्प (Rump) पार्लियामेण्ट ने इंग्लैण्ड को एक कॉमनवेल्थ घोषित कर दिया। स्थिति अभी साफ नहीं हुई थी। आयरलैण्ड और स्काटलैण्ड में चार्ल्स द्वितीय को राजा घोषित कर दिया गया था। क्रॉमवेल ने धैर्य से काम लिया। सारे विरोधी परास्त हो गए और चार्ल्स जान बचा कर यूरोप में भटकने को बाध्य हो गया। सरकार का क्या

स्वरूप हो इस विषय में पार्लियामेण्ट कोई निर्णय ही नहीं ले पा रही थी। क्रॉमवेल एक सैनिक था। इस ढुलमुल नीति से क्षुब्ध होकर उसने पार्लियामेण्ट पर एक टुकड़ी लेकर हमला कर दिया। सदस्यों को सम्बोधित करते हुए उसने कहा, 'बहुत हो गया। आप बाहर चलें। आप लोगों के यहाँ रहने की कोई आवश्यकता नहीं है।' (Come ! Come ! We have had enough of this. It is not fit you should sit any longer.)।

नई पार्लियामेण्ट सेना का निर्णय मानेगी या राजतन्त्र का पक्ष लेगी इस विषय में क्रॉमवेल आश्वस्त नहीं था। इसलिए एक तरह का संविधान बनाया गया (Instrument of Government) जिसके द्वारा क्रॉमवेल को कार्यपालिका का अधिकार दिया गया। लॉर्ड प्रोटेक्टर (Lord Protector) की हैसियत से एक काउन्सिल ऑफ स्टेट की मदद से उसे शासन करने का अधिकार दिया गया। कानून बनाने का अधिकार एक सदन वाली पार्लियामेण्ट को दिया गया। उसमें किसी राजतन्त्र समर्थक सदस्य के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी गई।

यह नई व्यवस्था केवल क्रॉमवेल की योग्यता पर निर्भर थी। क्रॉमवेल पार्लियामेण्ट जैसी संस्था से कभी पूरी तरह सहयोग नहीं कर सका। उसके विरुद्ध तरह-तरह के षड्यन्त्र होते रहे लेकिन वह एकचित्त हो कर अपने ढंग से शासन करता रहा। एक नई पार्लियामेण्ट निर्वाचित हुई जो उसे ही राजा बनाने को तैयार थी लेकिन उसने स्वीकार नहीं किया। मतभेद बढ़ा और उसे भी भंग कर दिया गया। वह स्वयं कट्टर विश्वासों का आदमी था। लेकिन शासन में सभी तरह के प्रोटेस्टेण्ट लोगों के प्रति सहिष्णुता की नीति बरतना चाहता था। इससे न उसके समर्थक संतुष्ट थे न विरोधी। सारा इंग्लैण्ड धार्मिक विषयों पर बुरी तरह विभाजित था। इस दिशा में क्रॉमवेल को कोई सफलता नहीं मिली। जितने दिन वह जीवित रहा केवल अपने दृढ़ निश्चय की बदौलत शासन करता रहा। उसे कहीं से कोई सहयोग नहीं मिला। देश में बुरी तरह असफल क्रॉमवेल को विदेशों में अवश्य सफलता मिली। उसने हालैण्ड और स्पेन को परास्त किया। इंग्लैण्ड के उपनिवेश बढ़ाये और समुद्रों पर इंग्लैण्ड की तूती बोलती रही।

अन्त में उसका शरीर इतने सारे संघर्ष बर्दाश्त नहीं कर सका। वह टूट चुका था। 1659 में उसकी मृत्यु हो गई। चारों तरफ अराजकता बढ़ने लगी। गणतन्त्र ढहने लगा। साल भर तक क्रॉमवेल के लड़के रिचर्ड ने किसी तरह संभाला, लेकिन यह स्पष्ट हो चला था कि सदियों से राजतन्त्र की परम्परा से जुड़े इंग्लैण्ड में कोई विकल्प सफल नहीं हो सकता था। लोग स्टुअर्ट वंश की पुनःस्थापना की बात करने लगे। क्रॉमवेल के ही सहयोगी जनरल मांक ने इस दिशा में पहल की। उसने प्रस्ताव रखा कि किसी को कुसूरवार न ठहराया

जाय। सब को माफ करने की नीति के आधार पर पुरानी व्यवस्था को फिर से स्थापित किया जाय। चार्ल्स मान गया और जब वह इंग्लैण्ड लौटा तो जनता ने खुशियां मनाईं। पर परम्परागत सिद्धान्त फिर से स्वीकार हुआ कि सरकार राजा, लॉर्डस और कामंस के माध्यम से ही चलनी चाहिए (The Government is, and ought to be by King, Lords and Commons) तब से आज तक यह व्यवस्था निरन्तर मानी जाती रही है।

चार्ल्स द्वितीय : राजतन्त्र की पुनःस्थापना (Restoration) के बाद हवा ही बदल गई। पिछले दस वर्षों के कठोर अनुशासन और नियन्त्रण से जनता ऊब गई थी। जीवन इतना नीरस हो गया था कि पुनःस्थापना के बाद लोगों ने अपनी खुशियां पूरी करने में सारे नियम तोड़ दिये। कुछ दिनों के लिए सारी मर्यादाओं को तोड़ लोग रंगरेलियां मनाते रहे, जैसे सारी कमियां पूरी करने पर आमादा हों। चार्ल्स स्वयं एक आमोदप्रिय शासक था। इसलिए वह बहुत लोकप्रिय हुआ।

कुछ दिनों तक पुराने प्रश्नों की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया। नई पार्लियामेण्ट, जिसे कैवेलियर पार्लियामेण्ट (Cavalier Parliament) कहते हैं, राजा से सहयोग करती थी। इस बीच ऐसे कानून पास हुए जो कॉमनवेल्थ के पहले सम्भव ही नहीं थे। राजा के विरुद्ध हथियार उठाना अपराध करार दिया गया। कारपोरेशन एक्ट ने स्थिति स्पष्ट कर दी। किसी भी म्युनिसिपल कारपोरेशन के कर्मचारी को शपथ लेनी पड़ती थी कि वह राजा और आँग्ल-चर्च के प्रति अपने को समर्पित करता है। एकरूपता के लिए फिर एक कानून पास किया गया कि केवल आँग्लचर्च के धर्माधिकारियों को मान्यता है। शेष सभी प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायों को डिसेण्टर (Dissenters) कहा जाने लगा। डिसेण्टर लोगों के विरुद्ध इतनी सख्ती इसलिए बर्ती गई क्योंकि पार्लियामेण्ट को यह शंका थी कि उसी बहाने कैथोलिक लोगों के प्रति सहानुभूति दिखाई जा सकती है। शंका निर्मूल नहीं थी क्योंकि चार्ल्स ने चुपके से कैथोलिक धर्म स्वीकार कर लिया था।

चार्ल्स वैदेशिक नीति में इंग्लैण्ड का सम्मान नहीं बचा सका। वह लूई चतुर्दश के प्रभाव में फंस चुका था, और कितनी ही बार एक पिछलग्गू की तरह व्यवहार करता था। लूई के युद्धों के दौरान उसने कभी कोई स्पष्ट नीति नहीं अपनाई।

उसके शासन-काल में पहली बार राजनैतिक दलों का सूत्रपात हुआ। दलों का आधार धार्मिक सहिष्णुता थी। वे लोग ही 'डिसेण्टर्स' के कट्टर विरोधी टोरी (Tory) कहलाये और जो इस विषय में सहिष्णु थे ह्विग (Whig)। टोरी और ह्विग दोनों ही व्यंग्यात्मक सम्बोधन थे। आयरिश भाषा में टोरी

डाकू को कहते थे और स्कॉटलैण्ड में घोड़ों से काम लेते समय ह्विग्गम-ह्विग्गम कह कर चिल्लाते थे। धीरे-धीरे ये नाम दो राजनैतिक पार्टियों के पड गए। अनुदार दल 'टोरी' और उदार दल 'ह्विग' पार्टी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

जेम्स द्वितीय : पच्चीस वर्षों के शासन के बाद चार्ल्स की मृत्यु हो गई। 1685 में उसका भाई जेम्स गद्दी पर बैठा, चार्ल्स छुप कर कैथोलिक बना था और मृत्यु-शय्या पर ही उसने खुले आम अपने को कैथोलिक स्वीकार किया था। जेम्स कैथोलिक था, यह सर्वविदित था। कैथोलिक होने के साथ वह राजत्व के दैविक सिद्धान्त में विश्वास रखता था। उसके शासक होते ही स्थिति वहीं लौट गई जहां स्टुअर्ट वंश की स्थापना के समय थी। फिर धार्मिक और राजनैतिक आधार पर राजा और पार्लियामेण्ट में ठन गई। वह स्वेच्छाचारी न होता तो शायद निभ पाती, लेकिन उसने अपने धार्मिक और राजनैतिक विचारों के आधार पर शासन करना शुरू किया। विरोधी दण्डित होने लगे।

इंग्लैण्ड में एक बार फिर असन्तोष फैल गया। लेकिन सब सोचते थे कि जेम्स का उत्तराधिकारी उसकी पुत्री थी जो स्वयं भी प्रोटेस्टेण्ट थी और हालैण्ड के प्रोटेस्टेण्ट विलियम से ब्याही थी। लेकिन 1688 में जेम्स की दूसरी पत्नी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। अब यह निश्चित हो गया कि उसका पालन पोषण एक कैथोलिक की तरह होगा और जेम्स के मत उसके पुत्र के माध्यम से स्थायी हो जायेंगे। इस सम्भावना से लोग आतंकित हो गए। कुछ देशभक्तों ने जेम्स की पुत्री मेरी और उसके पति विलियम को इंग्लैण्ड को इस संकट से बचाने के लिए संदेश भेज दिया।

रक्तहीन क्रान्ति : सब कुछ बहुत आकस्मिक ढंग से घोषित हुआ। जेम्स के पुत्र होने के पहले लोग उसकी मृत्यु का धैर्यपूर्वक इन्तजार कर रहे थे। पुत्र उत्पन्न होने की खबर मिलते ही एक बिजली सी दौड़ गई। और कोई चारा न देखकर हालैण्ड से मेरी और विलियम को निमन्त्रित किया गया। निमन्त्रित करने वालों को आशा नहीं रही होगी कि निमन्त्रण स्वीकार होगा और सब कुछ इतनी सरलता से घट जायेगा। लूई चतुर्दश हालैण्ड का पक्का दुश्मन था। और सभी जानते थे कि वह विलियम को इंग्लैण्ड नहीं जाने देगा। लेकिन वह जर्मनी में फँसा रह गया और विलियम तथा मेरी कुछ साथियों के साथ इंग्लैण्ड आ पहुँचे। उनके पहुँचते ही उत्साह की एक लहर दौड़ गई। हर तरफ से हर तरह के लोग उनके स्वागत के लिए उमड़ने लगे। जेम्स हवा का रुख पहचान गया और बिना कोई विरोध किये अपने परिवार के साथ भाग खड़ा हुआ। इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना घट गई। बिना एक बूंद खून बहाये एक ऐतिहासिक परिवर्तन हो गया। इसीलिए इस घटना को रक्तहीन या शानदार क्रान्ति (Bloodless or Glorious Revolution) कहते हैं।

पार्लियामेण्ट ने इंग्लैण्ड का सिंहासन मेरी और विलियम को अर्पित कर दिया। इस प्रकार बिना बहस के यह बात स्थापित हो गई कि राजा पार्लियामेण्ट की मर्जी से ही राजा रह सकता है। राजत्व का दैवी सिद्धान्त स्वयं ही समाप्त हो गया। 1689 में पार्लियामेण्ट ने 'बिल ऑफ राइट्स (Bill of Rights) के द्वारा अपने अधिकारों को वैधानिक रूप दे दिया। ह्विग लोगों के प्रस्ताव पर सहिष्णुता का कानून (Toleration Act) भी पास हो गया। इसके द्वारा कैथोलिक लोगों को छोड़ कर शेष सभी सम्प्रदायों को धार्मिक स्वतन्त्रता दे दी गई। इस प्रकार राजनैतिक और धार्मिक दोनों ही समस्याओं का समाधान हो गया। इंग्लैण्ड के इतिहास का नया दौर शुरू हुआ।

इस घटना को क्रान्ति होने का सम्मान इसलिए मिला है कि इतिहास में जब से राजतन्त्र की स्थापना हुई, राजाओं ने अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि कहकर हमेशा स्वेच्छाचारी शासन किया। जिस समय यह घटना घटी उस समय फ्रांस का शासक लूई अपनी निरंकुशता के लिए कुख्यात था। जब कि सारा यूरोप निरंकुश शासकों की चपेट में था, इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट ने राजा बनाने का अधिकार अपने हाथों में ले लिया। कोई भी शासक पार्लियामेण्ट के बनाये हुए कानूनों को रद्द नहीं कर सकता था। न तो वह कर लगा सकता था, न सेना भर्ती कर सकता था। संसद् सदस्यों की किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता पर कोई प्रतिबन्ध लगाने का उसे अधिकार नहीं था। जनता को अपनी माँग रखने का अधिकार मिल गया। पार्लियामेण्ट के बिना शासन अनियमित घोषित हो गया। नियन्त्रण को नियमित बनाने के लिए हर साल के लिए करों और खर्चों को पास करने का नियम बन गया। इस तरह साल में एक बार पार्लियामेण्ट का अधिवेशन होना अनिवार्य हो गया।

एकतन्त्र और स्वेच्छाचारी शासन को यह पहला आघात था। राजा का धर्म निश्चित हो गया—वह प्रोटेस्टेण्ट ही हो सकता था। उसके खर्चे नियन्त्रित हो गए। यह हमेशा के लिए निश्चित हो गया कि सार्वभौमिकता का स्रोत राजा नहीं पार्लियामेण्ट है। तब से पार्लियामेण्ट के अधिकार बढ़ते ही गए और अब तो राजपरिवार में पार्लियामेण्ट की राय के विरुद्ध विवाह तक नहीं सम्भव हो सकते। पार्लियामेण्ट की इसी सत्ता ने इंग्लैण्ड को प्रजातन्त्र का गढ़ बना दिया।

एकतन्त्र के विरुद्ध हो रहे हर संघर्ष को इस क्रान्ति ने प्रेरित किया है। अमेरिका के स्वतन्त्रता-संग्राम और फ्रांस की क्रान्ति पर इसका प्रभाव स्पष्ट था। इस तरह इंग्लैण्ड में प्रजातन्त्र का जो रूप मैग्ना कार्टा के साथ तेरहवीं शताब्दी में शुरू हुआ था चार सौ वर्षों के संघर्ष के बाद वह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। आज भी इंग्लैण्ड के विधान में तब से कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है।

कैबिनेट व्यवस्था

आज दुनिया के ऐसे प्रजातान्त्रिक देशों में, जहाँ संसदीय प्रणाली है, शासन एक मन्त्रिमण्डल (कैबिनेट) चलाता है जो संसद् के प्रति जिम्मेदार होता है। इस व्यवस्था में राज्याध्यक्ष, राष्ट्रपति, गवर्नर जनरल या राजा प्रधान होता है लेकिन वास्तविक सत्ता संसद् के हाथ में होती है। इस संसद् में जिस दल का बहुमत हो या जिसे राज्याध्यक्ष सरकार बनाने का उत्तरदायित्व सौंपे उस दल का नेता प्रधानमन्त्री बन जाता है। वह अपने दल से कुछ सहयोगी चुन लेता है जो एक मन्त्रिमण्डल बनाते हैं। इनके पास विभिन्न विभागों का प्रशासन होता है। ये अपने-अपने विभाग के लिए और समवेत रूप से भी संसद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार राज्य में कार्यपालिका की पूरी जिम्मेदारी इन्हीं पर होती है। ये संसद् के सदस्य होते हैं इसलिए कानून बनाने में भी इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इस प्रकार वे इनकी व्यवस्थापिका के भी अंग होते हैं। इसीलिए केवल संसदीय प्रणाली है जिसमें मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका और कार्यपालिका—कानून बनाना और उसे लागू करने का—कार्य एक साथ करता है। यही व्यवस्था आज भारत जैसे बहुत से देशों में लागू है। इसकी शुरुआत इंग्लैण्ड में हुई थी।

इंग्लैण्ड में दलों का निर्माण चार्ल्स द्वितीय के समय में ही हो गया था लेकिन वे दल केवल धार्मिक समस्या को लेकर बँटे हुए थे। मन्त्री राजा की इच्छा से बनाये जाते थे और उसी की इच्छा से हटा दिये जाते थे। न तो उनका कार्य अच्छी तरह परिभाषित था न उनके अधिकार। वे केवल राजा के प्रति उत्तरदायी होते थे और उसी के कर्मचारी की तरह कार्य करते थे। लेकिन राजा की प्रिवी काउन्सिल का बहुत महत्त्व था। उसकी समितियाँ निश्चित कार्य करती थीं। इस काउन्सिल में भी अंशत: भावी कैबिनेट व्यवस्था के बीज मौजूद थे।

1688 की क्रान्ति के बाद जब विलियम इंग्लैण्ड का शासक हुआ तो वह अपने देश हालैण्ड में अधिक दिलचस्पी लेता था। हालैण्ड लूई चतुर्दश की नीतियों से आक्रान्त था और विलियम निरन्तर हालैण्ड की रक्षा और लूई को नीचा दिखाने की चिन्ता में रहता था। उसे इंग्लैण्ड पर विशेष ध्यान देने की फुरसत नहीं थी। वह इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट का ऋणी था और उससे बहुत सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने में निरन्तर सचेष्ट था। इस समय इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट में 'ह्विग' पार्टी का बहुमत था। उसने अपने मन्त्री इसी पार्टी से चुन लिए और शासन का अधिकांश भार उन्हीं के ऊपर छोड़ कर निश्चिन्त हो गया। जब ह्विग पार्टी हार गई और टोरी पार्टी का बहुमत हुआ तो उसने मन्त्री उस पार्टी से चुन लिए ताकि प्रशासन में सुविधा हो। यहीं से कैबिनेट

व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। कैबिनेट का अर्थ होता है एक छोटा-सा कमरा। ऐसे ही एक कमरे में स्टुअर्ट राजाओं के सलाहकार बैठ कर राय देते थे और उन्हें 'कैबिनेट' भी कहा जाता था। तब ये लोग पार्लियामेण्ट विरोधी समझे जाते थे। अब विलियम के समय इसी कैबिनेट का पार्लियामेण्ट से बहुत निकट का सम्बन्ध स्थापित हो गया।

1714 में इंग्लैण्ड में फिर वंश परिवर्तन हुआ क्योंकि विलियम के बाद इंग्लैण्ड का राज्य महारानी ऐन को मिला था और उसने भी कोई उत्तराधिकारी नहीं दिया था। उत्तराधिकार अब जर्मन राज्य हैनोवर के राजवंश में चला गया था जहाँ का शासक जॉर्ज अब इंग्लैण्ड में जॉर्ज प्रथम के नाम से हैनोव्रियन वंश के संस्थापक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ था। जॉर्ज प्रथम और उसका उत्तराधिकारी जॉर्ज द्वितीय पूरी तरह इंग्लैण्ड को अपना नहीं सके। वे आचार व्यवहार में जर्मन बने रहे। उन्हें अंग्रेजी भाषा भी पूरी तरह नहीं आई। उन्हें जर्मनी और हैनोवर की याद आती रही। इसलिए वे पूरी तरह इंग्लैण्ड के न बन सके। उन्होंने ज्यादातर जिम्मेदारी कैबिनेट के हाथों में दे दी क्योंकि वे इंग्लैण्ड की जटिल राजनैतिक व्यवस्था को न समझते थे, न समझना चाहते थे। जब उन्हें भाषा ही नही आती थी तो वे किसी को आज्ञा क्या देते और शासन में क्या दखल देते ? वे इतने बुद्धिमान् और दूरदर्शी भी नहीं थे कि हैनोवर जैसे छोटे से राज्य के स्थान पर इंग्लैण्ड जैसे महत्त्वपूर्ण राज्य का शासक होने पर प्रसन्न हों और अपनी शक्ति तथा महिमा के लिए कुछ करें। ऐसी स्थिति में स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति के होते हुए भी वे पार्लियामेण्ट और मन्त्रि-मण्डल द्वारा ही नाममात्र का शासन करते रहे। प्रायः वे कैबिनेट की मीटिंग में उपस्थित भी नहीं होते थे।

ये लोग ह्विग पार्टी को अपना समर्थक समझते थे क्योंकि टोरी लोगों ने स्टुअर्ट वंश की पुनःस्थापना के छुटपुट प्रयास किये थे। इस समय ह्विग पार्टी का महत्त्व बढ़ा और उनका एक नेता **वालपोल** धीरे-धीरे हर सही गलत कार्य करके ह्विग लोगों और कैबिनेट का 'प्रमुख' मन्त्री बना रहा। वह इतना शक्तिशाली हो गया था कि उसे हर तरह से 'प्रमुख'—Prime in importance and prime in power अर्थात् Prime Minister कहा जाने लगा। तभी से यह परम्परा बन गई कि राजा पार्लियामेण्ट के बहुमत वाले दल से प्रधानमन्त्री नियुक्त करेगा और फिर उसकी राय से कैबिनेट के अन्य मन्त्री नियुक्त होंगे।

परम्पराओं पर ही आधारित इंग्लैण्ड के संविधान में इस प्रकार यह व्यवस्था हो गई कि शासन हो शासक के नाम में, लेकिन वास्तविक शासन कैबिनेट और प्रधानमन्त्री चलायें। धीरे-धीरे यह स्पष्ट हो गया कि इंग्लैण्ड में शासक का

प्रभुत्व रहेगा लेकिन हुकूमत वह नहीं मन्त्रिमण्डल करेगा (The Monarch, reigns, he does not rule)। परम्पराओं ने निश्चित कर दिया कि राजा शासन सम्बन्धी कोई भी कार्य व्यक्तिगत रूप से नहीं कर सकता। राज्य के तीनों महत्त्वपूर्ण कार्य—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका—वह स्वयं नहीं विभिन्न संस्थाएँ करने लगीं। राजकोष पर भी उसका नियन्त्रण नहीं रह गया। यहाँ तक कि व्यक्तिगत और परिवार के खर्चे के लिए भी पार्लियामेण्ट एक निश्चित रकम (Civil list) निर्धारित करने लगी। इस तरह वालपोल के 'प्रधान' मन्त्रित्व काल में ऐसी परम्परा बन गई जिसका उल्लंघन सम्भव नहीं हो सका।

जॉर्ज तृतीय ने लूई चतुर्दश की नकल करना चाहा। उसने किसी प्रधान मन्त्री की आवश्यकता नहीं समझी। लेकिन वह अपनी अर्ध विक्षिप्तिता और अदूरदर्शिता के कारण एक के बाद दूसरा गलत निर्णय लेता गया। उसकी नीतियों ने ही अमेरिकी उपनिवेश में अशान्ति फैला दी और अमेरिकन लोगों ने वाशिंगटन के नेतृत्व में अपनी स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी और जीत गए। अमेरिकी स्वतन्त्रता ने जॉर्ज को बहुत कमजोर बना दिया। इसी समय पिट के रूप में एक असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। उसने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया। उसने देश को ऐसा नेतृत्व दिया जिसमें इंग्लैण्ड न केवल भारी राष्ट्रीय संकटों से, जैसे फ्रांस की क्रान्ति और नेपोलियन के आक्रमण से उभरा, बल्कि उसने अपनी धाक सारे विश्व में जमा ली। उसने कैबिनेट और प्रधान मन्त्री की स्थायी और सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था बनाने में सफलता पाई।

तब स संसदीय प्रजातन्त्र निरन्तर शक्तिशाली होता गया है। कैबिनेट व्यवस्था इंग्लैण्ड में तो सुदृढ़ हुई ही है, उसने दुनिया के अनेक देशों के सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया है। शुरू में कैबिनेट में इंग्लैण्ड के धनिकों और सामन्तों को स्थान मिलता था लेकिन समय के साथ जनतन्त्र का ज्यों-ज्यों विस्तार हुआ कैबिनेट अन्य वर्गों की पहुँच में भी आता गया। आज इंग्लैण्ड की कैबिनेट को दुनिया की सबसे शक्तिशाली, व्यवस्थित और अनुशासित संस्थाओं में गिना जाता है।

स्वीडन

भारतवर्ष के लिए स्वीडन एक अज्ञात-सा देश है। यूरोप के उत्तर पश्चिम में स्केण्डेनेविया प्रायद्वीप के झीलों, पहाड़ों और जंगलों से भरपूर इस देश को आज वहां के इस्पात, मुक्त समाज और अभूतपूर्व समृद्धि के लिए जाना जाता है। लेकिन सदियों तक यह क्षेत्र केवल बहादुर सैनिकों और लुटेरों का देश था जहां से सामुद्रिक लुटेरे दूर-दूर तक प्रहार करते थे। यूरोप की राजनैतिक

व्यवस्था में स्वीडन का कोई स्थान नहीं था सत्रहवीं शताब्दी आते-आते स्वीडन यूरोप का महत्त्वपूर्ण देश बन गया। इसका श्रेय गस्टवस एडॉलफस को है।

गस्टवस एडॉलफस : गस्टवस जब 1611 में गद्दी पर बैठा तो स्वडन प्रोटेस्टेण्ट हो चुका था, लेकिन राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में उसका कोई महत्त्व नहीं था। उसने महसूस किया कि स्वीडन यूरोप से बिल्कुल कटा हुआ है। सर्दी वहां इतनी पड़ती थी कि छः महीने तो स्वीडन के अधिकांश तट जमे रहते थे। उत्तरी भाग तो पूरी तरह टुण्ड्रा जैसे बर्फानी हिस्सों में पड़ता था। सबसे पहले उसने दक्षिण में विस्तार की नीति अपनाई। वह बाल्टिकसागर के चारों ओर स्वीडन का विस्तार कर के उसे 'स्वीडी झील' बना लेना चाहता था। उसके देश में बहादुर सैनिकों की कमी नहीं थी। उन्हें बस संगठित करना था और युद्ध के साधन जुटाने थे। गस्टवस ने राज्य का पुनःसंगठन किया और एक शक्तिशाली सेना और नौसेना संगठित की। अब वह प्रोटेस्टेण्ट लोगों को प्रोत्साहित करने लगा और धीरे-धीरे सारे यूरोप के प्रोटेस्टेण्ट उससे नेतृत्व की अपेक्षा करने लगे। तीस वर्षीय युद्ध चल रहा था। प्रोटेस्टेण्ट ताकतों की गिरती हालत देख कर उसने अपने धर्म और अपने देश के लिए उपयुक्त अवसर समझा और वह युद्ध में कूद पड़ा। उसकी बहादुरी और सामर्थ्य देख-कर यूरोप स्तब्ध रह गया। यद्यपि वह युद्ध में मारा गया, उसकी और स्वीडन की धाक जम गई। उसकी पुत्री क्रिस्टीना को, जो मात्र शिशु थी, रानी बना-कर गस्टवस के सैनिकों ने युद्ध में सक्रिय हिस्सा लिया और वेस्टफेलिया की सन्धि में स्वीडन एक महत्त्वपूर्ण और निर्णायक शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया (विस्तार के लिए देखिये : तीस वर्षीय युद्ध। स्वीडीकाल और वेस्टफेलिया की सन्धि)। स्वीडन अब मध्य यूरोप तक पहुँच चुका था और यूरोपीय गतिविधियों में उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

क्रिस्टीना के बाद चार्ल्स दशम और चार्ल्स एकादश के शासन-काल में स्वीडन यूरोप के विभिन्न देशों से उलझा रहा। कभी डेनमार्क, कभी पोलैण्ड और कभी लूई चतुर्दश के विरुद्ध किये गए युद्धों में स्वीडन अपनी भूमिका निभाता रहा। यूरोप के हर प्रमुख निर्णयों में स्वीडन शामिल रहता था। इस बीच वहां का आर्थिक विकास भी हुआ। पुनर्जागरण और सुधार आन्दो-लन के परिणामों का स्वीडन ने भी लाभ उठाया। उद्योगों का विकास शुरू हुआ। विशेष रूप से लोहे और जहाज बनाने के उद्योग में तेजी से प्रगति हुई जो अब तक बनी हुई है। यह सब होते हुए भी स्वीडन के शासक इतने युद्ध प्रेमी थे कि इस उदीयमान देश के साधन युद्धों में बहुत नष्ट हुए।

चार्ल्स द्वादश : 1697 में जब एक किशोर स्वीडन की गद्दी पर बैठा तो

किसी को विश्वास तक नहीं था कि वह यूरोप में चमत्कारी भूमिका अदा करेगा। वह अभी पन्द्रह वर्षों का अनुभवविहीन शासक था और उसका पड़ोसी पीटर एक बहुत योग्य और दूरदर्शी शासक था। उसकी भी वही महत्त्वकाक्षाएँ थीं जो स्वीडन की थीं। पीटर ने पश्चिमी यूरोप की यात्रा की—वहाँ के तौर तरीके, उनकी प्रगति का रहस्य, समझने के लिए। रास्ते में उसने स्वीडन के अन्य पड़ोसियों से चर्चा की कि स्वीडन का विभाजन करने का यही उपयुक्त अवसर था। सारा दक्षिणी और पश्चिमी यूरोप स्पेन के उत्तराधिकार के युद्ध में व्यस्त था। स्वीडन के किशोर शासक चार्ल्स से आशा नहीं थी कि वह अपनी रक्षा कर सकेगा। अतः 1699 में स्वीडन के दुश्मन पड़ोसियों, डेनमार्क और रूस ने उसके विरुद्ध एक सन्धि कर ली। जर्मनी के कुछ राज्य इसमें शामिल होना चाहते थे लेकिन मौके पर मुकर गये। स्वीडन के दुश्मनों ने उसके शासक की सम्भावनाओं को नहीं समझा था।

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दो दशकों में 'उत्तर का महायुद्ध' लड़ा गया। इसके पहले कि उसके दुश्मन उस पर संगठित हमला करें चार्ल्स जान पर खेलता उन पर टूट पड़ा। डेनमार्क के राजा ने घबड़ा कर उससे सन्धि कर ली। वह बाल्टिक के पूर्वी तट पर पहुँचा और उसने पीटर की सेना को नार्वा के युद्ध में पराजित ही नहीं किया उसका विनाश कर दिया। दक्षिण की ओर मुड़ कर उसने पोलैण्ड, रूस और सैक्सनी की सेनाओं को पीछे भागने पर मजबूर कर दिया। पोलैण्ड में उसने अपनी इच्छा से स्टैनिसलॉस को शासक बनवाया। उसकी सेनाओं ने सारे क्षेत्र को रक्तरंजित कर दिया। उसे उत्तर का 'विक्षिप्त' कहा जाने लगा। उसने घोषणा कर दी कि 'भले ही मासूम लोगों को कष्ट हो पर अपराधी बचने न पायें' (Better that the innocent suffer than that the guilty escape)। ऐसी नीति का परिणाम होता है 'प्रतिहिंसा'।

वह बहादुर चाहे जितना हो परिपक्व नहीं था। वह पोलैण्ड में आवश्यकता से अधिक उलझता गया। उधर पीटर ने नये सिरे से तैयारी की। उसने सेना का पुनःसंगठन किया। चार्ल्स को हराना रूस के जीवन-मरण का प्रश्न बन गया। अब चार्ल्स रूस की ओर मुड़ा। इधर वह पोलैण्ड से हटा उधर स्टैनिसलॉस को पदच्युत कर दिया गया। चार्ल्स अन्धाधुन्ध हमले की नीति का प्रेमी था। उसने रूस पर अचानक हमला किया लेकिन वह राजधानी मास्को तक नहीं पहुँच सका। दक्षिण की ओर मुड़ते ही उसकी पीटर से पोल्तावा नामक स्थान पर मुठभेड़ हो गई। नार्वा का एक-एक कर बदला लिया गया। स्वीडी सेना काट कर फेंक दी गई। चार्ल्स कुछ अनुयायियों के साथ जान बचा कर दक्षिण की ओर भागने पर मजबूर हो गया। उसने तुर्की

में जा कर शरण ली। उसने तुर्क सम्राट् को रूस के विरुद्ध भड़काया। रूस और तुर्की की दुश्मनी बढ़ चली थी लेकिन पीटर ने तुर्की से समझौता कर लिया। अब चार्ल्स का तुर्की में रहना असम्भव हो गया। उसका साहस दुर्दम्य था। वह बिना किसी सैनिक सहयोग के अकेले स्वीडन लौटा। अपने चकित देशवासियों को उसने फिर संगठित किया। लेकिन उसके दुश्मन चौकन्ने थे। उसके दुश्मनों की संख्या बढ़ गई थी। यूटरेक्ट की सन्धि हो चुकी थी। लूई मर चुका था। अब सब को फुरसत थी इधर ध्यान देने की। इंग्लैण्ड और प्रशा भी अब स्वीडन के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो गए। इतने सारे दुश्मनों से एक साथ लड़ने के लिए चार्ल्स कृत संकल्प था। वह समझौता कर ही नहीं सकता था। वह तो 'पूरा या कुछ नहीं' की नीति का समर्थक था। लेकिन यह जिद और दुस्साहस उसे ले डूबा। 1718 में वह केवल छत्तीस वर्ष की उम्र में सारे योरोप को चकाचौंध करता हुआ एक पुच्छलतारे की तरह से अस्त हो गया।

उसके मरते ही स्टॉकहोम की सन्धि द्वारा स्वीडन को पीछे ढकेल दिया गया। उसके बाल्टिक पार के सारे क्षेत्र उसके दुश्मनों ने बांट लिये। जर्मनी में केवल पोमेरंनिया का एक हिस्सा छोड़ कर उसने सब कुछ खो दिया। अब वह एक सामुद्रिक शक्ति भी नहीं रहा। पीटर ने स्वीडन के विध्वंस और पतन की नींव पर उत्तरी यूरोप में रूस के उत्कर्ष की नींव रखी।

चार्ल्स का उत्थान और पतन वास्तव में एक धूमकेतु की तरह हुआ। व्यक्तिगत शौर्य में उसका स्थान अद्वितीय है। लेकिन व्यक्तिगत शौर्य का बृहत्तर संदर्भों में कोई महत्त्व नहीं होता। वह एक बेमिसाल सैनिक और सेनापति था लेकिन एक शासक के गुण उसमें नहीं थे। प्रारंभिक सफलताओं ने उसका सिर फिरा दिया था। वह सारी राजनीति केवल युद्ध के संदर्भ में करता था। युद्ध राजनीति की एक अभिव्यक्ति हो सकता है, स्वयं में पूर्ण राजनीति नहीं हो सकता, इसलिए चार्ल्स एक चमत्कार बन कर रह गया। उसकी उपलब्धि वास्तविक न बन सकी। यह भी कहा जाने लगा कि वह तो गद्दी पर बैठा डॉन क्विकजॉट था (A Don Quixote promoted to throne)।

स्वीडन ने सत्रहवीं शताब्दी में जितनी तेजी के साथ उन्नति की थी, अठारहवीं में उससे भी तेज गति से वह अवनति के गर्त में खो गया। बीसवीं शताब्दी में एक नये स्वीडन का जन्म हुआ है जिसके लिए और ही परिस्थितियां जिम्मेदार थीं। स्वीडन के उत्थान का तब कोई आधार नहीं बन पाया था। वहां के योद्धा शासक देश की आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था को संगठित नहीं कर पाये थे। चारों ओर महत्त्वाकांक्षी पड़ोसियों से घिरे स्वीडन के शासक कूटनीति से काम लेना नहीं जानते थे। एक साथ आखिर कितने दुश्मनों से

लड़ते ? उनके दुर्भाग्य से उसी समय पीटर जैसा प्रतिभाशाली, यथार्थवादी और दूरदर्शी शासक उनका प्रतिद्वन्द्वी हो गया। रूस स्वीडन से और रूस के शासक स्वीडन के शासकों से अधिक समर्थ थे। इसलिए रूस ने ही स्वीडन को परास्त कर उसे पतनोन्मुख बनाया। यह एक विडम्बना ही है कि एडॉल्फस और चार्ल्स जैसे प्रतिभाशाली नाम स्वीडन के उत्थान और पतन से एक साथ जुड़ जाते हैं। उन्होंने जो उत्थान किया वह सतही और क्षणिक था। पतन के कारण उन्होंने दूर नहीं किये, उल्टे उन्हें बढ़ाया ही। यही कारण है कि स्वीडन का सत्रहवीं शताब्दी का इतिहास महत्त्वपूर्ण घटनाओं और व्यक्तियों से भले ही भरपूर हो, महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों से शून्य है।

आठवाँ अध्याय

प्रबुद्ध निरंकुशता

लूई चतुर्दश ने सत्रहवीं शताब्दी में राजतन्त्र की निरंकुशता को एक नई दिशा दी थी। उसे इंग्लैण्ड को छोड़कर यूरोप के सभी देशों के राजपरिवार अनुकरणीय समझते थे। राजतन्त्र में निरंकुशता की प्रवृत्ति तो होती ही है। अब उसे एक ऐसा आदर्श मिल गया था, जिसकी नकल करके सभी राजा उतने ही महिमामय बनने को लोलुप थे। लेकिन इसी बीच एक और बात हुई थी। अठारहवीं शताब्दी में ऐसी स्वेच्छाचारिता की आलोचना भी होने लगी थी। विचारकों ने उदारता और सुधार की बातें करनी शुरू कर दी थीं। समाज का एक वर्ग प्रबुद्ध होने लगा था। ऐसा साहित्य, इतिहास और दर्शन लिखा जा रहा था जो तत्कालीन समाज में परिवर्तन का इच्छुक था। आज इतिहास में उस काल को 'ज्ञानोदय' का काल कहते हैं। इस वैचारिक परिवर्तन का असर कुछ शासकों पर भी पड़ा। वे अपनी निरंकुशता छोड़ने को तैयार नहीं थे लेकिन उनके दृष्टिकोण में यह परिवर्तन अवश्य आया कि अब वे जिन पर शासन करते थे उनके प्रति भी सहानुभूति रखने लगे, उनके प्रति अपने उत्तरदायित्व की बात करने लगे। इस परिवर्तित दृष्टिकोण का सबसे स्पष्ट प्रमाण इस बात में मिलता है कि जहाँ लूई कहा करता था, 'मैं ही राज्य हूँ', वहाँ प्रशा का शासक कहने लगा, 'मैं राज्य का प्रथम और प्रमुख कर्मचारी हूँ।'

यह कोई नवीन बात नहीं थी। चीन में **कन्फ्यूशस** और यूनान में **अफलातून** (**प्लेटो**) ने बहुत पहले कवि-राजा और दार्शनिक-राजा (Poet or Philosopher King) की कल्पना की थी। उनका विचार था कि यदि राजा कवि की तरह संवेदनशील हो या दार्शनिक की तरह विचारवान हो तो वह सबके हित में उदारतापूर्वक राज्य करेगा। इस आदर्श के उदाहरण इतिहास में बहुत कम मिलते हैं। ऐसे शासक कम तो हुए ही हैं, जब हुए भी हैं तो उन्हें बहुत सफलता नहीं मिली। लेकिन ऐसे शासक अवश्य हुए हैं जो प्रजाहित के प्रति जागरूक थे। भारतवर्ष में अशोक से शेरशाह तक ऐसे कई उदाहरण मिल

जायेंगे। यूरोप में भी पहले कई जागरूक शासक हुए थे। पर अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक साथ कई ऐसे शासक हुए और पहले की स्वेच्छाचारिता के मुकाबले में उसे प्रबुद्ध निरंकुशता का काल कहा जाने लगा।

इस काल में सबसे प्रमुख बात यह थी कि शासक सिद्धान्ततः यह स्वीकार करने लगे कि शासन शासित लोगों के हित में होना चाहिए। लेकिन यह हित क्या है इसका निर्णय जनता या उसके प्रतिनिधि नहीं कर सकते थे। यह राजा की अपनी इच्छा पर निर्भर था। पूरी व्यवस्था ऐसी थी जिसकी तुलना उस परिवार से की जा सकती है जिसमें पिता अपने पुत्रों के हित की बात सोचे, जो मुनासिब समझे करे लेकिन यदि पुत्र स्वयं कोई बात उठाये, कुछ करना चाहे, तो पिता नाराज हो जाय और सजा दे। इस तरह इस काल में सुधार तो हुए पर वे सतही साबित हुए।

इस व्यवस्था की प्रमुख आलोचना यह होती है इस समय किये गए सुधार अस्थायी हुए, क्योंकि उनका कोई वैचारिक आधार नहीं था। इन सुधारों के लिए वातावरण नहीं तैयार किया गया था। ये ऊपर से थोप दिये गये थे, इसलिए इन्हें जबरदस्ती बनाये रखना पड़ता था। एक शासक उदार हुआ तो वह सुधार करता था और उसका अनुदार उत्तराधिकारी उसे फौरन बदल सकता था। किसी भी परिवर्तन के लिए आवश्यक वातावरण बनाने और तद-नुकूल कानून और संस्थाएं बनाने की आवश्यकता होती है। परिवर्तन के लिए शासनतन्त्र में परिवर्तन करने पड़ते हैं। इस काल में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। इस व्यवस्था के संदर्भ में ऑस्ट्रिया में **मारिया थेरेसा** और **जोसेफ द्वितीय**, स्पेन में **चार्ल्स तृतीय**, पुर्तगाल में **पोंबाल**, रूस में **पीटर** और **कैथरिन** तथा इनमें सबसे प्रख्यात **फ्रेडरिक महान्** को याद किया जाता है। इनमें से कुछ शासकों का विस्तार से अध्ययन करने पर ही प्रबुद्ध निरंकुशता का मूल्यांकन हो सकता है।

जोसेफ द्वितीय

आस्ट्रिया की महारानी मारिया थेरेसा ने पहले पति और बाद में अपने पुत्र जोसेफ के शासन-काल में थोड़े उदार परिवर्तन किये थे। साहित्य और कला को संरक्षण दिया था। लेकिन वास्तविक कार्य उसकी मृत्यु के बाद सम्राट् जोसेफ द्वितीय ने ही किये। 1780 से दस वर्षों तक उसने अभूतपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। वह अपने समय के विचारकों विशेषकर **वोल्तेयर** और **रूसो** का प्रशंसक था। आदर्शवादिता के प्रवाह में उसने यह भी कहना शुरू कर दिया था कि 'मैंने दर्शन को ही अपने राज्य का विधायक बना दिया है।' (I have made philosophy the legislator of my empire.) लेकिन कार्य तो दर्शन को नहीं उससे प्रेरित लोगों को ही करने थे। व्यावहारिकता की कमी के कारण उसके आदर्श सफल नहीं हो सके।

उद्देश्य : जोसेफ अपने साम्राज्य को एकरूपता देना चाहता था। उसका आधार वह शासन और भाषा को बनाना चाहता था। इसके लिए वह प्रान्तीय स्वायत्तता और प्रतिनिधि सभाओं का अन्त करके केन्द्रीकरण करना चाहता था और राज्य में जर्मन भाषा को अनिवार्य करके भाषागत एकता स्थापित करना चाहता था। धार्मिक कट्टरता के स्थान पर वह सहिष्णुता की नीति के पक्ष में था। सामन्तों का दमन करके वह साधारण जनता के हितों में कार्य करना चाहता था। सिद्धान्ततः ये नीतियाँ ठीक थीं। लेकिन कोई भी सुधार देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार ही हो सकता है और जोसेफ ने अपने राज्य की वास्तविकताओं की उपेक्षा की।

सुधार : सबसे पहले उसने पूरे साम्राज्य को एकरूपता देने का प्रयास किया। आस्ट्रिया के अधीन सारे राज्यों को एक राज्य बना कर उसे तेरह प्रान्तों में बाँट दिया गया जहाँ केन्द्रीय प्रशासक नियुक्त किये गए। राज्य में किसी भी प्रतिनिधि सभा को मान्यता नहीं दी गई। स्थानीय संस्थाओं जैसे म्युनिसिपल बोर्ड तक का कोई अधिकार नहीं रह गया। सारे देश में जर्मन को राजभाषा घोषित कर दिया गया। राष्ट्रीय सेना के लिए सैनिक सेवा अनिवार्य कर दी गई। किसानों को भी एक निश्चित समय के लिए सेना में कार्य करना पड़ता था। इन सुधारों के द्वारा वह एक संगठित तन्त्र बनाना चाहता था जिसके सहारे वह पूरे साम्राज्य पर अपनी निरंकुशता के साथ शासन कर सके।

जनहित के सुधारों के क्षेत्र में उसने अर्धदासों (Serfs) को स्वतन्त्र करने का आदेश दिया। वे अब जमीन रखने और अपनी इच्छा के अनुसार पारिवारिक जीवन बिताने के लिए स्वतन्त्र हो गए। उसने दीवानी और फौजदारी के कानून संकलित करवाये। न्याय-व्यवस्था कम खर्चीली और सरल बनाई गई। सजा के नाम पर उत्पीड़न की परम्परा समाप्त कर दी गई और मृत्यु-दण्ड भी बहुत कम दिये जाने लगे। न्यायालयों का पुनःसंगठन किया गया। कानूनी विवाह अनिवार्य हो गया।

धार्मिक क्षेत्र में भी उसने साहसपूर्ण सुधार किये। आस्ट्रिया कैथोलिक देश था। सम्राट् लोग परम्परागत रूप से पोप और चर्च के समर्थक होते थे। जोसेफ ने रोम के हस्तक्षेप का अधिकार कम कर दिया। हर वर्ष रोम जाने वाली रकम भी बंद कर दी गई। धार्मिक मठों के विदेश धन भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। बहुत सारे मठ समाप्त कर दिये गए। कुछ को जनहित के कार्यों में लगा दिया गया। पादरी वर्ग के लिए विशेष शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। सभी धर्मों के अनुयायियों को धार्मिक स्वतन्त्रता दे दी गई। यूरोप में पहली बार यहूदियों को भी सारे अधिकार दे दिये गए। धर्म के नाम पर दिये जाने वाले दण्ड समाप्त कर दिये गए।

सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र भी अछूते नहीं रहे। कर मुक्त लोगों पर कर लगाया गया। औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन दिया गया। थियेस्त और फिडमे नामक बन्दरगाहों को विकसित किया गया ताकि भूमध्यसागर में व्यापार हो सके। रूस और तुर्की से व्यापारिक सन्धियाँ की गईं।

जब उसकी किसी नीति को उचित समर्थन नहीं मिला, उल्टे विरोध होने लगा तो उसे बहुत क्षोभ हुआ। उसका विचार था कि उसने तर्कसंगत कार्य किये थे और वे जनहित में थे लेकिन जब प्रशंसा के स्थान पर उसे आलोचना सुननी पड़ती थी तो वह अकृतज्ञ लोगों को सजा देने पर भी आमादा हो जाता था। उसका ख्याल था कि विरोध करने वाले लोग सामन्त, चर्च, मध्यवर्ग या किसान, किसी कुटिल उद्देश्य के कारण ही उचित नीतियों का विरोध करते हैं। लेकिन यह तो उसकी मासूमियत थी या भोलापन था कि वह जो भी सुधार करेगा वह बिना एक पृष्ठभूमि बने स्वीकार कर लिया जायेगा।

पवित्र रोमन साम्राज्य में बहुत-सी जातियाँ रहती थीं जो अनेक भाषाएँ बोलती थीं। साम्राज्य पूरे यूरोप का एक छोटा रूप था। यह सर्वविदित है कि व्यक्ति का अपनी जाति और भाषा से आधारभूत लगाव रहा है। सोलहवीं शताब्दी से भाषा और राष्ट्रीयता और भी महत्त्वपूर्ण बन्धन बन गए थे। जोसेफ ने जब ये सारी विभिन्नताएँ समाप्त करनी चाहीं तो स्वाभाविक था कि उसका विरोध होता। इस प्रकार पूरे साम्राज्य को एक राष्ट्र बनाने का कृत्रिम प्रयोग असफल हो गया।

अपने साम्राज्य में रहने वालों की धार्मिक विभिन्नता के कारण उसने सहिष्णुता की नीति अपनाई थी लेकिन वह तो कट्टरता का युग था। उसके राज्य में बहुमत कैथोलिक लोगों का था और वे जोसेफ की नीति को ढुलमुल और कैथोलिक विरोधी समझने लगे। पोप स्वयं वियेना आया लेकिन पोप और जोसेफ के सम्बन्ध सामान्य नहीं हो सके।

वैदेशिक नीति में वह पश्चिम से हट कर पूरब और दक्षिण-पूर्व में रुचि लेना चाहता था। वह नीदरलैण्ड्स छोड़कर बाल्कन प्रायद्वीप की ओर बढ़ना चाहता था। इस नीति का भी जर्मन राज्यों में विरोध हुआ। नीदरलैण्ड्स का यह दक्षिणी हिस्सा हालैण्ड की स्वतन्त्रता के बाद अपने को परतन्त्र समझने लगा था। जब अमेरिका की स्वतन्त्रता की घोषणा हो गई तो यहां भी आग भड़की। जब फ्रांस की क्रान्ति हुई तो उन्हें और बल मिला। जोसेफ ने इन्हें दबाना चाहा। लेकिन अमेरिका की तरह इन्होंने भी स्वतन्त्रता की एकतरफा घोषणा कर दी।

मूल्यांकन : इतिहास में प्रायः यह हुआ है कि शासक प्रतिक्रियावादी रहे हैं और जनता ने जब सुधारों की मांग की है तो उसका दमन हुआ है। जोसेफ के समय बात उलट गई थी। वह स्वयं प्रगतिशील था लेकिन उसकी प्रजा

तैयार नहीं थी। उसने प्रतिक्रियावादी रुख अख्तियार कर लिया था। ऐसा इतिहास में कई बार हुआ है। भारतीय इतिहास में इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण मुहम्मद तुगलक प्रस्तुत करता है। उसकी नीतियाँ तर्क की कसौटी पर खरी उतरती हैं। वे काम कितने ही शासकों ने किये हैं और ख्याति पाई है। लेकिन जब मुहम्मद तुगलक ने ये सुधार करने चाहे थे तो देश उनके लिए तैयार नहीं था। उसके पास वह प्रशासकीय तन्त्र भी नहीं था जिसके सहारे वह अपनी नीतियों को कार्यान्वित करता। नतीजा यह निकला कि उसके कर्मचारियों, सामन्तों और कहीं-कहीं जनता ने भी उसका विरोध किया और कुछ इतिहासकार गैर जिम्मेदार ढंग से उसे 'पागल' तक कहने लगे। वास्तविकता यह थी कि उसने वक्त से पहले बिना किसी तैयारी के ऐसे सुधार करने चाहे थे, जिन्हें स्वीकार करने के लिए मानसिक स्तर पर समाज तैयार नहीं था। ऐसी स्थिति में असफलता अनिवार्य थी। एक और उदाहरण से बात स्पष्ट हो सकती है। भारत में सती-दाह प्रथा बहुत पुरानी थी। अल्बुकर्क, अकबर और कई अन्य शासकों ने नारियों के जलने-जलाने वाली इस प्रथा का अन्त करना चाहा था लेकिन वे असफल हुए थे। उन्नीसवीं शताब्दी में जब राजा राममोहन राय और विलियम बेंटिंक ने इसका अन्त करना चाहा तब भी विरोध हुआ। लेकिन इस समय मानसिक परिवर्तन हो रहा था और सरकार के पास ऐसा तन्त्र था कि कानून बनते ही उसे लागू करवाया जा सका। यह छोटा कार्य था और इसके लिए सरकार पर्याप्त थी। लेकिन जब एक बड़ा सुधार करना हुआ तो कानून बना और असफल हो गया। बाल-विवाह के विरुद्ध अंग्रेजों के जमाने मे ही शारदा ऐक्ट पास हो गया था लेकिन आज भी नन्हे-मुन्ने दूल्हे सरेआम बाजे-गाजे के साथ शादी करने जाते हैं और सरकार कुछ नहीं करती। कारण स्पष्ट है। गाँवों की जनता इसके विरुद्ध नहीं हो पाई है और कानून सख्ती से लागू नहीं किया जाता।

इस संदर्भ में जोसेफ को देखें तो उसे समझना आसान होगा। साम्राज्य के विभिन्न राष्ट्रों और भाषाओं के स्थान पर एकरूपता स्थापित होने के कार्य हुए हैं और हो रहे हैं। रूस म आज बहुत सारी भाषाओं और राष्ट्रीयताओं के लोग एक ही राज्य और राजभाषा के अन्तर्गत रहते हैं। भारतवर्ष में भी अंशतः प्रयोग हो रहा है। धार्मिक सहिष्णुता आज सर्वमान्य नीति है। वैदेशिक सम्बन्धों में भी जोसेफ का विश्लेषण ठीक था। पश्चिम में कई प्रतिद्वन्द्वी थे। बाल्कन प्रायद्वीप में तुर्की साम्राज्य के पतन से एक शून्य पैदा हो रहा था जिसे आस्ट्रिया भर सकता था। और यही हुआ भी। जब नेपोलियन ने आस्ट्रिया को पराजित किया तो उसने उसे दक्षिण-पूर्व की ओर मोड़ दिया ताकि पश्चिम में फ्रांस निर्द्वन्द्व हो सके।

लेकिन किसान सैनिक सेवा से नाराज थे। सामन्त अपने अधिकारों में कमी के कारण क्षुब्ध थे। मध्यमवर्ग के लोग उद्योग और व्यवसाय में राज्य का हस्तक्षेप नापसन्द करते थे। पादरी लोग उसकी धार्मिक नीति से असन्तुष्ट थे। ऐसे में समाज के किसी वर्ग से उसे समर्थन नहीं मिला। उसके कर्मचारियों के लिए उसके विचार 'यूरोपियन' थे। फिर वह अकेले क्या करता ? किसके बल पर अपनी नीतियों को कार्यान्वित करता ? अपने शासन के अन्तिम दिनों में उसने अपने बहुत सारे सुधार वापस ले लिये। फिर भी उसके कुछ कार्य स्थायी साबित हुए। अर्धदासों को मुक्त करके उसने समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को सामान्य जीवन जीने का अवसर दिया। धार्मिक सहिष्णुता की नीति भी अन्ततोगत्वा राज्य की स्थायी नीति बन गई। उसके कुछ आर्थिक सुधार भी स्थायी साबित हुए लेकिन सफलता की दृष्टि से फ्रांस की क्रान्ति हो जाने पर लोगों की दृष्टि फ्रांस पर अधिक पड़ी, आस्ट्रिया पर नहीं। इस तरह अपनी सारी प्रबुद्धता के बावजूद वह न केवल असफल हुआ, उसे उचित मान और प्रशंसा भी नहीं मिली।

जोसेफ का समकालीन फ्रेडरिक उसकी अपेक्षा अधिक यथार्थवादी था। इसलिए वह सफल भी हुआ और प्रसिद्ध भी। जोसेफ जो निश्चित ही फ्रेडरिक से अधिक जागरूक और अधिक उत्साही था, जो अपने समय के शासकों में सबसे अधिक आदर्शवादी था, निरन्तर इसी चिन्ता में डूबा रहता था कि इतनी मुसीबतों और परिश्रम के बाद भी उसने जितने लोगों को सुखी बनाया उससे अधिक लोगों को उसने नाराज किया। मरने से पहले निराश जोसेफ ने अपने अधिकांश सुधारों को समाप्त करने की आज्ञा दे दी। और अपनी कब्र पर खुदवाने के लिए एक वाक्य चुना, 'इस आदमी ने अपनी सारी सदाशयता के बावजूद कभी सफलता नहीं पाई' (Here lies the man who, with the best intentions, never succeeded in any thing.)। यह समाधि-लेख जोसेफ के जीवन की 'ट्रेजडी' का परिचायक है। उस जैसे अनेक शासक, जो समय की यथार्थताओं और अपने आदर्शों का समन्वय नहीं करते और अन्तर्विरोधों में जीते हैं उनका भी यही हाल हुआ है और होगा। एक तरफ प्रजाहित का आदर्श, दूसरी ओर प्रजातन्त्र का कट्टर विरोध करके जोसेफ कैसे सफल हो सकता था ?

फ्रेडरिक महान्

प्रशा को पराजित करने के बाद नेपोलियन सारे जर्मनी के शासकों द्वारा लाये गए उपहारों के बीच घूम रहा था। सारा हॉल सजे सजाये व्यक्तियों और बहुमूल्य उपहारों से जगमगा रहा था। दुनिया की दौलत उसके कदमों

पर थी। लेकिन नेपोलियन केवल एक वस्तु के सामने रुका और उसने आदरपूर्वक उसे उठाकर अपनी कमर में बाँध लिया। वह थी प्रशा के भूतपूर्व शासक फ्रेडरिक महान् की तलवार। नेपोलियन जैसे असाधारण विजेता ने फ्रेडरिक को अकारण यह सम्मान नहीं दिया था। प्रशा जर्मनी का राजपूताना था, जहाँ के योद्धा सारे यूरोप में विख्यात थे। फ्रांस का राजनेता मिराबी कहा करता था, 'युद्ध तो प्रशा का राष्ट्रीय उद्योग है।' फ्रेडरिक से पहले कई विजेता शासक हुए थे। लेकिन फ्रेडरिक पहला शासक था जिसने प्रशा को यूरोप की एक महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया।

सत्रहवीं शताब्दी तक प्रशा ब्रैण्डेनबर्ग कहलाता था। तीस वर्षीय युद्ध में जर्मनी में विनाश हुआ था। किन्तु जब वेस्टफेलिया की सन्धि हुई तो ब्रैण्डेनबर्ग और शक्तिशाली होकर उभरा। उस समय शासक 'एलेक्टर' कहलाता था। एलेक्टर फ्रेडरिक विलियम ने अपने राज्य की महानता की नींव रखी। उसने सेना और नौसेना को संगठित किया। अपने राज्य की आर्थिक उन्नति पर ध्यान दिया। एक सहिष्णु नीति द्वारा उसने अपनी प्रजा के हर वर्ग को सन्तुष्ट रक्खा। मरने से पहले ब्रैण्डेनबर्ग को जर्मनी के सैकड़ों छोटे-बड़े राज्यों में सबसे महत्त्वपूर्ण बना दिया था। यूटरेक्ट की सन्धि में ब्रैण्डेनबर्ग के शासक को प्रशा का राजा स्वीकार कर लिया गया और वह अपनी भावी महानता की ओर एक कदम और आगे बढ़ गया।

प्रशा के इसी राजपरिवार में एक ऐसा राजकुमार था जिसे तलवार से अधिक बाँसुरी पसन्द थी, जो शिकार खेलने की जगह जंगलों और खेतों में प्रकृति के लुभावने रहस्यों में खोया रहता था। इस राजकुमार फ्रेडरिक को कविता, संगीत और दर्शन से प्रेम था। जहाँ शासक के शिकार, कूटनीति और युद्ध जैसी चीजों से लगाव की परम्परा हो, वहाँ ऐसे राजकुमार को नालायक करार देना स्वाभाविक था। फ्रेडरिक फ्रेंच भाषा का प्रेमी था और फ्रांस के साहित्य में रमा रहता था। वह स्वयं कविता करता था और बाँसुरी बजाता घण्टों दीन दुनिया से दूर खोया रहता था। निराश बाप ने उसे जबरदस्ती अनुशासन में रखने की योजना बनाई। उसे घुड़सवारी सिखाई गई। शासन के विभिन्न पहलुओं की उसे शिक्षा दी गई। फ्रेडरिक में लगन तो थी ही। इधर मन लगा तो यहाँ भी हर क्षेत्र में पटु होता चला गया। लेकिन इस कठोर अनुशासन से वह त्रस्त था। एक ही सांत्वना थी। उसका शिक्षक काट्ट एक उदार व्यक्ति था और फ्रांसीसी विचारों को पढ़ने के लिए उसे प्रोत्साहित करता रहता था। फ्रेडरिक ने ऊब कर भाग जाना चाहा लेकिन पता चल गया और काट्ट को फाँसी दे दी गई। फिर तो फ्रेडरिक, अपने बाप से घृणा करता और उसी के द्वारा निर्धारित कार्यक्रम का पालन करता, घुटता रहा।

1740 में जब उसका पिता मरा और वह शासक बना तो कोई आश्वस्त नहीं था कि वह क्या करेगा लेकिन करीब आधा शताब्दी शासन करने के बाद जब वह मरा तो सीमा विस्तार के बाद प्रशा न केवल क्षेत्रफल में बल्कि शक्ति में भी बहुत बढ़ गया था। यूरोप की बड़ी शक्तियों में उसकी गणना होने लगी थी।

राजत्व का सिद्धान्त : प्रबुद्ध शासकों में फ्रेडरिक का स्थान सर्वोच्च है। उसने अठारहवीं शताब्दी में हुए परिवर्तनों का अध्ययन किया था। विशेषकर फ्रांस के लेखकों की वह प्रशंसा करता था। वोल्तेयर से उसका पत्र-व्यवहार था और शासक होने के बाद वोल्तेयर उसके दरबार में अभिन्न मित्र की तरह कुछ दिन रहा भी। फ्रांस से वह इतना प्रभावित था कि जीवन भर अपनी मातृभाषा जर्मन से अधिक फ्रेंच को महत्त्व देता रहा। उसने अपने राजनैतिक विचार फ्रेंच भाषा में ही लिख डाले (Essay on Forms of Government)। उसके विचारों का सारांश यही था कि जो स्थान व्यक्ति के शरीर में मस्तिष्क का है, वही स्थान राष्ट्र में राजा का है। (The Prince is to the nation he governs what the head is to the man).

इस प्रकार राजा की सर्वोच्चता और प्रमुखता को उसने स्थापित किया लेकिन लूई चतुर्दश की तरह नहीं। वह उसकी तरह यह नहीं कहता था – L'etat c'est moi (मैं ही राज्य हूँ)। वह कहता था Le souverain est le premier serviteur de l'etal' (शासक राज्य का प्रथम कर्मचारी होता है)। वह भी लूई की ही तरह निरंकुश बना रहा और उसने प्रजा को अपनी बात कहने का अधिकार नहीं दिया। लेकिन वह प्रजा के प्रति जिम्मेदार बना रहा। उसने भी कम युद्ध नहीं लड़े। लेकिन उसने देश को एकदम बरबाद नहीं किया। उसमें भी लूई से कम अहम् नहीं था लेकिन वह उतना स्वार्थी और आत्मकेन्द्रित नहीं था जितना लूई। राज्य के उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में वह सारी शक्ति लगा देता था। दिन रात परिश्रम करता था। लूई की तरह भोग-विलास और प्रदर्शन में उसकी कोई रुचि नहीं थी। अपव्यय को वह अपराध मानता था। वह जोसेफ की तरह आदर्शवादी भी नहीं था। उसने सिद्धान्तों को महत्त्व दिया लेकिन एक यथार्थवादी की तरह उसने प्रजा के हित के कार्य किये, लेकिन वे ही जिन्हें उसने उचित समझा। उन्हें स्वयं अपनी बात कहने या प्रजातान्त्रिक संस्थाएँ बनाने का अधिकार कभी नहीं मिला। दूसरे वह अपने राज्य में सिद्धान्तों की थोड़ी परवाह भी करता था लेकिन प्रशा की सीमाओं के विस्तार के लिए वह किसी भी सिद्धान्त का परित्याग कर सकता था। इस प्रकार राजा को वह दैवी अधिकारों से सम्पन्न नहीं कहता था, लेकिन वह मानता था कि राज्य के ही हित के लिए उसे पूरी

तरह निरंकुश होना चाहिए, राजा के अधिकारों या कर्तव्यों के विषय में कोई प्रश्न नहीं उठा सकता था। यह राजा का कर्तव्य था कि वह राज्य के लिए, प्रजा के लिए, कार्य करे लेकिन उस के कर्तव्यों का निर्धारणकर्ता भी वह स्वयं ही था। इसलिए उसका सिद्धान्त इंग्लैण्ड के संवैधानिक राजतन्त्र और फ्रांस के स्वेच्छाचारी राजतन्त्र के बीच का प्रबुद्ध राजतन्त्र था।

आन्तरिक नीति : अपने शासन के प्रारम्भ से ही फ्रेडरिक युद्धरत हो गया, लेकिन अन्य शासकों की तरह वह युद्ध के समय कृषि और उद्योग को भुला नहीं देता था। युद्धों ने उसके आर्थिक सुधारों को अवरुद्ध नहीं किया। सत्रहवीं शताब्दी से ही कृषि के क्षेत्र में भी पूँजीवादी प्रवृत्तियाँ बढ़ रही थीं। इंग्लैण्ड में भारी पैमाने पर वैज्ञानिक ढंग से खेती हो रही थी जिससे व्यावसायिक लाभ होता था। फ्रेडरिक ने भी इस पद्धति को प्रशा में शुरू किया। दलदल सुखाये गए और किसानों, जमींदारों को वैज्ञानिक ढंग से खेती करने के लिए प्रोत्साहित किया गया। पहली बार आलू की खेती बड़े पैमाने पर शुरू हुई और आज भी आलू जर्मन लोगों का मुख्य भोजन है। फलों के वृक्ष लगाये गए। पशुपालन को बढ़ावा दिया गया। उसने अर्धदास जैसे किसानों को मुक्त नहीं किया लेकिन उनकी स्थिति में सुधार हुआ। करों का बोझ कम हुआ। सड़कों और नहरों के कारण गाँवों की दशा सुधरी। नये गाँव बसाये गए। धार्मिक असहिष्णुता के कारण जहाँ यूरोप के अन्य देशों से लोग भाग रहे थे फ्रेडरिक ने उनका स्वागत किया। कर वसूली और कर इकट्ठा करने वाले कर्मचारियों पर वह स्वयं नजर रखता था। कर्मचारी सजा से ज्यादा उसकी चुटीली बातों से डरते थे। वह स्वयं एक-एक पैसे का हिसाब रखता था चाहे उसका खर्चा हो या राज्य का, इसलिए दूसरे भी अपव्यय करते डरते थे। इसीलिए नियुक्तियाँ करते समय वह विशेष ध्यान देता था। मध्यवर्ग को एक वर्ग की तरह वह पसन्द नहीं करता था, लेकिन योग्यता को किसी जाति, धर्म या कुलीनता से जोड़ने का वह पक्षपाती नहीं था।

सामान्यतया वह कोल्बेर की रक्षात्मक नीति का समर्थक था। लेकिन कोल्बेर की तरह मध्यवर्गीय प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं देना चाहता था। इसलिए उसकी आर्थिक नीति को कार्यान्वित करने वाले लोग उससे आवश्यक लगाव नहीं महसूस करते थे। वह देश की आत्मनिर्भरता को आवश्यक समझता था। इसीलिए आयात नियन्त्रित था। बाहर से आने वाली चीजों में सबसे अधिक स्वागत कारीगरों का ही होता था। प्रशा में शहतूत के पेड़ भारी संख्या में बाहर से लाकर लगाये गए ताकि रेशम का उद्योग बढ़े। लिनेन का उद्योग भी इसी समय बढ़ा। चीनी मिट्टी के बर्तनों के निर्माताओं को भी प्रोत्साहित किया गया। अपने देश की सैनिक परम्पराओं को आगे बढ़ा कर अपनी आक्रामक

वैदेशिक नीति के लिए भी वह तैयारी करता रहा था। उसने दो लाख की सेना तैयार की जिसकी परेड तक का वह स्वयं निरीक्षण करता था। सैनिकों और सैनिक अफसरों की नियुक्ति, ट्रेनिंग और रख-रखाव पर वह विशेष ध्यान देता था। अच्छे और आधुनिक हथियार इस्तेमाल होते थे। अनुशासन की घुट्टी तो उसके पिता ने ही उसे पिलाई थी। नतीजा यह निकला कि प्रशा की सेना वास्तव में यूरोप में सर्वश्रेष्ठ सेना कही जाने लगी।

उसके प्रजा-प्रेम का उदाहरण न्याय विषयक उसकी तत्परता से प्रकट होता है। वह कानून को बहुत महत्त्व देता था और कहा करता था कि न्याय में कानून को ही मुखर होना चाहिए। इसीलिए उसने कानून को सरल बनवाया और उन्हें संकलित करवाया ताकि उस विषय में कम से कम विवाद हो। शारीरिक उत्पीड़न को उसने बंद करवा दिया। न्याय करने में वह जहाँगीरी ढंग से रुचि लेता था और यदि उसे पता चल जाय कि किसी के साथ न्याय नहीं हुआ है तो वह उल्टे न्यायाधीश को ही दण्ड देता था। इस प्रकार कानून को महत्त्व देकर भी न्याय के क्षेत्र में भी वह अपनी सर्वोच्चता बनाये रखता था। यही कारण है कि अपेक्षतया स्थिति सुधरी लेकिन बहुत सारी कमजोरियाँ बाकी रह गईं।

प्रबुद्धता का एक मानदण्ड होता है सहिष्णुता। उसके विचार इस सम्बन्ध में बिल्कुल स्पष्ट थे। वह जर्मनी में हुए धार्मिक युद्धों के इतिहास से परिचित था। इसलिए वह प्रजा के बहुमत में प्रोटेस्टेण्ट होने पर भी प्रोटेस्टेण्ट चर्च के लिए कोई विशेष उत्साह नहीं रखता था। उसके विचार से स्वर्ग जाने के रास्ते अलग-अलग हैं। जो जिस रास्ते से चाहे जाय। कट्टर कैथोलिक जेसूट लोगों को भी उसके राज्य में छूट थी। वह तो यहाँ तक कहता था कि यदि उसके देश में तुर्क लोग आ बसें तो वह मस्जिदें बनवाने के लिए तैयार था। ऐसा विचार रखने पर भी वह यूरोप की यहूदी विरोधी प्रवृत्ति पर विजय नहीं पा सका और उनका विरोध करता रहा। जर्मनी की इसी यहूदी विरोधी प्रवृत्ति का चरमोत्कर्ष था हिटलर, जिसने इतिहास का सबसे जघन्य अपराध करके साठ-सत्तर लाख यहूदियों की हत्या करवा दी थी।

सांस्कृतिक विषयों में उसकी सहज रुचि थी। राजा बन जाने के बाद उसे समय नहीं मिलता था, फिर भी यथासम्भव वह इस क्षेत्र में सचेष्ट रहता था। उसके अनुरोध पर ही वोल्तेयर उसके दरबार में मित्र की तरह रहने लगा था। लेकिन बाद में दोनों व्यक्तियों में खटपट हो गई क्योंकि दोनों ही स्वाभिमानी और एक हद तक अक्खड़ थे। जब आपस में प्रतिद्वन्द्विता की बात आई तो वोल्तेयर को जाना पड़ा। राजकीय पत्रकों पर भी वह साहित्यिक और विनोदी टिप्पणियाँ लिख दिया करता था। खाने की मेज पर राजनीति

से अधिक साहित्य की चर्चा करना पसन्द करता था। राजधानी बर्लिन में अकादमियाँ स्थापित हुई और लेखकों, कलाकारों को संरक्षण दिया जाने लगा। स्कूलों में बिना किसी भेद-भाव के सब को सुविधा मिलने लगी। विज्ञान में भी उसकी विशेष रुचि थी इसलिए ऐसी परम्पराएँ डाली गईं जिनका विकास होने पर दुनिया के सबसे वैज्ञानिक देशों में जर्मनी गिना जाने लगा।

इस क्षेत्र में सबसे बड़ी दुःखद बात यह थी कि उसे अपनी भाषा जर्मन से कोई प्यार नहीं था। जर्मन एक उन्नत भाषा थी और उसमें **गेटे** जैसा साहित्यकार, जिसे जर्मन का शेक्सपीयर कहते हैं, मौजूद था। लेकिन फ्रेडरिक गेटे का फ्रेंच अनुवाद तक पढ़ने के लिए नहीं तैयार था। फ्रांस जिससे उसने भयानक युद्ध भी लड़े, उसकी भाषा के प्रति मोह उसकी सांस्कृतिक गुलामी का प्रतीक था। उसकी मानसिकता की तुलना आज के बहुत से भारतीयों से की जा सकती है जो अंग्रेजों को हिन्दुस्तान का दुश्मन तो बताते हैं, लेकिन समाज में अपनी विशिष्टता जताने के लिए सही गलत अंग्रेजी में बोलते हैं। फ्रेडरिक के समय तक फ्रेंच सम्भ्रान्त लोगों की भाषा बन चुकी थी। सारे यूरोप में उसका सम्मान था। फ्रेडरिक जर्मनी की सांस्कृतिक परम्पराओं से प्रभावित नहीं था। अपने को प्रबुद्ध प्रचारित करवाने के लिए उसने फ्रेंच से विशेष प्रेम बनाये रखा क्योंकि प्रबुद्धता से सम्बन्धित अधिकांश साहित्य फ्रेंच में ही लिखा गया था। किसी भाषा का सम्मान करना एक बात है और उसके मुकाबले में अपनी मातृभाषा से घृणा करना दूसरी। इसके लिए उसके देश के साहित्यकारों ने उसे कभी माफ नहीं किया होगा।

वैदेशिक नीति : शासक होते ही फ्रेडरिक ने हमलावर होने का परिचय दे दिया, उसके देश की सेना संगठित थी ही। आर्थिक स्थिति बुरी नहीं थी और फ्रेडरिक एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। प्रशा की सीमाओं का विस्तार करना उसका लक्ष्य था उसे तुरन्त अवसर भी मिल गया।

आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध : भारतवर्ष में सुल्तान इल्तुतमिश ने अपने अयोग्य पुत्रों के कारण अपनी पुत्री रजिया को सुल्तान बनाना चाहा था। पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् चार्ल्स षष्ठ के न कोई पुत्र था न भाई। दो कमरों का मकान होने पर भी व्यक्ति चिन्तित रहता है कि उसके मरने के बाद वह किसे मिलेगा। ऐसी स्थिति में चार्ल्स की चिन्ता स्वाभाविक थी कि उसके मरने के बाद उसका साम्राज्य उसकी पुत्री **मारिया थेरेसा** को मिले। वह जानता था कि उसकी पुत्री को उत्तराधिकारी नहीं माना जायेगा और उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जायेगा। इसलिए वह जीते-जी एक ऐसी व्यवस्था कर लेना चाहता था जिससे बाद में कठिनाई न हो। उसने इसीलिए उत्तराधिकार के

कानून में संशोधन किया और एक घोषणा की (Pragmatic Sanction) जिसके द्वारा वह यूरोप के अन्य शासकों और साम्राज्य में स्थित राज्यों से आश्वासन चाहता था कि राज्य उसकी पुत्री को ही मिलेगा। धीरे-धीरे अधिकांश राज्यों ने उसकी बात मान ली और वह एक प्रकार से निश्चिन्त हो गया कि उसके बाद मारिया को ही उसका राज्य मिल जायेगा। उसे यह भी विश्वास हो गया था कि मारियाके पति फ्रांसिस को सम्राट् चुन लिया जायेगा। लेकिन मरते ही स्थिति बदल गई। मारिया को इंग्लैण्ड, नीदरलैण्ड्स, रूस, प्रशा और पोप ने मान्यता दे दी। फ्रांस और स्पेन ने देर की। आस्ट्रिया की सेना संगठित नहीं थी, आर्थिक स्थिति डाँवाडोल थी। मारिया को शासन का अनुभव नहीं था। इस स्थिति में यह लगने लगा कि वह आसानी से शासक नहीं बन पायेगी। फ्रांस जिसकी आस्ट्रिया से पुश्तैनी दुश्मनी थी, इस घात में था कि कोई दूसरा चुनौती दे तो वह भी साथ दे दे। फ्रेडरिक कुछ ही महीने पहले सिंहासन पर बैठा था। प्रशा की समृद्धि के लिए साइलेशिया का प्रदेश बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता था। उसकी सेना और आर्थिक स्थिति अपेक्षतया बहुत ठीक थी। महत्त्वाकांक्षी फ्रेडरिक ने देर करना मुनासिब नहीं समझा। बहाना ढूँढ़ लेना मुश्किल नहीं था। लेकिन आज इतिहासकार को इतिहास में ऐसे कम उदाहरण मिलते हैं जब अकारण, बिना कोई औचित्य बताये, कोई इस तरह दूसरे पर हमला कर दे जिस प्रकार फ्रेडरिक ने कर दिया था।

फ्रेडरिक की सेनाओं को साइलेशिया प्रदेश जीतने में कोई कठिनाई नहीं हुई। पहल करने की देर थी। फौरन जर्मनी के कुछ राज्यों जैसे सैक्सनी, बवेरिया तथा स्पेन और फ्रांस ने भी आस्ट्रिया पर हमला बोल दिया। फ्रांस और प्रशा में सन्धि हो गई। फ्रांस ने दक्षिणी साइलेशिया पर प्रशा का अधिकार मानने और सम्राट् के पद के लिए बवेरिया के एलेक्टर चार्ल्स अलबर्ट का समर्थन का आश्वासन दिया। फ्रांस ने स्वीडन को भी युद्ध में घसीटने का वायदा किया।

युद्ध का विस्तार हो गया और बेचारी मारिया हर तरफ से आक्रामकों से घिर गई। इसी बीच चार्ल्स एलबर्ट सम्राट् चुन लिया गया। युद्ध कभी एक के, कभी दूसरे के पक्ष में जाने लगा। फ्रांस और इंग्लैण्ड की पुरानी दुश्मनी का परिणाम यह हुआ कि इंग्लैण्ड भी फ्रांस के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़ा। यहीं से युद्ध विश्वव्यापी हो गया। इंग्लैण्ड और फ्रांस के प्रतिनिधि जहाँ भी थे, लड़ने लगे। इधर प्रशा और आस्ट्रिया में समझौता हो गया। मारिया ने साइलेशिया और ग्लात्स पर प्रशा का कब्जा मान लिया। लेकिन फ्रांस और इंग्लैण्ड की लड़ाई जोर पकड़ रही थी। मारिया ने अपमान का घूँट पी लिया था लेकिन वह साइलेशिया फिर वापस चाहती थी और चार्ल्स को सम्राट् के पद से हटाना

चाहती थी। वह स्वयं कम महत्त्वाकांक्षी नहीं थी। उसकी नजर फ्रांस के लोरेन प्रदेश पर थी। फ्रेडरिक ने फ्रांस से फिर समझौता किया और एक बार फिर साइलेशिया में युद्ध शुरू हो गया। इसी बीच सम्राट् की मृत्यु हो गई। उसका उत्तराधिकारी सम्राट् बनने का इच्छुक नहीं था। मारिया ने जर्मनी के अन्य शासकों से सम्बन्ध सुधारे और उसका पति सम्राट् चुन लिया गया। फ्रेडरिक थोड़ा अकेला पड़ने लगा था। पर वह बराबर युद्ध करता रहा। अन्त में 'ड्रेसडेन' की सन्धि द्वारा आस्ट्रिया ने साइलेशिया पर प्रशा का अधिकार मान लिया और फ्रेडरिक ने मारिया के पति को मान्यता दे दी।

प्रमुख प्रतिद्वन्द्वियों में समझौता हो गया था लेकिन उनके समर्थक अपने अपने हित में बराबर लड़ रहे थे। अन्त में आठ वर्षों के युद्ध के बाद सब समझौते के लिए तैयार हुए और ऐक्स ला शापेल की सन्धि हो गई। इसके अनुसार थोड़े से संशोधन के बाद साम्राज्य पर मारिया का अधिकार (प्राग्मेटिक सैंक्शन) मान लिया गया। साइलेशिया प्रशा को मिल गया। सब ने एक दूसरे के जीते हुए प्रदेश लौटा दिये। भारतवर्ष में फ्रांसीसियों ने अंग्रेजों से मद्रास जीत लिया था। वह वापस अंग्रेजों को मिल गया। बदले में लूइसबर्ग फ्रांस को मिल गया। फ्रांसिस को सबने सम्राट् मान लिया।

इस सन्धि ने ऊपर से सब ठीक कर दिया था लेकिन आधारभूत प्रश्नों का उत्तर नहीं मिला था। संघर्ष तो इस बात का था कि जर्मन क्षेत्र में प्रशा को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलेगा या आस्ट्रिया की प्राथमिकता बनी रहेगी। उपनिवेशों के क्षेत्र में भी इंग्लैण्ड और फ्रांस की प्रतिद्वन्द्विता का कोई हल नहीं निकला था। इसलिए संघर्ष की सम्भावना बराबर बनी हुई थी। इस सन्धि से इतना हो गया कि मारिया और उसके पति के सम्मान और सुरक्षा की गारण्टी हो गई। फ्रेडरिक ने अपनी धाक जमा ली। लेकिन सबसे अधिक नुकसान फ्रांस का हुआ। पतनोन्मुख फ्रांस ने अपने को बर्बाद कर लिया। लूई चतुर्दश के अन्तिम दिनों में जो ह्रास शुरू हुआ था वह बढ़ता ही गया।

कूटनीतिक क्रान्ति : आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध में प्रतिद्वन्द्विता का एक परम्परागत पैटर्न था। आस्ट्रिया और प्रशा की दुश्मनी शुरू हुई। फ्रांस और आस्ट्रिया की दुश्मनी भी पुरानी थी। दुश्मन का दुश्मन दोस्त होता है। इसलिए फ्रांस ने अपने दुश्मन आस्ट्रिया के दुश्मन प्रशा की मदद की। इसी पैटर्न पर इंग्लैण्ड ने अपने दुश्मन फ्रांस के दुश्मन आस्ट्रिया की मदद की। इस प्रकार जो गुट संघर्षरत थे उनमें एक तरफ का रूढ़िवादी फार्मूला सम्बन्धों का आधार बन गया था। वास्तविक लाभ की दृष्टि से यह ठीक नहीं था। इसलिए ऐक्स ला शापेल की सन्धि के बाद हर देश में सन्देह उठने लगा। सभी सम्बन्धों को नये परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश करने लगे।

आस्ट्रिया में मारिया ने प्रशासन को व्यवस्थित किया और वह भविष्य की तैयारी में जुट गई। उसने भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की तत्कालीन स्थिति को समझने की कोशिश की। उसके अधिकांश सलाहकार परम्परागत सम्बन्धों को बनाये रखना चाहते थे। लेकिन प्रसिद्ध आस्ट्रियन राजनीतिज्ञ **कोनित्स** ने एक नया प्रस्ताव रखा कि आस्ट्रिया और फ्रांस अपनी पुरानी दुश्मनी भूलकर मित्र हो जायें, क्योंकि आस्ट्रिया का प्रमुख दुश्मन फ्रांस नहीं प्रशा था, और फ्रांस के अतिरिक्त कोई अन्य विश्वसनीय मित्र नहीं हो सकता था। इंग्लैण्ड आस्ट्रिया की मित्रता के प्रति शिथिल पड़ रहा था, क्योंकि इंग्लैण्ड के प्रमुख हित औपनिवेशिक थे और उस संदर्भ में आस्ट्रिया से कोई खास मदद नहीं मिल पा रही थी।

फ्रेडरिक मनोवैज्ञानिक और अपनी पारिवारिक परिस्थितियों के कारण नारियों के प्रति सम्मानपूर्वक भावना नहीं रखता था। उसके पिता ने जबर्दस्ती उसका विवाह एक मूर्ख और बदसूरत राजकुमारी से करा दिया था जिस कारण फ्रेडरिक का संवेदनशील हृदय हमेशा नारियों से खिन्न रहता था। उसकी कविताएँ मारिया थेरेसा पर तो प्रहार करती ही थीं, रूस की जारीना और फ्रांस की महारानी पर भी व्यंग्य करती थीं। कोनित्स इस बात को जानता था कि ये महिलाएँ फ्रेडरिक से अप्रसन्न हैं। कोनित्स वर्साई में आस्ट्रिया का राजदूत था तो उसने फ्रांस के राजा पर अत्यधिक प्रभाव रखने वाली **पाम्पादूर** को अपने पक्ष में लेना शुरू किया। मारिया उसके प्रभाव में थी ही। इस बीच फ्रेडरिक ने भी अपने ढंग से परिस्थितियों को समझा था। उसके विश्लेषण के अनुसार इस समय इंग्लैण्ड से मित्रता करना आवश्यक था। इंग्लैण्ड आस्ट्रिया की ओर से शिथिल पड़ ही चुका था। अब वह सन्धि के के लिए तैयार हो गया और इंग्लैण्ड और प्रशा में **वेस्टमिंस्टर की सन्धि** हो गई, जिसके द्वारा जर्मनी में विदेशी सेनाओं के प्रवेश को रोकने और आत्म-रक्षा सम्बन्धी गारण्टी देने का निश्चय हुआ। मारिया इससे बहुत नाराज हुई। फ्रांस और प्रशा की सन्धि की अवधि समाप्त हो गई थी और प्रशा फ्रांस के दुश्मन इंग्लैण्ड का मित्र हो चुका था। अब फ्रांस और आस्ट्रिया के सम्बन्ध सुधर सकते थे। कोनित्स के सतत प्रयासों का परिणाम निकला। 1756 में ही वर्साई की सन्धि हो गई। फ्रांस ने आस्ट्रिया पर हमला होने पर मदद का और स्वयं आस्ट्रिया पर हमला न करने का वादा किया। इंग्लैण्ड और फ्रांस के युद्ध मे आस्ट्रिया ने तटस्थ रहने का वादा किया। कुछ दिनों बाद रूस की जारीना भी इस सन्धि में शामिल हो गई। कोनित्स ने इस सन्धि को सुदृढ़ करने के लिए परम्परागत रूप से दुश्मन दो राजपरिवारों को वैवाहिक बन्धन में बाँधने की योजना बनाई। यहाँ भी उसे सफलता मिली। आस्ट्रिया की राज-

कुमारी **मारी आँतुआनेत** का विवाह फ्रांस के राजकुमार **लूई** से सम्पन्न हो गया। यह विवाह भी फ्रांस के लिए घातक सिद्ध हुआ और अन्ततोगत्वा दोनों देशों को स्थायी रूप से मित्र न बना सका।

फिलहाल यूरोप के कूटनीतिक सम्बन्धों का नक्शा ही बदल गया था। इसीलिए इसे कूटनीतिक क्रान्ति (Diplomatic Revolution) कहते हैं। गुटों का जो नया रूप सामने आया वह आस्ट्रिया और फ्रांस के हित में नहीं लगता था। बहरहाल युद्ध तो होना ही था क्योंकि शक्ति-परीक्षा की घड़ी आ गई थी और यूरोप में नेतृत्व का प्रश्न ज्वलन्त हो गया था। अन्त में 1756 में सप्त वर्षीय युद्ध शुरू हुआ। जिसने सारे विश्व को प्रभावित किया।

सप्त वर्षीय युद्ध : युद्ध के दो ही प्रमुख कारण थे—साइलेशिया को लेकर मध्य यूरोप में सर्वप्रमुखता का प्रश्न, दूसरे उपनिवेशों को लेकर सामुद्रिक शक्ति के क्षेत्र में सर्वोच्चता का प्रश्न। एक संघर्ष मुख्य रूप से प्रशा और आस्ट्रिया के बीच मध्य यूरोप में हुआ। दूसरा युद्ध अमेरिका से भारतवर्ष तक इंग्लैण्ड और फ्रांस के प्रतिनिधियों के बीच लड़ा गया। युद्ध का एक पक्ष स्थल सेना से सम्बन्धित था दूसरा नौ सेना से। सात वर्षों तक चलने वाले युद्ध में पलड़ा कभी एक तरफ भारी रहा कभी दूसरी ओर।

युद्ध यूरोप में : हमेशा की तरह फ्रेडरिक ने पहल की और फुर्ती से आस्ट्रिया के मित्रों पर हमला कर दिया। सैक्सनी और आस्ट्रिया की सेनाओं को परास्त करता वह ड्रेसडेन तक पहुँच गया। फिर उसने प्राग पर घेरा डाल दिया, लेकिन उसका उद्देश्य पूरा नहीं हो सका। पहली बार वह हार गया और उसे घेरा उठा लेना पड़ा। लेकिन आस्ट्रिया इस जीत का पूरा लाभ नहीं उठा सका। इसी बीच आस्ट्रिया के मित्र फ्रांस ने भी कई महत्त्वपूर्ण विजय हासिल कीं और हैनोवर पर उसका कब्जा हो गया। रूस ने भी प्रशा को पराजित किया। इस तरह फ्रेडरिक के दुश्मनों की तीन तरफ से विजय होती गई लेकिन कुशल नेतृत्व के अभाव में विजय को अन्तिम रूप नहीं दिया जा सका।

साल भर के अन्दर ही पासा पलटने लगा। फ्रेडरिक ने जान लड़ा कर तैयारी की और रॉसबाख में फ्रांस की करारी पराजय हुई। यह पराजय इतनी ऐतिहासिक सिद्ध हुई कि फ्रांस संभल नहीं सका। कहा जाता है कि यहीं से क्रान्ति की पृष्ठभूमि बनने लगी। फ्रांस को राइन नदी के पश्चिम में ढकेल दिया गया। फौरन आस्ट्रिया भी पराजित हुआ और इसे साइलेशिया से पीछे हटना पड़ा। फ्रांस को हैनोवर भी छोड़ना पड़ा। साल भर बाद रूस की सेना भी पराजित हुई और इस तरह फ्रेडरिक ने अपने तीनों प्रमुख प्रतिद्वन्द्वियों से बदला ले लिया।

फ्रेडरिक को इंग्लैण्ड से आर्थिक सहायता मिल रही थी। फ्रांस में लगातार नई योजनाएँ बन रही थीं लेकिन कार्यान्वित नहीं हो पा रही थीं। कठिन परिस्थिति में बूर्बो वंश के ही अधीन स्पेन से पारिवारिक समझौता (Family Compact) एक बार फिर हुआ। इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री पिट को पूर्वाभास हो गया और उसने फौरन स्पेन पर हमला करना चाहा लेकिन शासक जॉर्ज तृतीय ने सलाह नहीं मानी और पिट का कुछ दिनों के लिए पतन हो गया। जॉर्ज उल्टी सीधी नीतियों के लिए कुख्यात है। उसने प्रशा से सम्बन्ध तोड़ लिये और प्रशा की मदद करनी बंद कर दी। अब फ्रेडरिक की स्थिति डाँवाडोल होने लगी। लेकिन उसके भाग्य से रूस की जारीना की, जो उससे घृणा करती थी, मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी ने फ्रेडरिक से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिये। इस प्रकार प्रशा की पूर्वी सीमा सुरक्षित हो गई। अब फ्रेडरिक अन्तिम रूप से साइलेशिया पर अधिकार करने में लग गया। जब उसने मिली-जुली सेनाओं से लोहा लिया था और अकेले पड़ जाने पर भी धैर्य नहीं खोया था तो अब तो केवल आस्ट्रिया से निबटना था। उद्देश्य पूरा करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

उसकी सफलता के कई कारण थे। व्यक्तिगत क्षमता में इंग्लैण्ड के पिट के अतिरिक्त पूरे यूरोप में उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था और पिट उसके पक्ष में हो गया था। उसकी तरह कोई श्रम भी नहीं करता था। उसके देश की स्थिति, विशेषकर यातायात, अपेक्षतया बेहतर थी। उसकी नीतियों का संचालन उसके व्यक्तिगत नेतृत्व में होता था। उसके विरोधी सहयोग नहीं कर पाते थे। रूस पूरब से पूरी तरह प्रशा पर दबाव नहीं डाल सका। इंग्लैण्ड की सहायता भी उसके लिए निर्णायक सिद्ध हुई। इस प्रकार परिस्थितियों और उसकी व्यक्तिगत योग्यता ने मिलकर उसे सफल बनाया।

औपनिवेशिक युद्ध : यूरोप की तरह इंग्लैण्ड और फ्रांस के उपनिवेशों में भी प्रतिद्वन्द्वी प्रतिनिधियों ने युद्ध छेड़ दिया। पहले फ्रांस का ही पलड़ा भारी पड़ा। उसने मिनोरका पर कब्जा कर लिया। भारत में डूप्ले की दूरदर्शी नीति के कारण फ्रांसीसी प्रभाव बढ़ चला था। लेकिन क्लाइव ने व्यक्तिगत बहादुरी, कूटनीति, छल और दूरदर्शिता से काम लिया और प्लासी की ऐतिहासिक लड़ाई में अंग्रेजों की निर्णायक विजय हुई। अंग्रेज और फ्रांसीसी मद्रास और बंगाल में भारतीय शासकों की मदद करने के बहाने अपनी शतरंज खेलते रहे। 1760 में वाण्डेवाश की लड़ाई में फ्रांसीसी सेना बुरी तरह हारी और अंग्रेज हमेशा के लिए भारत में सबसे शक्तिशाली यूरोपीय बन गए।

फ्रांस ने इंग्लैण्ड पर हमला करने की योजना बनाई। लेकिन जैसे फिलिप द्वितीय असफल हुआ था इस बार भी हमला नहीं हो सका। इंग्लैण्ड की नौसेना

ने फ्रांस की भूमध्यसागर और अटलाण्टिक तटों की नौसेनाओं को बारी-बारी से परास्त कर दिया। अंग्रेजों ने कनाडा में भी फ्रांसीसियों को पराजित किया। वेस्ट इण्डीज के टापू छीन लिये गए। फ्रांस के सहयोगी स्पेन से एशिया में फिलीपीन्स और अमेरिका में क्यूबा स्थित गढ़ क्रमशः मनीला और हवाना भी छीन लिये गए।

फ्रांस के विरुद्ध इंग्लैण्ड की सफलता के कई कारण थे। औपनिवेशिक युद्ध में सफलता के लिए शक्तिशाली नौसेना की भूमिका निर्णायक थी। इस क्षेत्र में इंग्लैण्ड की प्रमुखता निर्विवाद थी। यद्यपि इंग्लैण्ड का राजा जॉर्ज तृतीय झक्की था, उसका प्रधान मन्त्री पिट बहुत योग्य और दूरदर्शी था। दूसरी ओर फ्रांस पतनोन्मुख था और शासक लूई पंचदश कमजोर तथा भ्रष्ट था। राजधानी में षड्यन्त्र का वातावरण रहता था। इंग्लैण्ड के उपनिवेशों में नेतृत्व की दृढ़ता और एकरूपता भी निर्णायक साबित हुई। उदाहरण के लिए भारत को देखें। भारत में फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले पहला व्यक्ति था जिसने उपनिवेशों की कल्पना की और इसमें भारतीय शासकों को मोहरा बनाने की नीति अपनाई। लेकिन उसकी सरकार की ढुलमुल नीति ने उसे कहीं का नहीं छोड़ा। दूसरी ओर क्लाइव को राज्य का पूरा समर्थन मिला और उसने स्थिति अपने पक्ष में कर ली। अन्त में युद्ध में निर्णायक बात होती है आर्थिक समृद्धि और स्थायित्व। इस दिशा में इंग्लैण्ड फ्रांस से हर तरह बेहतर था।

पेरिस की सन्धि : सप्त वर्षीय युद्ध में इंग्लैण्ड और उसके मित्र प्रशा की निर्णायक जीत हुई थी। यह भी तय हो चुका था कि संघर्ष की शुरुआत भले ही जर्मनी में आस्ट्रिया और प्रशा की प्रतिद्वन्द्विता से हुई हो, वास्तविक प्रतिद्वन्द्विता फ्रांस और इंग्लैण्ड में थी।

सन्धि की शर्तों के अनुसार भारतवर्ष में कुछ व्यापार केन्द्र, जैसे पाण्डिचेरी को छोड़कर सारे फ्रांसीसी क्षेत्र, अंग्रेजों को मिल गए। अमेरिका में मिसिसिपी नदी के पूरब के सारे क्षेत्र न्यू ओरलिंस को छोड़कर, इंग्लैण्ड को मिल गए। वेस्ट इण्डीज के कई टापू इंग्लैण्ड को प्राप्त हुए। अफ्रीका में सेनेगल भी इंग्लैण्ड को मिल गया। मिनोरका इंग्लैण्ड को, बेल्ल द्वीप फ्रांस को वापस कर दिये गए। डन्कर्क इंग्लैण्ड पर हमला करने के लिए फ्रांस का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। वहाँ की किलेबंदी समाप्त करने का निर्णय हुआ। इंग्लैण्ड और फ्रांस दोनों ही युद्ध से हट गए।

हवाना और मनीला स्पेन को वापस कर दिये गए। बदले में इंग्लैण्ड को अमेरिका में फ्लोरिडा का प्रायद्वीप मिल गया। इस प्रकार अमेरिका के पूर्वी किनारे पर इंग्लैण्ड का प्रभुत्व सर्वोपरि हो गया। स्पेन और फ्रांस ने इंग्लैण्ड के मित्र पुर्तगाल से अपनी सेनाएँ हटा लेने का वायदा किया। सैंट लॉरेन्स की

खाड़ी में स्पेन ने अपना मछली मारने का अधिकार छोड़ दिया।

ह्यूबर्टसबर्ग की सन्धि : पेरिस की सन्धि के समानान्तर यूरोप में प्रशा और आस्ट्रिया के संघर्षों का समाधान करने के लिए एक और सन्धि हुई। साइलेशिया और ग्लास पर प्रशा का अधिकार मान लिया गया। इस प्रकार प्रशा का इस युद्ध से कोई नुकसान नहीं हुआ। फ्रेडरिक ने मारिया के पुत्र जोजेफ को सम्राट् बनवाने में मदद का वायदा किया।

सप्त वर्षीय युद्ध का परिणाम : यूरोप के मध्य में पवित्र रोमन साम्राज्य की प्रभुसत्ता थी। आस्ट्रिया के ही शासक प्राय: सम्राट् होते थे। इसलिए जर्मन क्षेत्र में स्थित सैकड़ों राज्यों में आस्ट्रिया की तूती बोलती थी। प्रशा की बढ़ती शक्ति ने एक चुनौती खड़ी कर दी थी, जिसे आस्ट्रिया दबा नहीं सका। सप्त वर्षीय युद्ध के बाद यह तय हो गया कि जर्मनी में प्रशा आस्ट्रिया का प्रतिद्वन्द्वी है। अन्त में प्रशा की ही जीत हुई क्योंकि जर्मनी में राज्यों का एकीकरण उसी के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ। फ्रेडरिक और उसके देश को इस युद्ध से आशातीत सम्मान मिला।

इस युद्ध में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के कारण रूस का भी प्रभाव बढ़ने लगा, लेकिन सबसे अधिक क्षति फ्रांस की हुई। पहले ही लूई चतुर्दश के चार युद्धों ने फ्रांस को खोखला कर दिया था, लेकिन फ्रांस ने युद्धों की नीति नहीं छोड़ी। उसे युद्धों से सम्मान भी नहीं मिला और आर्थिक रूप से फ्रांस जर्जर हो गया। औपनिवेशिक युद्धों में हुई पराजय ने फ्रांस के बाजार कम कर दिये और उसका महत्त्व घटने लगा। सबसे अधिक लाभ इंग्लैण्ड को हुआ। यह निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो गया कि इंग्लैण्ड का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं बचा है। इस युद्ध के बाद इंग्लैण्ड की औपनिवेशिक नीति आक्रामक होती चली गई और अमेरिका से भारत तक उसके बाजार और उपनिवेश बढ़ते चले गए। उन्नीसवीं शताब्दी शुरू होते-होते इंग्लैण्ड के उपनिवेश दुनिया में सबसे विस्तृत हो गए।

पोलैण्ड का विभाजन : प्रशा के पश्चिम में स्थित पोलैण्ड एक बड़ा किन्तु असंगठित देश था। उसकी कोई प्राकृतिक सीमा नहीं थी और वहाँ अराजकता बढ़ती जा रही थी। उसका सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह था कि वह तीन महत्त्वाकांक्षी पड़ोसियों से घिरा हुआ था। फ्रेडरिक, मारिया और रूस की जारीना कैथरिन पोलैण्ड की कमजोरी से फायदा उठाना चाहते थे। 1772 में इन तीनों ने अपने पहले के कटु सम्बन्ध भुलाकर अकारण पोलैण्ड का आपस में विभाजन कर डाला। फ्रेडरिक को इस विभाजन से पश्चिम पोलैण्ड का क्षेत्र मिला और प्रशा की सीमाएँ पूरब में रूस के करीब पहुँच गईं। इस विभाजन ने एक सिलसिला शुरू किया जो फ्रेडरिक के बाद तक चलता रहा।

फ्रेडरिक का मूल्यांकन : यह सत्य है कि फ्रेडरिक दुनिया के कुछ सबसे

प्रसिद्ध शासकों में से है। उसने अपने देश में जो सुधार किये उसकी प्रशंसा तो अधिकांश इतिहासकार करते हैं, लेकिन जर्मन इतिहासकार तो उसके हर कार्य की प्रशंसा करते नहीं अघाते। ट्रिश्राइस्के एक राष्ट्रभक्त इतिहासकार है। वह पोलैण्ड के विभाजन का भी समर्थन करता है। उसका तर्क है कि इससे रूस का पश्चिम में विस्तार रुक गया। आश्चर्य होता है कि रान्के जैसा निष्पक्ष और तटस्थ इतिहासकार भी फ्रेडरिक की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है और साइलेशिया पर किये अधिकार को उचित ठहराता है। इस अतिरंजित प्रशंसा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जर्मनी में एक राष्ट्रीय शक्ति विकसित करने के कारण जर्मन लोगों ने उसे बहुत सम्मान दिया है। वास्तविकता यह है कि जर्मन भाषा बोलने वाले करोड़ों लोग बहुत से छोटे-बड़े राज्यों में बँटे हुए थे। इन्हें एक सूत्र में बाँधना मुश्किल था, क्योंकि इनके शासक अपने स्वार्थों का हनन स्वीकार नहीं करते थे। पवित्र रोमन साम्राज्य में उन पर आस्ट्रिया का प्रभुत्व थोपा जाता था। फ्रेडरिक ने सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि उसने यह सिद्ध कर दिया कि जर्मनी में आस्ट्रिया का एकाधिकार नहीं चल सकता। जर्मनी में आस्ट्रिया और प्रशा दो प्रतिद्वन्द्वी देश हैं और उनमें भी प्रशा की शक्ति नगण्य नहीं है।

उसके कुछ सुधार स्थायी हुए। जर्मनी को प्रकृति ने समृद्ध बनाया है। प्रशा की कृषि और उद्योग अन्य देशों के मुकाबले में ठीक स्थिति में थे। यही कारण था कि उसके इतने युद्धों के बाद भी प्रशा जर्जर नहीं हुआ। उसकी सहिष्णुता की नीति भी प्रशंसनीय थी, लेकिन यहूदियों के प्रति उसका व्यवहार उसके संकुचित दृष्टिकोण का परिचायक था। उसकी सारी संवेदनशीलता, साहित्य और दर्शन से प्रेम तथा विज्ञान में रुचि उसे एक यथार्थवादी और महत्त्वाकांक्षी राजनेता की स्थिति से ऊपर नहीं उठा सके। वह लगातार निरंकुश बना रहा। जर्मनी ने हर क्षेत्र में प्रशंसनीय प्रगति की है। लेकिन द्वितीय महायुद्ध के पहले यह कहा जाता था कि जर्मन लोग राजनीति नहीं जानते, क्योंकि वे बराबर आक्रामक रुख अख्तियार करते हैं और अन्ततोगत्वा अपने ही देश का नुक्सान कर बैठते हैं। यह आलोचना बहुत हद तक ठीक है, क्योंकि अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में लगातार जर्मनी की उत्कट राष्ट्रीयता को बढ़ावा दिया गया था। हिटलर इन्हीं नीतियों की परिणति था। फ्रेडरिक ने भी देश में कट्टर निरंकुशता स्थापित करके लोगों की राजनैतिक चेतना को कुण्ठित किया था। जनता शासन से निकटता नहीं महसूस करती थी। किसी भी राज्य के लिए यह एक घातक स्थिति होती है। इतिहासकारों ने फ्रेडरिक की एक बहुत बड़ी कमजोरी पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। वह सैनिक दृष्टि से अपनी देश की शक्ति पर चाहे जितना भी विश्वास रखता हो,

उसे जर्मनी की सांस्कृतिक सम्भावनाओं में विश्वास नहीं था। वह जिस देश के लिए संघर्षरत था उसे हेय समझता था। वह दुश्मन देश फ्रांस का प्रशंसक और पुजारी था। ऐसा अन्तर्विरोध किसी देश में स्वस्थ मानसिकता नहीं पैदा कर सकता। ऐसी स्थिति में हमेशा अतिशयवादिता बढ़ती है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि फ्रेडरिक ने साबित कर दिया था कि राजा चाहे जितना प्रबुद्ध और योग्य हो, निरंकुश राजतन्त्र कभी भी देश का वास्तविक कल्याण नहीं कर सकता। फ्रेडरिक एक योग्य शासक था और उसे महान् भी कहा गया है, लेकिन उसका सही मूल्यांकन उसके देश की वास्तविकता और स्थायी उपलब्धियों के आधार पर ही किया जा सकता है।

नवाँ अध्याय

रूस का उत्कर्ष

रूस आज दुनिया का सबसे बड़ा देश है। केवल क्षेत्रफल ही नहीं शक्ति में भी वह एक महाशक्ति कहलाता है। आधुनिक काल का प्रारम्भ होने से पहले यही रूस मास्कोवी का छोटा सा राज्य था जो प्रायः मंगोलों से त्रस्त रहता था। यूरोप और एशिया को विभाजित करने वाले यूराल पर्वत के पश्चिम में और पश्चिमी यूरोप से कटा हुआ यूरोप के सुदूर उत्तर-पूर्व में स्थित यह राज्य शुरू में यूरोपीय राजनीति और संस्कृति के संदर्भ में नगण्य था।

सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक एरिक वंश के पांच सौ वर्ष के शासन ने रूस का विस्तार किया और रूस ईसाई हो गया। जर्मनी से आई स्लाव जाति और दक्षिणी यूरोप से आये ईसाई धर्म ने भी रूस को बहुत परिवर्तित नहीं किया। पूर्वी यूरोप के उन्नत बाइजेण्टाइन साम्राज्य के प्रभावों से भी रूस एक प्रकार से अछूता रहा। **ईवान महान्** और **ईवान 'भयंकर'** नामक दो शासकों ने रूस पर आक्रमण करने वाली जातियों को परास्त किया और रूसी सीमाएँ पहले की अपेक्षा बहुत विस्तृत हो गई। लेकिन सोलहवीं शताब्दी में जब पुनर्जागरण की लहरें पश्चिमी यूरोप में नई चेतना प्रवाहित कर रही थीं रूस इन परिवर्तनों से अनभिज्ञ बना रहा। रूस में यातायात के साधन नहीं थे। साल में छः महीने जीवन भयंकर ठंडक के कारण निष्प्राण हो जाता था। यूरोप के अन्य देशों से भी रूस का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। एरिक वंश के शासक भी सम्बन्धों के विस्तार में नहीं, सीमाओं के विस्तार में रुचि रखते थे। इसीलिए ये शासक राष्ट्रीय सम्मान भले ही पायें, यूरोप के इतिहास में इनका बहुत महत्त्व नहीं समझा जाता।

1598 में एरिक वंश का अन्त हो गया। कुछ वर्षों तक अराजकता की स्थिति बनी रही। पोलैण्ड और स्वीडन रूस को हड़पने की योजनाएँ बनाते और कार्यान्वित करते रहे। 1613 में राष्ट्रभक्त सामन्तों ने **माइकेल रोमनॉफ** को रूस की गद्दी पर बिठाया। **रोमनॉफ** वंश के शासन-काल में रूस ने अभूतपूर्व

उन्नति की। इस वंश के तीन सौ वर्षों के शासन में ही रूस प्रशान्त महासागर और कालासागर तक पहुँच कर दुनिया का सबसे बड़ा देश हो गया। वास्तव में रूस इस महानता की ओर पीटर के शासनकाल में अग्रसर हुआ।

पीटर महान्

1682 में पीटर अपने बड़े भाई ईवान के साथ रूस के सिंहासन का उत्तराधिकारी हुआ। ये दोनों ही अभी वयस्क नहीं थे इसलिए शासन बड़ी बहन सोफिया करती थी। लेकिन सत्रह वर्ष का होते ही पीटर ने अपनी बहन को धार्मिक मठ में भेज दिया और बीमार बड़े भाई को निकम्मा समझकर शासन की बागडोर स्वयं अपने हाथों में ले ली। कुछ ही महीनों बाद जब ईवान की मृत्यु हो गई तो वह निर्द्वन्द्व होकर अपने ढंग से रूस का शासन करने के लिए स्वतन्त्र हो गया।

पीटर का उद्देश्य वह जिस रूस की गद्दी पर बैठा था वह केवल भूगोल की दृष्टि से यूरोपीय था। इसके अतिरिक्त रूस का खान-पान, रहन-सहन, सोचने-समझने का तरीका, सब कुछ एशियाई देशों की तरह था। पश्चिमी यूरोप से ईसाई धर्म के नाम पर सम्बन्ध तो था, लेकिन रूस का ईसाई धर्म (Greek Orthodox Church) भी स्थानीय प्रभाव में भिन्न और अधिक संकीर्ण हो चुका था। रूस की सीमाएँ विस्तृत थीं लेकिन वह चारों तरफ से बंद जैसा था। उत्तर की सीमाओं पर नौ महीने बर्फ जमी रहती थी। दक्षिण में तुर्की और फ़ारस के कारण मार्ग अवरुद्ध थे। पूरब में भयानक जंगल थे जिनके बीच से उपयोगी रास्ते नहीं निकल सकते थे। पश्चिम में पोलैण्ड और स्वीडन के महत्त्वाकांक्षी शासक रूस पर नजर गड़ाये रहते थे। धार्मिक प्रधान जिसे पैट्रिआर्क (Patriarch) कहते थे, धर्म में ही नहीं रूसी जीवन के हर क्षेत्र में प्रभाव रखता था। जार के अंगरक्षक स्त्रेलत्सी (Streltsi) और सामन्तों की सभा राजनीति के आधारस्तम्भ थे। पैट्रिआर्क और स्त्रेलत्सी जार पर निरन्तर अंकुश रखते थे। ऐसी स्थिति में रूस एक पिछड़ा हुआ, अपने में सीमित, दकियानूस और जर्जर संस्थाओं के सहारे घिसटता सा राज्य था।

पीटर जैसा व्यक्ति इन परिस्थितियों को बदलने के लिए आतुर हो गया। उसने निश्चित किया कि रूस का कल्याण उसके यूरोपीकरण में है। उसने यूरोप के देशों के साथ रूस के निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने का संकल्प किया। रूस की घुटन समाप्त करने के लिए रूस की सीमाओं को पश्चिम में बाल्टिकसागर और दक्षिण में कालासागर तक पहुँचाना उसने आवश्यक समझा। यहीं से उस नीति का प्रारम्भ हुआ जिसे 'गर्म पानी की तलाश' (Warm Water Policy) कहते हैं। गर्म पानी का अर्थ था ऐसे सामुद्रिक मार्ग

जहाँ बर्फ न जमती हो और वे साल भर इस्तेमाल किए जा सकते हों। अन्त में, वह समझता था कि जब तक शक्तिशाली और निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना नहीं होती ये उद्देश्य पूरे होने सम्भव नहीं। वह जीवन भर इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में लगा रहा और उसे सफलता भी मिली।

आन्तरिक नीति : जिस यूरोप का पीटर अनुकरण करना चाहता था उससे वह स्वयं अनभिज्ञ था। इसलिए पहले उसने एक प्रकार का शैक्षणिक भ्रमण करने का निश्चय किया। यदि वह जार की तरह जाता तो निश्चित था कि उसका वास्तविकताओं से ठीक परिचय नहीं हो सकता था। जब किसी देश का शासक दूसरे देश में जाता है तो स्वागत समारोहों के बीच उसे सरकारी तन्त्र का तो परिचय मिल जाता है। लेकिन देश की जनता या देश की वास्तविक स्थिति से वह परिचित नहीं हो पाता। पीटर यह समझता रहा होगा तभी तो उसने छद्म वेश में, सारे कष्ट सहते हुए, यूरोप को पास से देखने का निर्णय किया।

एक साधारण जिज्ञासु यात्री की तरह वह घूम-घूमकर पश्चिमी यूरोप का प्रशासनतन्त्र, वहाँ के उद्योग व्यापार, वहाँ के तौर-तरीके, उनकी सफलता का रहस्य समझने लगा। उसने स्वयं कई स्थानों पर काम भी किया। बन्दरगाहों, कारखानों और सरकारी दफ्तरों में जाकर उसने देखा, समझा। हालैण्ड, फ्रांस, इंग्लैण्ड जैसे देशों को देखकर वह रूस का पश्चिमीकरण करने के लिए और दृढ़ संकल्प होता गया।

इसी बीच उसके सम्पर्क सूत्रों ने खबर दी कि राजधानी मास्को में उसकी इतनी लम्बी अनुपस्थिति का लाभ उठा कर उसके अंगरक्षकों ने विद्रोह कर दिया है। उस समय वह आस्ट्रिया की राजधानी वियेना में था। उसने अपनी यात्रा समाप्त कर दी और तूफान की तरह वापस रूस पहुँच गया। विद्रोहियों को आशा नहीं थी कि वह इतनी जल्दी वापस आ सकेगा। आते ही उसने प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। हजारों अंगरक्षक भयानक उत्पीड़न के बाद मार डाले गए। उसने आज्ञा दी ही नहीं स्वयं उसे कार्यान्वित करने लगा। तलवार लिये अंगरक्षकों की गर्दन साफ करते पीटर ने कुछ ही दिनों में आतंक फैला दिया। सारा विद्रोह दब गया। स्त्रेलत्सी भंग कर दी गई। उसके स्थान पर उसने एक स्थायी यूरोपीय ढंग की सेना संगठित की।

पश्चिमी यूरोप की उसने अन्धाधुन्ध नकल की। रूसी चीजों और परम्पराओं का जैसे बहिष्कार शुरू हो गया। पादरी वर्ग ने हवा का रुख देखकर विरोध करना शुरू किया। 1700 में जब पैट्रिआर्क की मृत्यु हुई उसने कोई दूसरा पैट्रिआर्क नहीं बनाने दिया। धार्मिक कार्यों के लिए सर्वोच्च समिति (Synod) का संगठन हुआ। इस प्रकार इंग्लैण्ड की तरह रूस में भी शासक धार्मिक मामलों में भी देश का प्रधान हो गया।

वह लूई चतुर्दश के शासनतन्त्र से बहुत प्रभावित हुआ था। फ्रांस की तरह का स्वेच्छाचारी निरंकुश तन्त्र वह रूस में भी स्थापित करना चाहता था। उसने रूसी सामन्तों की पार्लियामेण्ट द्यूमा, समाप्त कर दी। किसी तरह की कोई प्रतिनिधि सभा नहीं रह गई। सामन्तों पर उसे विश्वास नहीं था। उसने 'नये सामन्त' पैदा किये। स्वामिभक्त लोग जो उसकी नौकरी करते थे उन्हें हर तरह का प्रोत्साहन दिया गया। ये नये सामन्त रूस के प्रारम्भिक मध्यम-वर्ग सिद्ध हुए। इन्हीं लोगों की मदद से पीटर रूस को विभिन्न प्रान्तों में बांट कर शासन करता था। सेना में भी नये लोगों की भर्ती करता था। किसानों के हृष्ट-पुष्ट लड़के रूस की स्थायी सेना में भर्ती किये जाते थे। सैनिकों और अफसरों को यही ट्रेनिंग दी जाती थी कि राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति पर्याय-वाची हैं। सेना और नौसेना का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। इस तरह अपने एक उद्देश्य एकतन्त्रीकरण में वह पूरी तरह सफल हुआ।

उसका दूसरा उद्देश्य था कि रूस को पश्चिमी यूरोप की तरह का देश बनाना। उसने यूरोप की अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन किया था। पहली बार किसी रूसी शासक ने आर्थिक क्षेत्र में एक संगठित नीति अपनाई। उसने कृषि का महत्त्व समझा और उसे प्रोत्साहित किया। रूस में उद्योग-व्यवसाय बिल्कुल पिछड़ी हालत में थे। उसके प्रोत्साहन से उद्योगों का विकास हुआ। कुछ सरकारी उद्योग भी शुरू हुए। धीरे-धीरे एक मध्यमवर्ग पनपने लगा। उसने वेश-भूषा का भी पश्चिमीकरण कर दिया। लम्बी दाढ़ियाँ रखने पर रोक लग गई। वह स्वयं ऐसी दाढ़ियां काट देता था। उल्लंघन करने पर जुर्माना देना पड़ता था। वेशभूषा में भी पश्चिम की नकल अनिवार्य कर दी गई। नारियों को घर की दीवारों से बाहर लाया गया। उसने तम्बाकू का इस्तेमाल अनिवार्य कर दिया। वर्साई की दरबारी प्रथाएँ लागू की गईं। नाच-रंग, मनोरंजन फ्रांसीसी ढर्रे पर शुरू किए गए। अपनी यात्रा के दौरान उसने जिन चीजों को आधुनिकता का प्रतीक समझा था, वे रूस में लागू की जाने लगीं।

वह शिक्षा का भी महत्त्व समझता था। सर्वसाधारण के लिए तो नहीं लेकिन समाज के उच्च वर्गों के लिए शिक्षा को प्रोत्साहन दिया गया। बहुत से सामन्त तक अशिक्षित होते थे। अब शिक्षा आवश्यक हो गई। एक विदेशी भाषा जानना भी अनिवार्य हो गया। उसी समय से रूस में फ्रेंच भाषा का प्रभाव बढ़ा और धीरे-धीरे समस्त परिवारों मे रूसी के स्थान पर फ्रेंच में ही बोलचाल शुरू हो गई। नगरों में भी सरकारी कर्मचारियों के बच्चों के लिए स्कूल खोले गए। डाक्टरों और इन्जीनियरों के लिए भी विद्यालय खुले। पहली बार विज्ञान में रुचि ली गई। राजधानी में एक विज्ञान-अकादमी की स्थापना हुई। दूसरी भाषाओं की महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का रूसी अनुवाद हुआ।

एक संग्रहालय भी स्थापित किया गया। पहली बार रूस में समाचारपत्रों का प्रकाशन शुरू हुआ। सार्वजनिक संस्थाएँ, जैसे अस्पताल, खोले गए।

पश्चिम के प्रति उसके मोह के कारण मास्को उसे बहुत कटा हुआ लगता था। पश्चिम से दूरी कम करने के लिए ही उसने बाल्टिक तट पर एकदम पश्चिमी ढंग की नई राजधानी बसाई। दलदलों के बीच से **पीटर्सबर्ग** नामक नया नगर उभरने लगा और धीरे-धीरे रूस का सबसे उन्नत नगर हो गया। आजकल इसे ही **लेनिनग्राद** कहते हैं।

इस तरह उसके दो उद्देश्य, एकतन्त्र की स्थापना और पाश्चात्यीकरण, काफी हद तक पूरे हो गए थे। तीसरे उद्देश्य पश्चिम और दक्षिण में विस्तार के लिए उसे युद्ध करने पड़े।

वैदेशिक नीति : रूस की सबसे बड़ी समस्या थी स्थायी सामुद्रिक मार्गों की तलाश। यह तब तक सम्भव नहीं था जब तक रूस की सीमा कालासागर तक न पहुँच जाय। वहाँ से भूमध्यसागर और फिर वहाँ से पश्चिम के सारे रास्ते खुले हुए थे। कालासागर के आसपास तुर्कों का प्रभुत्व था। लेकिन वे इस समय पतनोन्मुख थे। उनका रोमन साम्राज्य से युद्ध चल रहा था। पीटर ने इसे उपयुक्त समय समझा और उसने बिना औचित्य ढूंढ़े तुर्कों पर हमला किया और कालासागर के उत्तर में स्थित आजोफ बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया। रूस को जैसे बाहरी हवा में सांस लेने का अवसर मिल गया।

आजोफ पर्याप्त नहीं था। कालासागर और भूमध्यसागर को जोड़ने वाले संकरे जलमार्गों पर अब भी तुर्कों का अधिकार था। इसलिए रूसी नौ-सेना आसानी से भूमध्यसागर में नहीं जा सकती थी। इसीलिए उसने पश्चिम में बाल्टिक तट पर ध्यान दिया। यह कार्य मुश्किल था क्योंकि स्वीडन बाल्टिक-सागर को स्वीडी झील समझ कर उस पर अधिकार स्थापित करना चाहता था। गस्टवस एडॉलफस के जमाने से ही स्वीडन एक सैनिक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। लेकिन स्वीडन की शक्ति, उसकी आर्थिक समृद्धि और संगठन पर नहीं, सेना पर निर्भर थी। इसीलिए स्वीडन की शक्ति में स्थायित्व नहीं था। सारा दारोमदार शासक पर रहता था। स्वीडी शासकों ने अपनी महत्त्वाकांक्षा के लिए सारे पड़ोसियों को नाराज कर रक्खा था। जब **चार्ल्स द्वादश** स्वीडन का शासक हुआ तो उसकी बाल्यावस्था का फायदा उठाकर डेनमार्क, पोलैण्ड और रूस ने स्वीडन के विरुद्ध एक संघ बना लिया। चार्ल्स में असाधारण शौर्य था लेकिन वह अपरिपक्व था। उसने फौरन दुश्मनों पर हमला कर दिया। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चार्ल्स को मध्य और उत्तरी यूरोप को रौंदते देखा गया। **नार्वा** के युद्ध में पीटर की भयानक पराजय हुई और उसे पीछे लौट जाना पड़ा।

चार्ल्स अपनी विजय को स्थायी बनाने के स्थान पर इधर-उधर निरन्तर युद्धों में उलझा रहा। दूसरी ओर पीटर ने बड़े धैर्य और परिश्रम से रूसी सेना का पुनः संगठन किया और पश्चिम की ओर खिसकता गया। 1703 में उसने पीटर्सबर्ग नामक नगर की नींव रखी। उसे नार्वा का बदला लेना था। पिछले छः वर्षों में चार्ल्स ने अपनी शक्ति का अपव्यय किया था। लेकिन पीटर पूरी तरह तैयार था। जब **पुल्तावा** के युद्ध में एक बार फिर दोनों मिले तो उस बार चार्ल्स को भागते ही बना। उसने तुर्की में शरण ली। पुल्तावा ने उत्तरी यूरोप के भाग्य का निर्णय कर दिया। स्वीडन के स्थान पर रूस 'उत्तर की महान् शक्ति' के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। स्वीडन अपना प्रभाव फिर नहीं स्थापित कर सका और निस्टाड की सन्धि द्वारा बाल्टिकसागर के पूर्वी तट का अधिकांश रूस को प्राप्त हो गया।

अब रूस को दक्षिण और पश्चिम में रास्ते मिल गए थे। पीटर का तीसरा उद्देश्य भी अंशतः पूरा हो चुका था।

पीटर का मूल्यांकन : पीटर के शासन-काल के अन्तिम दिनों की एक घटना उसके चरित्र और कार्यों पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। उसके राज्यों से रूस के रूढ़िवादी लोग, जिनकी शक्ति छिनती जा रही थी, बहुत क्षुब्ध थे। इन प्रतिक्रियावादियों ने पीटर के पुत्र **अलेक्सिस** को सामने रखकर पीटर पर प्रहार करना चाहा। अलेक्सिस ने उनसे सहानुभूति दिखाई। पीटर ने उसे बहुत समझाने का प्रयास किया। लेकिन वह नहीं माना। पीटर के अन्तर्द्वन्द्व की कल्पना की जा सकती है। उसका उत्तराधिकारी उसके जीवन भर के कार्यों पर पानी डालने के लिए तैयार था, लेकिन वह उसका पुत्र भी था। अन्त में उसने अपने सुधारों के पक्ष में निर्णय लिया और एलेक्सिस गिरफ्तार कर लिया गया। उसे इतना सताया गया कि उसकी जेल ही में मृत्यु हो गई। कुछ इतिहासकार उसके उद्देश्य की प्रशंसा करते हैं लेकिन उसकी नृशंसता की निन्दा करते हैं। यह उचित नहीं है। वह अपने स्वभाव के अनुसार ही तो आचरण करता। उसने जीवन में हर काम एक उफनती नदी की तरह किया। उसकी ऊर्जा का प्रभाव कभी-कभी बाढ़ की तरह विनाशकारी हो जाता था लेकिन यही तो उसकी शक्ति थी। इसीलिए उसे एक 'बर्बर प्रतिभा' (Barbarous Genius) कहते हैं।

उसका मूल्यांकन करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि वह जिस परम्परा और वातावरण के बीच जन्मा था, उसके कारण वह वास्तव में पश्चिमी यूरोप के सामने बर्बर ही था। लेकिन यह उसकी प्रतिभा थी कि उसने अपने जीवन-काल ही में रूस को सभ्यता के मार्ग पर प्रशस्त कर दिया था।

पीटर का सबसे बड़ा गुण था उसका निरन्तर सीख कर बेहतर होने की

लगन। गद्दी पर बैठने के कुछ ही दिनों बाद उसने पश्चिमी देशों की यात्रा की थी। ऐसी यात्रा का दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। स्वीडन के मुकाबले में जब वह युद्धरत था तब भी वह कहता था : मैं जानता हूँ कि स्वीडी हमें हरा देंगे लेकिन अन्त में वे हमें जीतना सिखा देंगे (I know these Swedes will beat us for a long time, but at last they will teach us how to conquer.) और यही हुआ भी। स्वीडन से हार कर भी अन्त में वह जीता और जीत कर भी उसने पराजित स्वीडन से बहुत कुछ सीखा। सैनिक संगठन और प्रशासन में उसने बहुत सी बातें स्वीडन से लीं।

उसने एक कट्टर निरंकुशता की स्थापना अठारहवीं शताब्दी में की, जब कि यूरोप में हर कहीं एकतन्त्र कमजोर पड़ रहा था। पीटर ने फ्रांस को आदर्श मानकर निरंकुशता की स्थापना की। यह उस समय रूस के लिए आवश्यक था। रूस को संगठित करने और आधुनिक बनाने के लिए विघटनकारी शक्तियों का दमन आवश्यक था। हमें व्यक्ति और घटनाओं को देशकाल के परिप्रेक्ष्य में रखकर ही देखना चाहिए। इस समय के रूस में इंग्लैण्ड का संविधान कार्य नहीं कर सकता था।

रूस के पश्चिमीकरण के सम्बन्ध में उसके कार्य सतही थे। वेशभूषा या तम्बाकू पीने जैसे कार्यों का कोई आधारभूत महत्त्व नहीं होता, लेकिन एक प्रकार की मानसिकता बनाने में इससे मदद मिलती है। आधुनिकतम वस्त्र पहन कर भी कोई रूढ़िवादी हो सकता है। लेकिन ऐसे वस्त्रों में वह दकियानूसी प्रवृत्ति को छिपाने की कोशिश करेगा। धीरे-धीरे वातावरण आदतें बदल देता है। पीटर की तरह बीसवीं शताब्दी में तुर्की के पहले राष्ट्रपति **मुस्तफा कमाल** ने भी तुर्की को मध्ययुग से सीधे बीसवीं शताब्दी में ला खड़ा किया था। नकाब छोड़ कर तुर्क महिलाओं ने स्कर्ट पहनना शुरू कर दिया था। रूस फौरन आधुनिक तो नहीं हो गया लेकिन ऐसी परम्पराएं विरोध के बावजूद बनने लगीं जिनके आधार पर आधुनिक रूस खड़ा है।

अपनी वैदेशिक नीति में वह बाल्टिक तक पहुँचने में सफल हो गया। कालासागर के बन्दरगाह आजोफ पर उसका स्थायी कब्जा नहीं हो सका। लेकिन उसने उत्तराधिकारियों को रास्ता दिखा दिया। उसने रूस को शक्तिशाली देश के रूप में प्रतिष्ठित किया और अन्य शासकों के विरोध की परवाह किए बिना जार (सम्राट्) की पदवी धारण कर ली।

इस तरह हमें उसके कार्यों में विरोधाभास मिलेगा। एक तरफ वह प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरुद्ध आधुनिक प्रवृत्तियों और संस्थाओं का संस्थापक लगता है, दूसरी ओर एक क्रूर मध्ययुगीन तानाशाह। लेकिन यह विरोधाभास उस समय और उस देश का है जब कि रूस अपने मंगोली और एशियायी स्वरूप

को छोड़कर पश्चिमी और आधुनिक देश बनने के लिए मजबूर किया गया था। पीटर को प्रबुद्ध निरंकुशता की प्रवृत्ति वाला शासक कहते हैं। वह पूरी तरह प्रबुद्ध भले ही न रहा हो लेकिन उसके बिना आधुनिक रूस की कल्पना असम्भव है।

पीटर और कैथरिन के बीच का अन्तराल

पीटर की मृत्यु (1725) के बाद चालीस वर्षों में कभी-कभी तो लगता था कि पीटर के अस्थायी कार्य समाप्त हो जायेंगे। रूढ़िवादी शक्तियां बराबर रूस में पुरानी व्यवस्था लागू करने का प्रयास करती थीं। रूस कमजोर होता जा रहा था। यह एक संयोग ही था कि रूस अभी पूरी तरह पश्चिमी देशों के निकट नहीं पहुँचा था और उनकी नजर उस पर नहीं पड़ी थी। वैसे भी पश्चिम के देश अपनी ही समस्याओं में उलझे हुए थे। कभी-कभी रूस इन युद्धों में हिस्सा लेता था। जब पीटर की सुन्दरी पुत्री **एलिजाबेथ** सम्राज्ञी (जारीना) बनी तो रूस ने यूरोपीय राजनीति में और महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी शुरू की। रूस के हितों को ध्यान में रखकर कभी वह फ्रांस का साथ देती कभी इंग्लैण्ड का। वह फ्रेडरिक के व्यंग्यों से बहुत क्षुब्ध थी। सप्त वर्षीय युद्ध के बाद रूस की प्रतिष्ठा बढ़ी थी। लेकिन अभी भी रूस का भविष्य निश्चित नहीं था। सुधारों की गति रुक गई थी। रूस का विस्तार भी नहीं हो रहा था। तभी एक अप्रत्याशित परिवर्तन ने कैथरिन को पीटर से जोड़ दिया।

कैथरिन

कैथरिन एक जर्मन रियासत की राजकुमारी थी। जब वह ब्याह कर रूस आई तो वह रूसी भाषा और आचार व्यवहार से पूरी तरह अपरिचित थी। रूस वास्तव में उसके लिए 'परदेश' था। लेकिन वह साधारण महिला नहीं थी। उसने रूस आकर अपना नाम सोफिया की जगह कैथरिन रख लिया, रूसी भाषा सीखी और अपना रूसीकरण कर लिया। उसने रूसी मित्र भी बनाये और वह रूसी राजनीति में रुचि लेने लगी। लेकिन वह अपने पति से अच्छे सम्बन्ध नहीं रख सकी। दोनों एक दूसरे से इतने भिन्न थे कि उनमें कोई सम्बन्ध नहीं रहा था। 1762 में कैथरिन का पति पीटर तृतीय के नाम से रूस का जार हो गया। अब कैथरिन की स्थिति नाजुक थी। पीटर से लोग असन्तुष्ट थे। कैथरिन की महत्त्वाकांक्षा ने जोर मारा। उसने षड्यन्त्र शुरू किया और पीटर को पदत्याग करने के लिए मजबूर कर दिया गया। कुछ ही दिनों बाद उसकी हत्या हो गई। कहा जाता है कि कैथरिन ने यह हत्या नहीं

करवाई थी। लेकिन हत्यारों को जब सजा नहीं मिली तो यह स्पष्ट हो गया कि परोक्ष ही सही उसकी जिम्मेदारी अवश्य थी।

एक निन्दनीय षड्यन्त्र के बाद शासन की बागडोर उसके हाथ में आ गई। जारीना की तरह तीस वर्षों तक उसने निरंकुश शासन किया। जीवन में किसी नैतिकता की उसने परवाह नहीं की। फिर भी उसने रूस को इतना बदल दिया कि इतिहासकार उसे महान् कहने में नहीं हिचकते।

आन्तरिक नीति : कैथरिन ने अपने को अपनी ससुराल रूस के रंग में रंगने का प्रयत्न किया था और वह उसमें सफल भी हुई थी। लेकिन वह जर्मन राजकुमारी थी और पश्चिमी यूरोप की आदतें, आचार-व्यवहार और जीवन-क्रम को बेहतर समझती थी। रूस अभी पूरी तरह बदला नहीं था और ऐसे रूस में पश्चिमी यूरोप के किसी व्यक्ति का रहना कष्टप्रद था। अब जब कि शासन स्वयं उसके हाथ में था उसने पीटर की पाश्चात्यीकरण की नीति को पूरी तरह कार्यान्वित करना शुरू किया।

उसने प्रशासन को इकाइयों में बाँट कर गवर्नरों और उप-गवर्नरों की नियुक्ति की। उन्हें कोई स्वतन्त्रता नहीं थी। वे केवल राजधानी से आई आज्ञाओं का पालन करते थे। राजधानी में सारा शासन-सूत्र कैथरिन के हाथ में था। वह अपने कर्मचारी स्वयं नियुक्त करती थी और किसी तरह की प्रतिनिधि सभा का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करती थी। पीटर ने चर्च को कमजोर बनाया था। कैथरिन ने चर्च की सम्पत्ति राज्य को दे दी। अब धर्म के अधिकारी जीवन-यापन के लिए राज्य पर आश्रित हो गए। आर्थिक स्वतन्त्रता के कारण ही पादरी लोग हर तरफ हस्तक्षेप करते थे। अब ऐसा सम्भव नहीं था।

पश्चिमी विचारों से प्रभावित होने के कारण उसने सारे रूस के प्रतिनिधियों की एक सभा बुलाई। उनकी राय जान लेने के बाद वह रूस के कानून को आधुनिक रूप देना और संकलित करना चाहती थी। उनसे अपने-अपने क्षेत्रों की विशेष आवश्यकताओं की सूची बनाने को कहा गया था। उन्हें तत्कालीन पश्चिमी विचारों के आधार पर एक निर्देश भी दिया गया। विचार-विमर्श के बाद जो रूप-रेखा बनी वह कैथरिन के अनुसार तत्कालीन रूस में कार्यान्वित नहीं हो सकती थी। इसके बाद कैथरिन ने इस तरह का प्रयत्न करना छोड़ दिया।

उसका निरंकुश तन्त्र नौकरशाही पर आधारित था। सारे निर्णय वह स्वयं लेती थी और मन्त्री भी उसके कर्मचारीमात्र होते थे। उसे केन्द्रीय और प्रान्तीय प्रशासन के लिए जिन कर्मचारियों की जरूरत होती थी उन्हें राजभक्त और चापलूस सामन्तों में से चुनती थी। रूस में मध्यमवर्ग का विकास नहीं

हुआ था। हुआ भी होता तो शायद कैथरीन उनसे सहयोग नहीं लेती। इस प्रकार सामन्तों का एक वर्ग उसका समर्थक और सहयोगी था। दूसरा विरोधी तो नहीं था लेकिन उसे कोई काम नहीं दिया जाता था।

वह 'प्रबुद्ध निरंकुशता' का युग था। कैथरिन ने भी युग-धारा में बहने का नाटक किया। फ्रेडरिक की तरह उसने भी फ्रांस के लेखकों और दार्शनिकों से अच्छे सम्बन्ध रखने का प्रयास किया। वोल्तेयर की प्रशंसा में उसने पत्र लिखे। दिदरो को अपने पुत्र का शिक्षक बनने के लिए आमन्त्रित किया। फ्रेंच भाषा को उसने भी अधिक महत्त्व दिया। परिवार के राजकुमारों को विदेशों में भेजकर पश्चिमी देशों की प्रगति से परिचित करवाया। विद्यालय और अकादमियाँ स्थापित हुईं। कवियों और कलाकारों को राज्य का संरक्षण दिया गया। दूसरे देशों से भी विद्वान् और कलाकार बुलाये जाने लगे। रूसी साहित्य का भी विकास शुरू हुआ। इसमें वह स्वयं रुचि लेती थी। उसे स्वयं भी लिखने का शौक था।

प्रदर्शन उसकी नीति का विशेष अंग था। उसने नगरों का आधुनिकीकरण किया। दरबार में वर्साई जैसे नाच-तमाशे और उत्सव होने लगे। विदेशियों को खास तौर पर वह दिखाना चाहती थी कि रूस में भी सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में प्रगति हुई है। पश्चिमी देशों से कलाकृतियाँ मँगाकर महल और संग्रहालय सजाये गए। वह लेखकों को प्रोत्साहित करके अपनी प्रशस्ति में कविताएँ लिखवाती थी।

जनहित के भी कुछ कार्य हुए। कृषि में रुचि का युग था। लोग इंग्लैण्ड, विशेष रूप से वहाँ की वैज्ञानिक कृषि का अध्ययन करने भेजे जाते थे। निर्माण कार्य भी हुए लेकिन विशेषकर नगरों में। अस्पताल बनवाये गए। टीके का आविष्कार हो चुका था। उसने स्वयं चेचक का टीका लिया ताकि राज्य के दूसरे लोग अंधविश्वास छोड़कर टीका लगवायें। न्याय-व्यवस्था को थोड़ा उदार बनाया गया। कठोर सजाएँ कम हुईं। उत्पीड़न के लिए विशेष आज्ञा लेना अनिवार्य हो गया।

उसकी आन्तरिक नीति का एकमात्र आधार था निरंकुश शासन बनाए रखना। लेकिन वह प्रदर्शन में भी विश्वास रखती थी। इसलिए ऐसे भी कार्य करती थी जो पश्चिम में हो रहे थे। वास्तव में जनहित में उसकी कोई रुचि नहीं थी। सुधार उतने ही करती थी जिससे प्रजा प्रशस्ति भी करे और गुलाम भी बनी रहे। फ्रांस में जब क्रान्ति हुई तो वह डर गई और शासन के अन्तिम दिनों में उसका शासन और अधिक कट्टर हो गया।

विदेश नीति : एक बार कैथरिन ने कहा था, 'मैं निर्धन की तरह रूस आई थी। मुझे रूस ने धन-धान्य देकर सम्मानित किया। मैंने भी रूस को

आजोफ, यूक्रेन और क्रीमिया देकर ऋण से मुक्ति पा ली है।' यह सच था कि वह रूस में एक छोटी-सी रियासत से ब्याह कर आई थी। जारीना बनकर उसने असाधारण सम्मान प्राप्त किया था। इसी ऋण को रूस की सीमाओं के विस्तार द्वारा उसने चुका दिया था।

रूस के शक्तिशाली पड़ोसियों में पीटर ने स्वीडन को परास्त कर अपने रास्ते से हटा दिया था। अब पोलैण्ड और तुर्की बचे थे। वैसे भी बाल्टिक तक पहुँच कर रूस का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ था। उसे तो बारह महीने खुले रहने वाले कालासागर के बन्दरगाह चाहिए थे। इसी लक्ष्य की पूर्ति में कैथरिन ने अपनी सारी शक्ति और कूटनीति लगा दी।

रूस के प्रतिद्वन्द्वी पड़ोसियों का फ्रांस मित्र था। स्वीडन, पोलैण्ड और तुर्की तीनों ही फ्रांस की ओर आँख लगाए रहते थे। कैथरिन पश्चिमी देशों से सीधे लोहा लेने में हिचक रही थी। उसने कूटनीति का सहारा लिया। उसकी सबसे बड़ी जीत थी फ्रेडरिक से मित्रता। दोनों ही महत्त्वाकांक्षी थे और कई अर्थों में समान थे। इसलिए उनमें मित्रता से अधिक प्रतिद्वन्द्विता की सम्भावना थी। यह कैथरिन के हक में था कि फ्रेडरिक जीवन भर उसका मित्र बना रहा।

तुर्की से युद्ध : रूस के दक्षिणी विस्तार के मार्ग में तुर्की सबसे बड़ा अवरोध था। वह निरन्तर पतन की ओर अग्रसर था लेकिन पश्चिमी यूरोप में उसकी साख थी। फ्रांस उसका मददगार था। कैथरिन जानती थी कि तुर्क साम्राज्य के अधीन बालकन प्रायद्वीप में रहने वाले अधिकांश लोग ईसाई थे। उसने उनकी धार्मिक भावना को उभारा। रूस की सेनाएँ तेजी से क्रीमिया में घुसीं और उन्होंने आजोफ पर कब्जा कर लिया। सेनाएं डेन्यूब नदी तक बढ़ती चली गईं। डेन्यूब के उत्तर में स्थित वह क्षेत्र जिसे आज रूमानिया कहते हैं रूस के कब्जे में आ गया। अब आस्ट्रिया और प्रशा भी हस्तक्षेप के लिए तैयार हो गए। तुर्की किसी भी तरह तैयार नहीं था और मददगार फ्रांस की हालत स्वयं नाजुक थी। ऐसे में 1774 में **कुचुक-कैनार्जी** की सन्धि हो गई। इस सन्धि द्वारा कालासागर का उत्तरी तट रूस को मिल गया। पश्चिमी तट तुर्की को वापस दे दिया गया। कालासागर में रूसी जहाजों को यातायात की स्वतन्त्रता मिल गई। वे अब तुर्क बन्दरगाहों का भी इस्तेमाल कर सकते थे। रूस की सबसे बड़ी उपलब्धि थी तुर्की साम्राज्य के ईसाइयों का संरक्षक मान लिया जाना। तुर्की में स्थित कई गिरजाघरों की निगरानी का उत्तरदायित्व रूस को मिल गया। जेरूसलम जो यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों तीनों का पवित्र तीर्थ स्थान है अब रूसी ईसाइयों के लिए खोल दिया गया। यह तुर्की के लिए बहुत घातक साबित हुआ क्योंकि बाद में ईसाइयों का पक्ष लेने के बहाने रूस ने कई बार तुर्की में हस्तक्षेप किया।

कुछ ही दिनों बाद 'कैथरिन जोसेफ से सन्धि करके आस्ट्रियाई हस्तक्षेप की ओर से निश्चिन्त हो गई। उसने जोसेफ के साथ ही कालासागर क्षेत्र का दौरा किया और बाल्कन विजय की योजनाएँ बनाने लगी।

कमजोर तुर्क बराबर आशंकित रहने लगे थे। उन्हें कैथरिन की योजनाओं का पूर्वाभास हो गया। उन्होंने स्वयं रूस से युद्ध मोल ले लिया। लेकिन यह तो मुसीबत को निमन्त्रण देना था। तुर्की फिर पराजित हुआ और पहली सन्धि के पूरक स्वरूप एक और सन्धि द्वारा नीस्टर नदी को रूस और तुर्की के बीच की सीमा मान लिया गया। यदि इंग्लैण्ड और प्रशा ने, जो कैथरिन के बढ़ते प्रभाव से चिन्तित थे, हस्तक्षेप न किया होता तो कैथरिन पूरा बाल्कन प्रायद्वीप जीत कर अपने वंश का दूसरा राज्य स्थापित करने का लक्ष्य पूरा कर लेती। फिर भी इतना तो हो ही गया कि कालासागर क्षेत्र में रूस का प्रभाव बढ़ गया और उसे भूमध्यसागर की ओर से दुनिया तक पहुँचने का एक और 'द्वार' मिल गया। पीटर ने रूस को उत्तरी यूरोप में सर्वोपरि बना दिया था। अब वह पूरब की महान् शक्ति कहलाने लगा। पूरे बाल्कन प्रायद्वीप का ईसाई बहुल प्रदेश रूस को अपना संरक्षक मानने लगा। तुर्की के पतन का अन्तिम अध्याय शुरू हो गया। दक्षिणी-पूर्वी यूरोप में शक्ति का शून्य पैदा होने लगा। यह प्रश्न पूर्वी समस्या (Eastern Question) यूरोपीय राजनीति की जटिलतम समस्या बन गया जिससे सबसे अधिक लाभ रूस ने उठाया।

पौलैण्ड का विभाजन : पहले भी उल्लेख हो चुका है कि पोलैण्ड तीन महत्त्वाकांक्षी शासकों कैथरिन, मारिया और फ्रेडरिक से घिरा हुआ एक असंगठित राज्य था। आपस में इनके हित टकराते थे। लेकिन लूट का माल बाँटने की स्थिति में इन्होंने अद्भुत सहमति दिखाई।

पोलैण्ड एक समृद्ध खेतिहर देश था। सत्रहवीं शताब्दी में वहाँ एक संगठित और शक्तिशाली राज्य था। तुर्कों ने जब वियेना पर घेरा डाला था तो पोलैण्ड के शासक सोव्यस्की ने मदद न पहुँचाई होती तो जर्मनी का नक्शा कुछ और ही होता। लेकिन पोलैण्ड की आन्तरिक कमजोरियाँ उसे ले डूबीं। वहाँ निर्वाचित राजतन्त्र की परम्परा थी। चुनाव से भ्रष्टाचार कैसे पनपता है यह सर्वज्ञात है। सामन्त लोग निरन्तर दाँव-पेंच में रत रहते थे। राजा की कोई शक्ति ही नहीं होती थी। मन्त्री लोग सामन्ती संसद् के प्रति उत्तरदायी होते थे। फिर वे राजा की परवाह क्यों करते? पोलैण्ड में एक विचित्र परम्परा थी। दुनिया के इतिहास में शायद ही किसी संसद् के सदस्यों को ऐसे विशेषाधिकार (Liberum Veto) प्राप्त हों। एक भी व्यक्ति की असहमति पर कोई प्रस्ताव गिर सकता था। परिणाम स्पष्ट था। कोई भी कानून बन ही

नहीं पाता था क्योंकि राजनैतिक क्षेत्र में सर्वसम्मति असम्भव-सी चीज होती है। इसलिए अराजकता बढ़ती जा रही थी।

सामन्ती समाज में न धार्मिक एकता थी न भाषागत। बहुमत कैथोलिक और पोलिश भाषी था फिर भी राष्ट्रीयता की भावना पनप नहीं पाई थी। न शासन था, न भावना। ऐसे में पोलैण्ड एक परम्परागत सीमा में बँधा छोटी-छोटी रियासतों और ईर्ष्यालु व्यक्तियों का समूह मात्र था। पोलैण्ड का अपना कोई जैसे अस्तित्व ही न हो। 1764 में कैथरिन और फ्रेडरिक ने मिल कर कैथरिन के कृपापात्र **स्टैनिसलास** को पोलैण्ड का राजा बनाया था। फ्रांस और आस्ट्रिया विरोध करके भी कुछ नहीं कर पाये थे। यह एक विस्फोटक स्थिति थी। अन्दर-अन्दर गुट बनने लगे। उनका स्वरूप धार्मिक था, कैथोलिक लोग एक ओर, अन्य लोग दूसरी ओर। लेकिन इस गुटबन्दी में व्यक्तिगत स्वार्थ और राजनीति भी घुस गई थी। यह स्पष्ट था कि एक वर्ग विदेशी हस्तक्षेप से बहुत क्षुब्ध था। अन्त में गृहयुद्ध छिड़ गया। कैथोलिक लोगों ने फ्रांस से सहायता माँगी। लेकिन इसके पहले ही दूसरे पक्ष की ओर से कैथरिन, फ्रेडरिक और मारिया ने मिलकर हस्तक्षेप किया। कैथरिन तुर्कों के विरुद्ध युद्ध में व्यस्त थी। लेकिन उसने फ्रेडरिक को अधिक फायदा नहीं उठाने दिया। 1772 में जब पहला विभाजन हुआ तो ड्यूना और नीपर नदियों के पूरब का सारा क्षेत्र रूस ने ले लिया। डैन्जिग के बाद बन्दरगाह के अतिरिक्त सारा पश्चिमी प्रदेश फ्रेडरिक को मिला और क्राको नगर को छोड़कर सारा गैलीशिया आस्ट्रिया के हिस्से में आ गया। पोलैण्ड का एक चौथाई क्षेत्रफल और जनसंख्या का पाँचवाँ भाग दूसरों के कब्जे में चला गया।

पोलैण्ड के सामन्तों की अब आँखें खुलीं। उन्होंने आपसी झगड़े भुलाकर देश को ठीक करने की कोशिश की। लेकिन विदेशी षड्यन्त्र की नींव पड़ चुकी थी। कैथरिन तो पोलैण्ड पर घात लगाये बैठी थी। पोलैण्ड की स्थिति सुधरे, इसके लिए वह तैयार नहीं थी। इस बीच फ्रेडरिक और मारिया थेरेसा का देहान्त हो गया। उनके उत्तराधिकारी कम लालची नहीं थे। फिर भी कैथरिन अब अपेक्षया स्वतन्त्र थी। जब फ्रांस की क्रान्ति हुई तो सारे यूरोप की आँख फ्रांस पर लग गई। कुछ ही दिनों में क्रान्ति समर्थकों और फ्रांस के राजतन्त्र के समर्थक अन्य देशों में युद्ध छिड़ गया। सारा पश्चिमी यूरोप उसी में लिप्त था। कैथरिन ने मौके से फायदा उठाया और 1793 में पोलैण्ड का दूसरा विभाजन कर डाला। आस्ट्रिया पूरी तरह पश्चिम में व्यस्त था इसलिए उसे भागीदार भी नहीं बनाया गया। प्रशा को डैन्जिग और पोजेन जैसे नगर देकर कैथरिन ने पूरा पूर्वी पोलैण्ड हड़प लिया। आस्ट्रिया में इस विश्वासघात से

बहुत असन्तोष फैला। लेकिन लूट में जिसने फायदा उठा लिया, उठा लिया।

पोलैण्ड की जनता का आक्रोश बढ़ने लगा। कोशिउस्को के नेतृत्व में एक प्रकार का जन-विद्रोह शुरू हो गया। कैथरिन ने इस बार आस्ट्रिया और प्रशा को पूरी तरह शामिल कर लिया और बड़ी क्रूरता के साथ पोलिश विद्रोह का दमन कर दिया गया। तीसरे विभाजन (1795) में आस्ट्रिया को विश्चुला नदी की घाटी का दक्षिणी भाग और प्रशा को उत्तरी भाग मिल गया। बचा पोलैण्ड रूस की सीमाओं में विलीन हो गया।

अब यूरोप के नक्शे पर पोलैण्ड नाम के देश का अस्तित्व मिट चुका था। पोल जनता विभिन्न राज्यों में विभाजित थी। प्रशा का राजनीतिक एकीकरण पूरा हो गया। रूस अब पूरी तरह पश्चिमी यूरोप के करीब आ गया। आस्ट्रिया को लाभ तो हुआ लेकिन वह सिर दर्द बन गया। उसे पूर्व के इस क्षेत्र के झगड़ों में बराबर उलझा रहना पड़ा। पोलैण्ड की जनता कहीं भी रही, विदेशी की तरह। एक के बाद दूसरी पीढ़ी अपनी पितृभूमि की याद संजोये अपनी सीमाओं में संघर्ष करती रही। प्रथम महायुद्ध के बाद जब वर्साई की सन्धि हुई तो अमेरिका के राष्ट्रपति **विल्सन** की सहानुभूति से एक सौ पच्चीस वर्षों बाद एक बार फिर पोलैण्ड का प्रादुर्भाव हुआ। आज पोलैण्ड पूर्वी यूरोप का एक उन्नत देश है।

कैथरिन का मूल्यांकन : पोलैण्ड को कैथरिन पचा नहीं सकी। साल भर बाद ही उसकी मृत्यु हो गई। उसे उसके देश के सामन्तों ने 'महान्' कहकर विभूषित किया था। महानता के गुणों से वह भले ही सम्पन्न न रही हो, उसने अपने देश को स्थायी महानता प्रदान की। यह कहना उचित ही है कि पीटर ने रूस को यूरोपीय शक्ति बनाया था, कैथरिन ने उसे 'महाशक्ति' बना दिया। (Peter made Russia a European power, Catherine made her a great power).

पीटर ने रूस को यूरोपीय बनाने की कोशिश की थी। लेकिन वह स्वयं पूरी तरह पश्चिमी यूरोप की सभ्यता में दीक्षित नहीं हो सका था। कैथरिन तो स्वयं पश्चिम यूरोपीय थी। इसलिए उसके लिए यह कार्य सहज था। प्रारम्भ में जब उसका घर रूस हो गया तो उसने रूस के अनुकूल बनने की कोशिश की थी। लेकिन जैसे ही उसके हाथ में सत्ता आई वह पूरी तरह से रूस को एक यूरोपीय राज्य बनाने में संलग्न हो गई। गद्दी पर बैठने के कुछ ही दिनों बाद उसने घोषणा की थी : 'रूस एक यूरोपीय राज्य है' (Russia is a European State) और इस घोषणा को चरितार्थ करने में उसने कोई कसर नहीं उठा छोड़ी।

अपना लक्ष्य निर्धारित करने के बाद वह कोई साधन इस्तेमाल कर लेती

थी। उसका व्यक्तिगत जीवन घोर अनैतिक था। हत्या, उत्पीड़न, षड्यन्त्र से वह घिरी रहती थी, लेकिन वह रूस की जनता को समझती थी। इंग्लैण्ड की एलिजाबेथ की तरह वह राष्ट्रीय मनोकामना पूरी करने के लिए सारे देश का सहयोग प्राप्त कर लेती थी। इस तरह वह उनके हित की सतही बातें करके भी लोकप्रिय बनी रही।

उसने रूस का आर्थिक आधार मजबूत करने के लिए कोई विशेष कार्य नहीं किया। जनहित के कार्य भी केवल बड़े नगरों में हुए। उसके ज्यादातर कार्य प्रदर्शन के लिए होते थे। शिक्षा के क्षेत्र में उसने कभी सर्वसाधारण की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं किया। नगरों में जो प्रबन्ध था भी वह दिखावे के लिए था। एक बार उसने मास्को के गवर्नर से कहा था : 'मैं स्कूल रूस के लिए नहीं यूरोप के लिए खोलती हूँ ताकि वहाँ जनमत हमारे पक्ष में रहे। जिस दिन हमारे किसान प्रबुद्ध होना चाहेंगे उस दिन न तुम रहोगे न मैं।' (If I institute schools it is not for us—it is for Europe, where we must keep our position in public opinion. But the day when our peasants shall wish to become enlightened, both you and I will lose our places'). यह पाखण्ड और दूरदर्शिता दोनों का प्रमाण है। यूरोप में उसका सम्मान बना रहे इसके लिए वह कुछ भी कर सकती थी। लेकिन वह यह भी जानती थी कि एक प्रबुद्ध जनता तानाशाहों को बर्दाश्त नहीं करती। जब रूस की जनता वास्तव में जागरूक हुई तो रूस मे जारशाही का अन्त हो गया।

कैथरिन जन्मजात शासक थी। एक शासक के गुण उसमें कूट-कूट कर भरे हुए थे। जब आवश्यक हुआ तब उसने अपना रूसीकरण कर लिया और जब समय आया तो पूरे रूस का यूरोपीकरण करने में लग गई। यह सच है कि उसके सुधारों का प्रभाव नगरों तक सीमित रहा और अधिकांश रूसी जनता अपने पुराने ढर्रे पर चलती रही. लेकिन यह भी सच है कि उसने गरीब और बेहाल जनता को भी अपना प्रशंसक बनाये रखा। व्यक्तिगत जीवन और राजनीति को अलग रखने के कारण उसके दुश्चरित्र होने की बात से प्रशासन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। जहाँ तक होता था वह ठीक व्यवहार करती थी और लोगों को प्रभावित कर लेती थी। प्रबुद्ध होने का ढोंग करती थी, लेकिन साहित्य और कला में उसकी अभिरुचि के बारे में कोई सन्देह नहीं है।

उसका सबसे बड़ा गुण था समय की पहचान, और सबसे बड़ी उपलब्धि थी समय के अनुसार कूटनीति और युद्ध के सहारे रूस का विस्तार। रूस पीटर का ऋणी है लेकिन कैथरिन ने पीटर के कार्यों को पूरा न किया होता

तो इसमें सन्देह है कि रूस इतनी जल्दी महाशक्ति हो पाता। रही जनता के सुख और देश के हित की बात, तो इस कसौटी पर तो कम ही शासक खरे उतरेंगे। इसलिए हमें यही जानना चाहिए कि उसने अपनी नीतियों द्वारा रूस के तात्कालिक नहीं दूरगामी हितों की रक्षा की।

दसवाँ अध्याय

फ्रांस क्रान्ति के कगार पर

मरने के समय ही शायद व्यक्ति के सामने इतिहास जीवन्त होकर खड़ा होता है। उस समय व्यक्ति को अपने किये-कराये की याद आती है और वह अपनी कमजोरियों के प्रति जागरूक हो जाता है। तब तक देर हो चुकी होती है। उत्तराधिकारी, दी गई सलाह को जीवन-भर भूला रहता है। मरते वक्त ही उसे भी याद आती है और वह भी अपनी सलाह छोड़कर कूच कर जाता है। यह बात सामान्यतया तो सच है ही, बूर्बों वंश के बारे में विशेष रूप से लागू होती है। इस वंश के शासकों के बारे में कहा गया है कि उन्होंने न कभी कुछ सीखा न कुछ भूले (They never forgot anything—they never learnt anything).

इतिहास उनके सामने रहता बराबर था लेकिन उन्होंने उससे कभी कोई सीख नहीं ली।

लूई चतुर्दश ने मरते वक्त अपने उत्तराधिकारी को 'जनहित के कार्य करने, युद्ध न करने और सही सलाहकार रखने' की राय दी थी। लूई पंचदश ने इनमें से कोई कार्य नहीं किया। जनहित का उसे कभी ध्यान नहीं रहा। सारा जीवन वर्साई में केन्द्रित होता गया। युद्ध उसने जीवन-भर लड़े। उसके सलाहकारों में एक भी ऐसा नहीं था जो सल्ली, रिशलिउ या कोल्बेर का मुकाबला करता।

फ्रांस को और जर्जर करने के बाद मरते समय उसने भी अपने उत्तराधिकारी को वही सब करने की सलाह दी जो वह स्वयं नहीं कर सका था। लूई षोडश ने भी कोई सलाह नहीं मानी और क्रान्ति-काल में अपनी जान खो बैठा।

क्रान्ति जब एक घटना के रूप में घटती है तो आकस्मिक अवश्य लगती है, लेकिन उसके बीज वर्षों से पनपते रहते हैं। एक लम्बी तैयारी के बिना विद्रोह हो जाय, क्रान्ति हो ही नहीं सकती। फ्रांस की क्रान्ति के बीज उसी

समाज में बिखरे हुए थे जो सैकड़ों वर्षों से भ्रष्ट और खोखला होता जा रहा था। क्रान्ति के पहले वे इस व्यवस्था को पुरातन व्यवस्था (Ancien-Regime) कहते हैं। इस आँशिआँ रेजीम का अध्ययन करने पर ही स्पष्ट हो सकेगा कि कैसे धीरे-धीरे फ्रांस क्रान्ति के कगार पर आ खड़ा हुआ।

फ्रांस की पुरातन व्यवस्था

राजनैतिक दशा : जब लूई गद्दी पर बैठा था तो उसे जनता ने परमप्रिय लूई (Bien aime Louis) कहकर सम्बोधित किया था। लेकिन उसने फ्रांस का वास्तविक हित कभी नहीं समझा। इसलिए जब वह मरा तो उसकी प्रजा ने खुशियाँ मनाईं। वह चापलूसों और रखैलों से घिरा हुआ उन्हीं की सलाह पर शासन करता था। सामर्थ्य न होते हुए भी उसने आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के और सप्तवर्षीय युद्धों में हिस्सा लिया। फ्रांस की आर्थिक स्थिति डाँवाडोल होती गई। लोगों में चेतना बढ़ती गई। मरने से पहले उसे भी एहसास हो गया कि स्थिति नाजुक है। उसने कहा भी कि 'मेरे बाद प्रलय होगी' (After me the deluge)।

प्रलय आने में पन्द्रह साल और लग गए। लूई षोडश एक सम्भ्रान्त और सदाशय शासक था लेकिन संकट काल के लिए सर्वथा अनुपयुक्त था। वह कोई भी निर्णय लेने में अक्षम था। वर्साई के महलों में एक गृहस्थ की जिन्दगी जीता हुआ वह फ्रांस की समस्याओं से सर्वथा अनभिज्ञ था। उसकी आस्ट्रियन पत्नी मारी आँतुआनेत ने फ्रांस के अनुकूल बनने का कोई प्रयास नहीं किया था। वह निरन्तर षड्यन्त्र करती, राजनीति में हस्तक्षेप करती रहती थी। अपनी माँ और भाई की भी सलाह उसने नहीं मानी। वह राजनीति में हस्तक्षेप करती तो थी लेकिन जनता से इतनी दूर थी, उनकी हालत से इतनी अनभिज्ञ थी कि कहती थी कि 'रोटी नहीं मिलती तो वे केक क्यों नहीं खाते।' (If Bread is not available why don't they eat Cakes).

(लूई चतुर्दश ने जिस निरंकुश तन्त्र की स्थापना की थी वह एक ही व्यक्ति की योग्यता पर निर्भर था। लेकिन हर राजा तो नहीं कह सकता था : 'मैं राज्य हूँ।' विशेष रूप से उसके अयोग्य उत्तराधिकारी तो इस भार को उठाने में सर्वथा असमर्थ थे। वे उत्तरदायित्व बाँटें भी तो किससे। रिशलिउ और कोल्बेर जैसे मन्त्री उपलब्ध नहीं थे। सामन्त अकर्मण्य बनाये जा चुके थे। मध्यमवर्ग को मान्यता मिली नहीं थी जिसकी वह आकांक्षा रखता था। राजनैतिक संस्थाएँ थीं नहीं, स्टेट्स जनरल का सैकड़ों वर्षों में एक बार भी अधिवेशन नहीं हुआ था। स्थानीय स्वतन्त्रता बची नहीं थी। ऐसे में कौन संभालता शासन-सूत्र ?)

प्रान्तीय और स्थानीय प्रशासकों पर नियन्त्रण ढीली पड़ गया था, इसलिए भ्रष्टाचार बढ रहा था। सारा देश तरह-तरह की इकाइयों में बँटा हुआ था। न कानून की एकरूपता थी न प्रशासन की। शासन कैसे चल रहा था इसे समझना आसान नहीं था। स्वार्थ और ईर्ष्या के कारण जो नियम थे भी उनका मनमाना इस्तेमाल होता था। पद खरीदे जाते थे। एक प्रकार के वारण्ट (Lettre de cachet) की परम्परा थी जिसके आधार पर किसी को गिरफ्तार किया जा सकता था और बिना मुकदमा चलाये जेल में रखा जा सकता था।

जिन मन्त्रियों ने शासन को संभालने की कोशिश की, जैसे तूर्गो और नेकर, उन्हें दरबारी षड्यन्त्र ने पदच्युत कर दिया। राजा अयोग्य, शासन तंग, भ्रष्ट और जर्जर, कर्मचारी लालची और ईर्ष्यालु, शासन के समर्थक व्यक्तियों और वर्गों का अभाव। ऐसे में एक निरंकुश तन्त्र चल नहीं सकता था केवल उत्पीड़क बन सकता था। क्रान्ति के पहले का फ्रांस ऐसा ही था।

सामाजिक स्थिति : सारा समाज तीन भागों में बँटा हुआ था। पादरी वर्ग का प्रभाव राजधानी से लेकर छोटे-छोटे गाँवों तक था। फ्रांस की कैथोलिक बहुल जनता का जीवन उनके बिना चल ही नहीं सकता था। इनमें भी कुछ बहुत प्रतिष्ठित और धनी पादरी थे और दूसरे साधारण पादरी। धन हो तो पद और प्रतिष्ठा खरीदी जा सकती थी इसलिए छोटे पादरियों का भी प्रभाव नहीं था।

इसी प्रकार दूसरा वर्ग सामन्तों का था। इनके पास फ्रांस की अधिकांश जमीन थी। रिशलिउ और माजारैं ने इन्हें पंगु कर दिया था। तब से इनमें से सम्पन्न लोग वर्साई की शोभा बढ़ाते थे। नीचे के सामन्त कहलाने को तो कुलीन थे लेकिन आर्थिक दृष्टि से विपन्न थे।

पादरी और सामन्त विशेषाधिकार सम्पन्न थे। विशेषाधिकारों का स्रोत मध्ययुग में मिलता है। उस समय समाज का एक निश्चित कार्य करने के कारण इन्हें कुछ अधिकार दे दिये गए थे। अब उनकी कोई उपयोगिता नहीं थी फिर भी उन्हें कोई छीन नहीं सका था। इसी से समाज में कुलीनता का सबसे अधिक महत्त्व था। परम्पराओं के बल पर निकम्मे, मूर्ख और लालची लोग अपना स्थान बनाए हुए थे जब कि मध्यमवर्ग अपनी योग्यता, क्षमता, महत्त्वाकांक्षा और राजभक्ति के बाद भी वह स्थान नहीं प्राप्त कर सकता था।

तृतीय वर्ग ऐसे लोगों का था जो न पादरी थे न सामन्त अर्थात् समाज का बहुमत। इसमें किसान, मजदूर, नौकरी पेशावाले लोग, वकील, पत्रकार सभी शामिल थे। सब की अलग-अलग समस्याएँ थीं लेकिन ये सब एक बात

में जुड़ते थे, इन्हें सामाजिक समानता नहीं प्राप्त थी। सार्वजनिक स्थानों से लेकर व्यक्तिगत जीवन तक इन्हें अपनी हेयता का आभास रहता था।

इस तरह समाज में बहुत तनाव था। छोटे बड़े पादरी में, छोटे बड़े सामन्त में और फिर कुलीनों के विरुद्ध सामान्य मध्यवर्गीय लोगों में असन्तोष था कि जो दूसरे को सामाजिक स्तर पर प्राप्त है वह उसे क्यों नहीं प्राप्त है। यह सामाजिक असन्तोष तभी से स्पष्ट और मुखर होने लगा था जब से समाज में चेतना आई थी। आर्थिक विषमता और शोषण ने इसे और बल दिया था। ज्यों-ज्यों विचारकों का प्रभाव बढ़ रहा था लोग यथास्थिति से असन्तुष्ट होते जा रहे थे और परिवर्तन की इच्छा बढ़ रही थी।

आर्थिक व्यवस्था : किसी देश की आर्थिक व्यवस्था को वहाँ की कृषि, उद्योग, व्यवसाय, कर-व्यवस्था आदि के सहारे समझा जाता है। राजकोष की आमदनी का स्रोत कर होते हैं। फ्रांस में विशेषाधिकारों की परम्परा ने समाज के सबसे सम्पन्न लोगों को कर मुक्त कर रखा था। करीब तीन लाख सामन्तों और पादरियों के बीच समाज की अधिकांश सम्पत्ति बँटी हुई थी। सामन्त लोग प्रत्यक्ष कर (Taille) से मुक्त थे लेकिन ये स्वयं किसानों पर कर लगा सकते थे। जहाँ चाहे शिकार खेल सकते थे। किसानों के इस्तेमाल के लिए इनके यहाँ 'तंदूर', बूचड़खाना और शराब की मिलें होती थीं जिन्हें इस्तेमाल करने पर किसान कर देता था। नमक तक पर कर (Gabelle) लगता था। इसी प्रकार पादरी भी सामान्य कर नहीं देता था। उल्टे वह स्वयं धर्म कर (Tithe) वसूलता था। शिक्षा और समाचार पत्रों पर उसका नियन्त्रण था।

किसान अपनी आमदनी का अस्सी प्रतिशत राजकोष, सामन्तों और चर्च को कर देने में खो देता था। इसके बाद भी भ्रष्ट राजकर्मचारियों की मुट्ठी को गर्म करना पड़ता था। साथ ही कई बार कई तरह के उपहार देने पड़त थे। निश्चित था कि उत्पादन बढ़ाने की उनके पास कोई प्रेरणा नहीं थी। खड़ा खेत सामन्तों के कबूतर चुग लेते थे या उधर से सामन्त का शिकारी दल गुजर जाता था तो उन्हें सड़कों पर बेगार (Corvee) करना पड़ता था। अविवाहितों को सेना में भर्ती होना पड़ता था। इन सब के ऊपर था कर का बोझ। इसे भी वह शायद वहन कर लेता लेकिन उसे यह एहसास था कि सम्पन्न राज्य को कुछ भी नहीं दे रहा है और सारे लाभ उठा रहा है। दूसरी ओर किसान सब कुछ दे रहा है और बदले में उसे कुछ भी नहीं मिल रहा। इस स्थिति में उसका असन्तोष यदि बढ़े तो स्वाभाविक ही था।

राज्य की समृद्धि का वास्तविक आधार कृषि और उद्योग ही होते हैं। इन दोनों ही क्षेत्रों में कभी स्थिर और स्थायी नीति नहीं अपनाई गई।

सल्ली और कोल्बेर के सुधार स्थायी नहीं साबित हुए। उद्योग अधिकतर धार्मिक वर्ग की आवश्यकताओं तक सीमित थे। निर्यात नीति फ्रांस में कभी दूरदर्शिता के आधार पर नहीं बनाई गई। इंग्लैण्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में फ्रांस को बराबर चुनौती दी। आन्तरिक व्यापार भी विभिन्न प्रतिबन्धों और चुँगी कर के कारण अवरुद्ध रहता था। यूगनो लोगों के पलायन से पटु लोगों का अभाव हो गया था। कुल मिलाकर फ्रांस का उत्पादन अन्य देशों के मुकाबले में खराब नहीं था लेकिन जितना हो सकता था उतना नहीं होता था।

वर्साई की भव्यता और शान शौकत के मुकाबले में साधारण जनता गरीबी की हालत में रहती थी। शोषण और गैर जिम्मेदारी पर आधारित वर्साई के वैभवशाली शासक और प्रशासक जनता से बिल्कुल कटे हुए थे। उनके लिए जनता कामधेनु थी, जब जो चाहा वसूल लिया। युद्धों का क्रम समाप्त ही नहीं होता था। वैदेशिक नीति राष्ट्रहित में नहीं, शासकों की सनक से संचालित होती थी। जब अमेरिका का स्वतन्त्रता-संग्राम अंग्रेजों के विरुद्ध शुरू हुआ तो दुश्मन के दुश्मन की मदद करने के लिए फ्रांस ने अमेरिका की भरपूर मदद की। इससे आर्थिक दबाव और बढ़ा।

करदाताओं की एक सीमा होती है। जब वहां से वसूली बढ़ने की सम्भावना नहीं रही, धनिकों पर कर लगाने की दृढ़ नीति लागू नहीं की जा सकी और राज्य के खर्चे पूरे नहीं पड़े तो स्थिति डाँवाडोल हो गई। फ्रांस में 'आमदनी के आधार पर खर्चों का निर्धारण' करने के स्थान पर खर्चे के अनुसार आमदनी का तरीका ढूँढ़ा जाता था। ऐसे में राज्य ऋण लेने पर मजबूर था। राज्य का जनता से ऋण लेना असाधारण बात नहीं है लेकिन ऋण तभी तक मिलता है जब तक राज्य की उधार चुकाने की शक्ति पर विश्वास बना रहता है। फ्रांस में ऋण हद से अधिक बढ़ गए थे और उनके वापस मिलने की आशा नहीं बची थी। धीरे-धीरे राज्य दिवालिया हो रहा था। राज्य का दिवालिया होना संकट की सीमा होती है।

पुरातन व्यवस्था की स्थिति यूरोप में अन्य देशों की अपेक्षा बेहतर थी। इतिहासकार तोक्विल (Tocqueville) का मत है कि फ्रांस के लोगों ने इसलिए क्रान्ति नहीं की कि वे भूखे थे। ऐसा उन्होंने इसलिए किया कि उनका पेट भरा था और वे जागरूकता के कारण स्थिति को समझ सकते थे।

बौद्धिक क्रान्ति

किसी भी सामाजिक परिवर्तन की पृष्ठभूमि यदि वैचारिक धरातल पर नहीं बनती, जब तक समाज का कम से कम एक वर्ग परिवर्तन के लिए तैयार नहीं हो जाता, छुटपुट सुधार भले ही हो लें, एक-दो विद्रोह भी हो जायं

लेकिन मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकते। क्रान्ति पहले विचारों में होती है तब वह घटना का रूप धारण करती है।

फ्रांस की स्थितियों का विश्लेषण करके, कुछ संस्थाओं की निरर्थकता दिखाकर उन पर व्यंग्य करने वाले लोग फ्रांस में पैदा हो रहे थे। यथास्थिति से असन्तोष बढ़ गया था। अब परिवर्तन की बात सोची जाने लगी थी। उस परिवर्तन की रूपरेखा स्पष्ट नहीं थी, न ही उसे करने का कोई निश्चित कार्यक्रम था। लेकिन यह अवश्य हुआ कि कुछ लेखकों ने मिलकर ऐसी मानसिकता तो बना ही दी कि फ्रांस में जो है वह अपर्याप्त या त्रुटिपूर्ण है। उसमें सुधार होना चाहिए और वह हो सकता है। ऐसा वातावरण तैयार करने का श्रेय कुछ व्यक्तियों और कुछ आन्दोलनों को है। उनका संक्षिप्त अध्ययन करने से ही बात स्पष्ट हो सकेगी।

वोल्तेयर : इतिहास के विद्यार्थी के लिए वोल्तेयर का बहुत महत्त्व है। आधुनिक काल में उसने सबसे पहले इतिहास की समग्रता और सांस्कृतिक पहलुओं की महत्ता पर उचित बल दिया था। इतिहासकार होने के साथ ही वह एक बहुत अच्छा साहित्यकार भी था। उसने अपनी पुस्तकों में तत्कालीन भ्रष्ट तन्त्र पर बहुत जहरीला प्रहार किया। वह इंग्लैण्ड से बहुत प्रभावित था और फ्रांस को उसके अनुकूल ले चलने की सलाह देता था। सामन्त हो, दरबार हो या चर्च, वह किसी को नहीं बख्शता था। कैथोलिक चर्च की भ्रष्टता उसके व्यंग्य का सबसे अधिक शिकार होती थी। वह कहा करता था, 'अब तो कोई ईसाई बचा ही नहीं क्योंकि एक ही ईसाई था और उसे सलीब पर चढ़ा दिया गया।' (There was only one christian and he died on the cross).

उसने कोई विकल्प नहीं सुझाया। उसने क्रान्ति की भी बात नहीं की। अधिक से अधिक उसने इंग्लैण्ड जैसे संवैधानिक राजतन्त्र की प्रशंसा की। लेकिन उसने लोगों के विवेक को उकसाया। तर्क की उपयोगिता बताई। उसने लोगों की तटस्थता और निर्लिप्तता तोड़ दी। लोगों के सामने एक आईना रखकर बताया कि दाग कहाँ लगा है। स्थिति अपरिवर्तनीय है, यह भ्रम उसने तोड़ दिया। उसने पुरातन व्यवस्था के सबसे शक्तिशाली आधारों पर भी प्रहार किया, बदले में उसे जेल भी जाना पड़ा लेकिन उसका साहस दुर्दम्य था। वह सबसे अधिक स्वतन्त्रता को महत्त्व देता था। वह कहता था, 'मैं जानता हूँ कि तुम जो कह रहे हो वह सही नहीं है। लेकिन तुम कह सको इस अधिकार की लड़ाई में मैं अपनी जान तक दे सकता हूँ।' इस प्रकार विचार-स्वातंत्र्य के लिए, जो उस समय के फ्रांस में सम्भव ही नहीं था, उसने पृष्ठभूमि बनाई। यद्यपि वह स्वयं एक सामन्त था, उसका संघर्ष मध्यमवर्ग के पक्ष में था।

इस तरह वोल्तेयर एक ऐसा क़लम का सिपाही था जिसने परिवर्तन की बात बड़े प्रभावशाली और साहसपूर्ण ढंग से की। यही उसका सबसे बड़ा योगदान है।

मोंतेस्किउ : इतिहास में मोंतेस्किउ को पहला राजनीति शास्त्री कहते हैं। उसने पहली बार राज्य तथा राजा और व्यक्ति के सम्बन्धों का विश्लेषण किया। उसने केवल आलोचना ही नहीं की बल्कि विकल्प भी सुझाए। वह भी इंग्लैण्ड से बहुत प्रभावित था। लेकिन उसने वोल्तेयर की तरह केवल प्रशंसा नहीं की। उसने विश्लेषण किया कि कैसे कोई राज्य दूसरे से बेहतर हो जाता है।

सबसे पहले काल्पनिक यात्रियों के पत्रों (फारस के खत) के माध्यम से उसने तत्कालीन समाज की आलोचना की। फिर उसने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'कानून का सार' (Spirit of Laws) में राज्य की सत्ता को समझाने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। इसमें मोंतेस्किउ सत्ता के तीन कार्य निर्धारित करता है: व्यवस्थापिका (कानून बनाना), कार्यपालिका (कानून लागू करना) तथा न्यायपालिका (कानून की परिभाषा करना)। यही उसका प्रख्यात 'शक्ति के विभाजन' (Separation of Powers) का सिद्धान्त है। उसके विचार से जब तक ये तीनों कार्य एक व्यक्ति या संस्था द्वारा सम्पन्न होंगे समाज में न्याय नहीं हो सकेगा। वह फ्रांस के शासन की प्रत्यक्ष आलोचना नहीं करता लेकिन चूँकि फ्रांस के एकतन्त्र में हर कार्य राजा ही करता था, मोंतेस्किउ की आलोचना व्यवस्था पर प्रहार थी।

उसकी बात इतनी सारगर्भित थी कि उसे क्रान्तिकारियों ने बाद में लागू किया। लेकिन उसके भी पहले अमेरिका का सविधान बनाते समय इस सिद्धान्त को ध्यान में रखा गया। इसीलिए आज भी अमेरिका में उपर्युक्त तीनों संस्थाएँ एक दूसरे से मुक्त हैं।

रूसो : रूसो एक रूमानी तबियत का लेखक और विचारक था। उसे परम्पराओं से कोई लगाव नहीं था। उसने प्रकृति और व्यक्ति की नैसर्गिक अच्छाइयों को सराहा। वह कहा करता था कि व्यक्ति ज्यों-ज्यों सम्पत्ति और संस्थाओं के बन्धन में बंधा है, कुटिल होता गया है। मनुष्य को अपना नैसर्गिक विकास करने का मौका मिलना चाहिए। अपनी पुस्तक 'एमिले' में उसने इसी आधार पर शिक्षा देने की बात की।

उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'सोशल काण्ट्रेक्ट' (Social Contract) थी। इसमें उसने स्थापित किया कि प्रारम्भिक मनुष्य 'प्रकृति की अवस्था' में रहता था। वह मासूम और गुणवान था। एक समझौते द्वारा राज्य का जन्म हुआ ताकि धनिकों की सम्पत्ति की रक्षा हो सके। उसने परम्परागत समझौते

में परिवर्तन करने की अनिवार्यता की बात की। उसके विचार से लोकेच्छा ही सार्वभौम होती है (General will is Sovereign will) लेकिन ऐसा हो नहीं पाता है क्योंकि 'व्यक्ति स्वतन्त्र पैदा होता है लेकिन हर जगह वह बन्धनों में बँधा रहता है' (Man is born free but everywhere he is in chains)। इन बन्धनों से मुक्ति का तरीका भी उसने सुझाया। उसने 'प्रकृति प्रेम' (Back to Nature) और नये समझौते की बात की।

उसके विचार ऐतिहासिक तथ्यों पर नहीं कल्पना पर आधारित थे। वह यथार्थ से दूर एवं कल्पना-लोक में रहता था। उसके विचारों की आलोचना भी हुई। कहा जाने लगा कि वह सारी प्रगति को नकार कर व्यक्ति को फिर जानवर बना देना चाहता है। वास्तविकता यह थी कि उसकी उर्वर कल्पना-शक्ति और सदाशयता ने एक और समाज की कल्पना की जो सद्‌गुणों पर आधारित हो। ऐसा कैसे होगा उसने कभी इसकी योजना नहीं प्रस्तुत की।

उसने क्रान्ति की भी बात नहीं की। लेकिन तत्कालीन संस्थाओं और व्यवस्थाओं को नकार कर उसने मार्गदर्शन किया। किसी एक व्यक्ति या संस्था में विश्वास न प्रकट करके उसने मानवमात्र में आस्था प्रकट की थी। सभी व्यक्तियों को उसने स्वतन्त्र और समान माना था। इसीलिए फ्रांस की क्रान्ति के नारे—समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व—उसी के विचारों से प्रेरित थे। क्रान्ति के समय उसी के विचारों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। एक क्रान्तिकारी रोब्सपियर तो Social Contract को बाइबिल की तरह पूजता था। इसीलिए रूसो के अस्पष्ट और अव्यावहारिक विचार प्रेरणा दे सकते थे लेकिन कार्यान्वित नहीं हो सकते थे।

विश्वकोश : फ्रांस में कुछ ऐसे लेखक भी थे जो तत्कालीन समस्याओं को स्वीकारते तो थे लेकिन उनका विवेक प्रश्न खड़े करता था। दिदरो ऐसे ही लोगों में से था। उसने अन्य सहयोगियों, जैसे दालाँबेर, की मदद से एक विश्वकोश (Encyclopaedia) संकलित किया। इसमें विभिन्न विषयों का आधिकारिक वर्णन और आलोचना प्रस्तुत की गई। दिदरो ने स्वयं सैकड़ों लेख लिखे। विज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र और राजनीति सम्बन्धी लेखों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया गया।

किसी परम्परा को इन लेखों में ज्यों का त्यों नहीं स्वीकारा गया। 'ज्ञानोदय' काल की यह एक प्रमुख उपलब्धि थी। दुनिया के इस पहले विश्व-कोश ने ज्ञान के भण्डार को एक जगह संकलित और उपलब्ध कर दिया। साथ ही नई परिभाषाएँ और विश्लेषण देकर रूढ़िवादी विश्वासों पर प्रहार किया। मनुष्य और उसके विवेक को प्रतिष्ठित किया गया। फ्रांस में इस पर

प्रतिबन्ध भी लगाये गए लेकिन यूरोप की सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। कैथरिन इसकी ग्राहक और प्रशंसक थी।

इस प्रकार विश्वकोश के लेखकों ने अभूतपूर्व कार्य किया। उन्होंने फ्रांस और बाद में यूरोप का दृष्टिकोण बहुत हद तक प्रभावित किया। विशेष रूप से मध्यमवर्ग के सम्पन्न लोगों को अपने प्रशिक्षण में इन पुस्तकों से बहुत मदद मिली।

अर्थशास्त्री (Physiocrats) : फ्रांस की आर्थिक व्यवस्था से असन्तोष तो था, लेकिन उसका विस्तार से विश्लेषण नहीं हुआ था। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में कुछ ऐसे विचारक हुए जिन्होंने धरती को एकमात्र उत्पादक तत्त्व बताया। धरती से ही सम्बन्धित कृषि, जंगल और खनिज पदार्थों को ही उत्पादन का साधन माना। ये ही धन के स्रोत माने गए। उन्होंने उद्योग और व्यवसाय को महत्त्व नहीं दिया। 'मरकैण्टिलिज्म' के विचारों के विरुद्ध उन्होंने राज्य के प्रतिबन्ध हटा कर उन्मुक्त व्यापार का सिद्धान्त (Laissez faire) प्रतिपादित किया।

इनका विचार था कि भूमि सम्बन्धी समस्याओं का समाधान हो जाय तो देश की अर्थव्यवस्था सुधर जायेगी। इन विचारकों में **केने** और **तूर्गो** जैसे लोग थे जो कर व्यवस्था का सरलीकरण राज्य का पहला कार्य मानते थे। इनके विचारों से अंग्रेज अर्थशास्त्री एडम स्मिथ प्रभावित हुआ था। इन विचारकों ने पहली बार आर्थिक विश्लेषण प्रस्तुत किया था। इन्होंने भी राज्य की अवरोधी जकड़ की निन्दा की थी। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी राज्य की आलोचना होने लगी थी। मध्यमवर्ग अपने अधिकारों के लिए हर क्षेत्र में लड़ रहा था। फिजिओक्रैट्स इसी प्रवृत्ति के परिचायक थे।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक ऐसा वातावरण बन गया था कि लोग, विशेषकर मध्यमवर्ग, यथास्थिति से क्षुब्ध होकर परिवर्तन के लिए सचेष्ट थे। पेरिस तो बहुत ही उद्वेलित था। वर्साई के राजधानी बन जाने से पेरिस के लोग अपने को अपमानित महसूस करते थे। वहाँ मध्यवर्गीय परिवारों की बैठकों में जम कर आलोचना-प्रत्यालोचना होती थी। इस प्रकार क्रान्ति की, परिवर्तन की पृष्ठभूमि बन चुकी थी। परिवर्तन की इसी उत्कण्ठा को घटनाओं के क्रम ने क्रान्तिकारी मोड़ दे दिया।

क्रान्ति

लूई षोडश स्वयं तो शासन के अयोग्य था ही, उसने योग्य मन्त्रियों की सलाह भी नहीं मानी। फ्रांस की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। उन स्थितियों से स्पष्ट है कि

असन्तोष हर क्षेत्र में व्याप्त था और लोग परिवर्तन के इच्छुक थे। लूई ने एक के बाद दूसरा मन्त्री बदला लेकिन किसी को पूरा अवसर नहीं दिया गया। उसके मन्त्रियों में **तुर्गो** और **नेकर** योग्य थे लेकिन दरबारी षड्यन्त्रों और लूई की अदूरदर्शिता के कारण वे बर्खास्त कर दिये गए।

अमेरिका के स्वतन्त्रता-संग्राम में फ्रांस ने अमेरिका की मदद की थी। उससे एक तो जर्जर अर्थव्यवस्था और लड़खड़ा गई दूसरे वहाँ से विजयी सैनिक जब लौटे तो उन्हें लगा कि दूसरों की वे स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ सकते हैं लेकिन अपने देश में परतन्त्र हैं। उन्होंने असन्तोष को नया आयाम दिया। इस बीच राज्य दिवालिया होता जा रहा था। मन्त्री हर सुधार करता था लेकिन करमुक्त विशेषाधिकार सम्पन्न लोगों पर कर लगाने का साहस नहीं कर सकता था। आमदनी का और कोई जरिया ही नहीं था। ऋण बढ़ते गए और दिवालियापन की स्थिति आ गई। मजबूरन लूई को फ्रांस के विशिष्ट लोगों (Notables) की सभा बुलानी पड़ी। इन विशिष्ट लोगों ने कोई विकल्प नहीं सुझाया। तत्कालीन फ्रांस की आर्थिक स्थिति सुधारने का एक-मात्र तरीका था उन लोगों पर कर लगाना, जो कर मुक्त थे, जो देश की अधिकांश जमीन और सम्पत्ति के मालिक थे। विशिष्ट लोगों की सभा अपने जैसे विशेषाधिकार सम्पन्न लोगों पर कर कैसे लगाती? उन्होंने टालने की नीति अपनाई। इस समय एक प्रस्ताव आया कि नये कर लगाने का अधिकार केवल देश की प्रतिनिधि सभा (स्टेट्स जनरल) को है। इस सभा का अधिवेशन पिछले एक सौ पचहत्तर वर्षों से नहीं हुआ था। लोग उसके स्वरूप के बारे में भूल चुके थे। सामन्तों और पादरियों ने सोचा कि स्टेट्स जनरल की सभा आसानी से बुलाई नहीं जा सकेगी और उन पर कर नहीं लग सकेगा। इस प्रकार यथास्थिति बनी रहेगी और वे मौज करते रहेंगे।

लूई के पास कोई और चारा नहीं था। उसने घोषणा कर दी कि स्टेट्स जनरल का चुनाव होगा। यह स्वयं में एक क्रान्तिकारी घोषणा थी क्योंकि लूई चतुर्दश के उत्तराधिकारी ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली थी। इस घोषणा से स्पष्ट हो गया था कि राजा अपनी सारी सत्ता के बावजूद संकट का निदान ढूँढ़ने में असमर्थ हो गया था।

सभा का अधिवेशन बुलाया गया। राजा से मतभेद होने के कारण उसने स्वयं को देश की संविधान सभा घोषित कर दिया। पेरिस की क्षुब्ध भीड़ ने 14 जुलाई 1789 को राजधानी के पास ही स्थित **बास्तीय** के किले पर हमला करके उसे तहस-नहस कर दिया। बास्तीय में राजनैतिक कैदी रखे जाते थे और वह देश में निरंकुशता का प्रतीक समझा जाता था। बास्तीय का पतन एकतन्त्र का पतन समझा गया। सारे यूरोप के स्वतन्त्रता-प्रेमियों ने हर्ष प्रकट

किया और फ्रांस की क्रान्ति का स्वागत किया। कुछ ही दिनों में संविधान सभा ने सारे विशेषाधिकारों का अन्त कर दिया। एक संविधान बना जिसमें राजा के अधिकार सीमित कर दिये गए। एक संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई। यह सब असहाय राजा को बेमन से स्वीकारना पड़ा।

इस प्रकार सदियों की स्वेच्छाचारिता, असमानता और भ्रष्ट निरंकुशता के विरुद्ध स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा देने वाले मध्यमवर्ग की विजय हुई। फ्रांस की यह ऐतिहासिक क्रान्ति मानव के विकास-क्रम का एक और गौरवशाली कदम साबित हुआ।

●●●